भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष : पंचम अंक : प्रथम जुलाई, 1987

भारतीय आधुनिक शिक्षा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित भारतीय आधुनिक शिक्षा एक त्रैमासिक प्रकाशन है। इसका प्रकाशन जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर माह मे किया जाता है।

पत्रिका के कुछ प्रमुख स्तम्भ इस प्रकार है:

शैक्षिक अनुसंधान और शिक्षा में नए प्रयोग

शिक्षा दर्शन

शिक्षा मनोविज्ञान

वर्तमान शिक्षा की समस्याएं

पाठ्यक्रम एवं प्राविधि संबंधी नवीन विकास

अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा जगत

राष्ट्रीय शैक्षिक प्रगति

विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति

शिक्षा-शास्त्रियों से भेंट वार्ता

नवाचार

पुस्तक समीक्षा

लेखकों से निवेदन

भारतीय आधुनिक शिक्षा के लिए शिक्षा-शास्त्रियो, शोध-छात्रो, प्राध्यापको, शिक्षकों एव शिक्षा के क्षेत्र मे चिन्तनरत व्यक्तियो की रचनाए देवनागरी लिपि मे आमंत्रित है।

सुविधा के लिए कृपया डबल स्पेस मे टाईप की हुई अथवा सुन्दर अक्षरो मे लिखी हुई रचना की दो प्रतिया भिजवाए। रचना के अन्त में रचनाकार के हस्ताक्षर अवश्य हो।

रचना भेजते समय यह अवश्य सूचित करे कि प्रेषित रचना अप्रकाशित/अप्रसारित है।

प्रकाशित रचनाओं पर परिषद् के नियमानुसार समुचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

एक प्रति : 3 रुपये; वार्षिक मूल्य : 12 रुपये

सम्पादकीय सम्पर्क :

प्रधान सम्पादक, पत्रिका प्रकोष्ठ, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
नई दिल्ली 110016

प्रधान सम्पादक : प्रो० राजेन्द्रपाल सिंह

भारतीय आधुनिक शिक्षा

भारतीय आधुनिक शिक्षा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित **भारतीय आधुनिक शिक्षा** एक त्रैमासिक प्रकाशन है। इसका प्रकाशन **जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर** माह में किया जाता है।

पत्रिका के कुछ प्रमुख स्तम्भ इस प्रकार है :

शैक्षिक अनुसंधान और शिक्षा में नए प्रयोग

शिक्षा दर्शन

शिक्षा मनोविज्ञान

वर्तमान शिक्षा की समस्याएं

पाठ्यक्रम एवं प्राविधि संबंधी नवीन विकास

अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा जगत

राष्ट्रीय शैक्षिक प्रगति

विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति

शिक्षा-शास्त्रियों से भेंट वार्ता

नवाचार

पुस्तक समीक्षा

लेखकों से निवेदन

भारतीय आधुनिक शिक्षा के लिए शिक्षा-शास्त्रियों, शोध-छात्रो, प्राध्यापकों, शिक्षकों एव शिक्षा के क्षेत्र में चिन्तनरत व्यक्तियो की रचनाए देवनागरी लिपि मे आमन्त्रित हैं।

सुविधा के लिए कृपया
डबल स्पेस मे टाईप की हुई
अथवा सुन्दर अक्षरो मे
लिखी हुई रचना की
दो प्रतियाँ
भिजवाएं। रचना के अन्त मे
रचनाकार् के
हस्ताक्षर अवश्य हो।

रचना भेजते समय यह
अवश्य सूचित करें
कि प्रेषित रचना
अप्रकाशित/अप्रसारित है।

प्रकाशित रचनाओं पर
परिषद्
के नियमानुसार समुचित
पारिश्रमिक देने की
व्यवस्था है।

एक प्रति : 4 रुपये; वार्षिक मूल्य : 16 रुपये

सम्पादकीय सम्पर्क :

प्रधान सम्पादक, पत्रिका प्रकोष्ठ, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
नई दिल्ली 110016

प्रधान सम्पादक : प्रो० राजेन्द्रपाल सिंह

भारतीय आधुनिक शिक्षा

जुलाई 1987

अंक : प्रथम

वर्ष : पंचम

त्रैमासिक प्रकाशन

विषय-सूची

इस अंक के रचनाकार

☐ डा० देवेन्द्र जोशी : रीडर, अध्यापक प्रशिक्षण एवं अनौपचारिक शिक्षा विभाग जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025

☐ श्री रवीन्द्र कुमार : वरिष्ठ विशेष शिक्षक, सहन, नई दिल्ली-110067

☐ डा० राजेन्द्र सिंह : प्रवक्ता, एस० पी० कालेज आफ एजूकेशन, रिवाडी (हरियाणा)

☐ डा० सत्यपाल रुहेला : अध्यक्ष, अध्यापक, प्रशिक्षण एवं अनौपचारिक शिक्षा विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025

☐ जयपाल तरंग : जामिया मिलिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110025

☐ श्री आनन्द जैन : 18 ए, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

☐ डा० राजेन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव : रीडर, शिक्षा विभाग, जामिया मिलिया विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110025

☐ कुमारी इशरत : अध्यापक प्रशिक्षण एव अनौपचारिक शिक्षा विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025

☐ राजेश कुमारी : अध्यापक प्रशिक्षण एवं अनौपचारिक शिक्षा विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025

भारतीय आधुनिक शिक्षा

जुलाई 1987

इस अक में प्रयुक्त सभी फोटो परिषद् के अध्यापक शिक्षा, विशेष शिक्षा और विस्तार सेवाएं विभाग के सौजन्य से प्राप्त हुए।

प्रधान संपादक
प्रो० राजेन्द्रपाल सिंह

अकादमिक संपादक
द्वारका नाथ खोसला

संपादक गुरचरण लाल आनंद

सम्पादकीय सहायक : आभा दयाल

मुख्य उत्पादन अधिकारी : सी० एन० राव

उत्पादन अधिकारी : डी० साई प्रसाद

उत्पादन सहायक : प्रमोद रावत

सम्पादकीय

नई शिक्षा नीति और विकलांग बालक

हमे हर्ष है कि हम भारतीय आधुनिक शिक्षा का विकलांग विशेषांक निकाल रहे है। विकलाग बालक यदि अपने लिये एक समस्या है तो समाज भी उसकी चिन्ता किये बिना नहीं रह सकता। साधनहीन लोगो के लिए विकलांगता अभिशाप का रूप ले लेती है। इसलिये सरकार को इस क्षेत्र मे कुछ न कुछ करना पड़ता है। इसलिये नई शिक्षा नीति ने इसके अनेक रूपो तथा उपायो की चर्चा की है तथा अनेक ठोस सुझाव दिए है। वह दिन चले गए जब मंदबुद्धि बालक अथवा दृष्टिहीन व्यक्ति को गाव की जीवन-धारा में एक हास्यास्पद व्यक्तित्व मात्र का दर्जा दिया जाता था। आज शारीरिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान इस प्रकार की विकलागता को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और यदि समय पर सहायता दी जाये तो विकलांग बालक भी उद्यमी तथा स्वावलम्बी हो सकता है। यह बात सामाजिक चेतना से कही आगे की है। विकलांग बालक समाज की सहायता कर सकता है परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब उस बालक की सहायता समाज अपनी शैक्षिक तथा अन्य सस्थाओ के द्वारा करने को तैयार हो।

"विकलाग" कौन है तथा विकलांगता के कितने प्रकार हैं? मूक, बधिर, मन्दबुद्धि आदि यदि विकलाग है तो अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियों से पीड़ित भी विकलाग की कोटि मे ही आते है। कुछ प्रकार के विकलागो के विषय में हमें काफी जानकारी है परन्तु सभी के विषय में यह जानकारी नहीं है। मनोविज्ञान बताता है कि दृष्टिहीनता मन्द बुद्धि की परिचायक नही है। इसी

प्रकार बधिर या मूक व्यक्ति भी मन्द बुद्धि नही होता। सामान्य बालको के विषय मे भी हमे ज्ञान है कि किसी बालक को यदि भाषा मे गति है तो किसी को गणित मे। हर विषय मे समान गति यदि सामान्य बालक की नही होती तो विकलागो मे भी इसी प्रकार के भेद विद्यमान होते हैं।

ऐसा प्राय कहा जाता है कि यदि भारत सरकार सभी सामान्य बालकों को शिक्षा के अवसर प्रदान नहीं कर पाई तो विकलांगो के लिए इतनी चिन्ता दिखाने की क्या आवश्यकता है ? क्या सरकार इस दिशा मे वास्तव मे गम्भीर है ? यह बात केवल वही कह सकता है जिसमे सामाजिक दायित्व की कमी हो। विकलाग तो प्रकृति की दुहरी मार से पीडित है इसलिए उसकी चिन्ता करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। विकलागता समाज तथा वर्ग के भेद नहीं पहचानती। विकलाग बालक किसी भी घर में कभी भी हो सकता है। इसलिए वर्ग तथा आय का ध्यान करना इस सन्दर्भ में उचित नहीं होगा। और यह भी अनुचित है कि इस विशेष वर्ग के बालक के लिए सरकार विशेष प्रयत्न न करे।

क्या सामान्य छात्रो के बीच में विकलागो को पढाया जा सकता है ? अथवा, उनके लिए विशेष संस्थाओ की ही आवश्यकता है ? अनुसन्धानों के परिणाम बताते हैं कि सामान्य बालकों के साथ अनेक प्रकार के विकलांगो को रखा तथा पढाया जा सकता है। केवल अध्यापन विधियों तथा दृश्य-श्रव्य सामग्री मे ही कुछ परिवर्तन आवश्यक होगे।

इस विषय पर हम थोड़ी सी पठनीय सामग्री एकत्र कर पाए है जो आपके सामने है। इस सामग्री को एकत्र करने मे डा० जयपालसिंह तरग ने विशेष भूमिका निभाई है। हम अपनी सस्था की ओर से डा० तरग के विशेष आभारी हैं। उनके अथक प्रयत्नो से ही यह अंक निकल पा रहा है। आशा है पाठकगण भी उनके प्रयत्न को उतना ही सराहनीय मानेगे जितना कि हम।

राजेन्द्रपाल सिंह

समन्वित शिक्षा में अनुसंधान : कुछ विचार

डॉ० देवेन्द्र जोशी

अनुसंधान एक ऐसी मानवीय क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दिलचस्पी के तथ्यो के बारे में अधिक परिशुद्ध और अधिक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने प्राकृतिक अथवा सामाजिक पर्यावरण को अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप ढालता है, या अपने आप मे पर्यावरण की माग को पूरा करने के लिए परिष्कृत व्यवहारों का अधिग्रहण करता है। किसी समस्यात्मक स्थिति मे या तो अपने संचित अनुभव और ज्ञान के आधार पर या किसी विशेषज्ञ के प्रामाणिक ज्ञान और कौशल के आधार पर हल ढूढा जाता है। किन्तु मानव जीवन से संबधित समस्यात्मक स्थितियां स्थैतिक अथवा स्थायी नही होती। इस चिर परिवर्तनशील जगत में नियमित रूप से आने वाली समस्यात्मक स्थितियो मे भी सामयिकता अथवा एकरूपता नही होती। इस कारण हर समस्यात्मक स्थिति मे तथ्यो के बारे में वस्तुगत एव नियमित पुनर्विचार आवश्यक हो जाता है; अनुसधान आवश्यक हो जाता है—अधिक परिशुद्ध और अधिक परिपूर्ण ज्ञान और कौशल अर्जन करने के लिए। शायद इसी कारण ज्ञान के हर क्षेत्र मे न केवल प्रत्यात्मक सरचनाए ही सशोधित हो रही हैं बल्कि नयी प्रायोगिकी और नये कौशलो का आविर्भाव या विकास हो रहा है।

यथार्थ जगत के तथ्यों की संरचना—चार सोपान

आर्थर कोसलर के अनुसार यथार्थ जगत के तथ्यों की सरचना चार सोपानों की चक्करदार सीढी की तरह है। सबसे निचले सोपान मे भौतिक और अजैव-सरल और सर्वव्यापक तथ्य हैं। इनसे दूसरे सोपान के कुछ जटिल, थोड़ी विशिष्टता लिए उच्चतर वर्ग के जैविक तथ्यों का उद्‌भव और पोषण होता है। तीसरे सोपान में जैविक जगत से उभरे समाज-सम्बन्धी जटिल और विशिष्टतापूर्ण तथ्य हैं। इनसे कही अधिक जटिल और कहीं अधिक विशिष्ट व्यक्ति-सम्बन्धी चतुर्थ सोपान के तथ्य हैं जिनका समाज मे उद्‌भव और पोषण होता है। बुनियादी तौर पर हर शिक्षाविद की दिलचस्पी इस चतुर्थ सोपान के सबसे जटिल और विशिष्ट व्यक्ति-सम्बन्धी तथ्यो से है ताकि वे व्यक्ति के पोषण के लिए पर्यावरण के संयोजन करने की सामाजिक प्रक्रिया को सोद्‌देश्य, सचेतन और विवेकपूर्ण रूप से चला सके।

शिक्षा यथार्थ के तथ्य की प्रकृति ही जटिल एवं विशिष्ट है। सच तो यह है कि ये तथ्य अंतर्निहित तौर पर स्पष्ट भी हो तो भी प्रभावी तौर पर अनिश्चित हैं। इसलिए हर शिक्षा-यथार्थ अपने सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक संदर्भ में अपने नियमानुसार स्थित होता है, इसके बावजूद कि उसकी व्यवस्था कुछ हद तक सार्वभौमिक और सार्वकालिक, समन्वित एवं तुल्यता के अनुसार निश्चित होती हो।

सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक कारकों एवं नियमों की समीक्षा

समाज और व्यक्ति सम्बन्धी तथ्यो पर वस्तुगत एव नियमित विचार एव अनुसधान का आरम्भ उन्होने किया जो भौतिक अथवा जैविक तथ्यों के लिए उपयोग मे लाई जाने वाली अन्वेषण प्रणाली से परिचित थे। जो भी सफलताए उन्होंने अर्जित कीं वे मानव व्यवहार अध्ययन करने वाले विचारको की वैज्ञानिक आगमनात्मक-निगमनात्मक विधि पर अपार विश्वास का आधार बनी। मानव व्यवहार के विचारको ने मान लिया कि इन्ही विधियों द्वारा सार्वभौमिक और सार्वकालिक कारको एव नियमो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी सप्रत्यय सरचना विकसित की जा सकती है जो समाज और व्यक्ति सबंधी तथ्यो की समझ और इनको परिचालित करने के कौशल

प्रदान कर सकती है। यदि भौतिकी और रसायन शास्त्र की सम्प्रत्यय संरचना का उपयोग औद्योगिक क्रांति ला सकता है, रसायन शास्त्र और जीव-विज्ञान की संप्रत्यय सरचना का उपयोग कृषि-उत्पादन अथवा रोगों के निदान और उपचार के लिए सफलतापूर्वक किया जा सकता है तो ऐसी ही अन्वेषण प्रणाली को अपनाकर शिक्षाविद भी शिक्षा यथार्थ की ऐसी संप्रत्यय संरचना विकसित कर सकते हैं जो शिक्षा यथार्थ का नियमित एव वस्तुगत बोध दे और उसके सयोजन और परिचालन का कौशल प्रदान करे।

किन्तु, इस परिपेक्ष्य मे जो भी समाज अथवा व्यक्ति सम्बन्धी तथ्यो पर अन्वेषण अथवा विचार हुए वे भौतिक, रसायन अथवा जैविक शास्त्रो की तरह सुस्पष्ट अथवा सुनिश्चित सज्ञान-संरचना न दे सके। ऐसे सप्रत्यय नहीं विकसित हो सके जो शिक्षा यथार्थ की प्राप्ति में सहायक हों। अनुसंधानकर्ता जब भी किसी समाज अथवा व्यक्ति सम्बन्धी अनुसधान-विषय से सम्बन्धित अनुसधानो का सर्वेक्षण करते हैं तो कई निष्कर्ष जो किन्ही अध्ययनो मे प्रस्थापित हो जाते हैं अन्य अध्ययनो मे प्रस्थापित नही होते, और कुछ अध्ययनों मे विपरीत निष्कर्षों की ओर इंगित करते हैं। इस कारण शिक्षाविदो को शिक्षा प्रक्रिया के प्रारूप, शिक्षण व्यूह रचना अथवा शिक्षण सामग्री आदि के बारे में कोई सुस्पष्ट ज्ञान या बोध का आधार नही मिलता कि वे सुनिश्चित निर्णय ले सकें।

इसका प्रमुख कारण समाज और व्यक्ति सम्बन्धी तथ्यो की प्रकृति, अजैविक एव भौतिक तथ्यो की तरह सहज एवं सार्वभौमिक मान लिया जाता रहा है। यह धारणा अनुसधानकर्त्ताओ को ऐसे नियमों या सामान्यीकरणों की खोज की ओर ले गई जो जटिल एव वैयक्तिकता से भरपूर समाज एव व्यक्ति सम्बन्धी तथ्यो मे संभव ही न थी। हर प्रेक्षित प्रभाव के कारण या कारक सार्वभौमिक होगे यह अजैविक या भौतिक तथ्यो ने स्थापित किया। किन्तु यह धारणा अन्य तथ्यो पर लागू हो आवश्यक तो नहीं। जैविक वैज्ञानिको तक ने प्रयोगशाला मे स्थापित निष्कर्षों पर जब कारण एवं प्रभाव के सिद्धान्त पर आधारित तकनीकों का क्षेत्र-कार्य आरम्भ किया तो उन्हें सीधे सूत्रबद्ध कारक-प्रभाव के निर्धारी संप्रत्यय को छोड़,

> बुनियादी तौर पर समन्वित शिक्षा का प्रश्न जनजीवन को सुखमय बनाने के लिए मानव सम्बन्धों के परिचालन या सामाजिक संस्थाओं में नवाचार प्रवर्तित करने की आवश्यकता से उठने वाले प्रश्न हैं जिनका हल अभी फौरन करना है और जिनका हल ढूढ़ने के लिए सामान्य बालकों की शिक्षा के संयोजन और परिचालन से संबंधित ज्ञान और कौशल की सीमित उपयोगिता है।
>
> भारत में अनुसंधान के वर्तमान स्तर को देखते हुए समन्वित शिक्षा की समस्याओं की निदान-उपचार व्यूह रचना का प्रतिपादन यदि संदर्भ मूल्यांकन अनुसंधान से करना हो तो उसके दो प्रमुख चरण ही होंगे। पहला चरण हम निदान चरण और दूसरा चरण उपचार चरण ही कहे तो उचित होगा।

प्रसभाव्य त्रुटि की सीमाओं के बीच होने वाले प्रभाव का संप्रत्यय स्वीकार करना पड़ा। लेकिन समाज एवं व्यक्ति सम्बन्धी तथ्यो का क्या हो ? जो न सार्वभौमिक ही है न सार्वकालिक ही। प्रसंभाव्य त्रुटियों के बीच कई कारकों ने जो बोध दिया वह भी इतना सुनिश्चित नही था कि शिक्षा यथार्थ के तथ्यों का सुस्पष्ट सप्रत्यय दे पाते। शायद यह नियति ही थी क्योकि जो अन्वेक्षण-क्षेत्र केवल सौ वर्ष पुराना हो वह कैसे उन धारणाओ और प्रतिधारणाओं को तोडकर उभर सकता है जो ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में प्रस्थापित हो चुकी हों।

शिक्षा यथार्थ की जटिलता एवं विश्लेषण

शिक्षा यथार्थ के तथ्य की प्रकृति ही जटिल एवं विशिष्ट है। सच तो यह है कि ये तथ्य अंतर्निहित तौर पर स्पष्ट भी हों तो भी प्रभावी तौर पर अनिश्चित हैं। इसलिए हर शिक्षा-यथार्थ अपने सामाजिक आर्थिक

सास्कृतिक सदर्भ मे अपने नियमानुसार स्थित होता है, इसके बावजूद कि उसकी व्यवस्था कुछ हद तक सार्वभौमिक और सार्वकालिक समन्वित एवं तुल्यता के अनुसार निश्चित होती हो। पिछले दो दशकों में इस आभास ने शिक्षा अनुसधान को एक नई दिशा की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। बजाय इसके कि सार्वभौमिक एव सार्वकालिक कारक-प्रभावो की खोज या सामान्यीकरण की चेष्टा की जाए, अनुसधानकर्ता ऐसे ज्ञान और कौशल की खोज मे लगे जो किसी शिक्षा यथार्थ के तात्कालिक सदर्भ के लिए वैध हो। उन्होने अनुसधान व्यूह-रचना को तथ्यो की प्रकृति से निर्धारित मान दिये, प्रासगिक सदर्भ के पूर्ववृतो का सुव्यवस्थित अभिज्ञान, प्रक्रिया सपादन का वस्तुगत निर्धारण और परिणाम अथवा उत्पादो का उचित मूल्यांकन किया। इससे जो भी ज्ञान और कौशल का अर्जन होता हो, वह न केवल उसी तात्कालिक सदर्भ के तथ्यों के परिचालन के लिए उपयोगी होता है वरन तुल्य तात्कालिक सदर्भों के तथ्यों के ज्ञान और कौशल अर्जन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

समन्वित शिक्षा में संदर्भ मूल्यांकन अनुसंधान

सदर्भ-मूल्यांकन अनुसधान की समन्वित शिक्षा के क्षेत्र मे इस नयी व्यूह रचना का अत्यधिक महत्व है। चाहे मद बालकों की समन्वित शिक्षा की शैक्षिक व्यवस्था, संचालन अथवा प्रबन्ध कौशल से सबधित प्रश्न हो, चाहे समन्वित शिक्षण की पाठ्यचर्या निर्धारण अथवा अनुकूल सामाजिक पर्यावरण को सजाने सम्बन्धी प्रश्न हो या विकलाग अथवा असामान्य बालको के निदानात्मक प्रशिक्षण, सामाजिक पुनर्वास और व्यवसाय-प्रशिक्षण संबंधी प्रश्न हो, सभी सामाजिक विकास और परिवर्तन के सदर्भ विशेष से जुडे प्रश्न हैं।

बुनियादी तौर पर समन्वित शिक्षा का यह प्रश्न जन-जीवन को सुखमय बनाने के लिए मानव सम्बन्धो के परिचालन या सामाजिक सस्थाओ मे नवाचार प्रवर्तित करने की आवश्यकता से उठने वाले प्रश्न है जिनका हल अभी फौरन करना है और जिनका हल ढूढने के लिए सामान्य बालकों की शिक्षा के सयोजन और परिचालन से सबधित ज्ञान और कौशल की सीमित उपयोगिता है।

मदबुद्धि बालक अथवा विकलाग बालकों की शिक्षा की समस्याओ की अपनी विशिष्टता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के संदर्भों की विशिष्टता के कारण इन समस्याओ का विशिष्ट तौर पर निदान-उपचार व्यूह-रचना का प्रतिपादन आवश्यक है। इन निदान-उपचार व्यूह रचनाओं के प्रतिपादन के लिए संदर्भ-मूल्याकन अनुसधान विधि उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए आवश्यक सूचनाए जुटाने, इन सूचनाओ के आधार पर क्रियान्वयन विकल्पो का निरूपण करने, किसी एक विकल्प या विकल्पो के सम्मुच्य के अनुसार हस्तक्षेप करने और ऐसे हस्तक्षेप के प्रभावो का नियमित एव वस्तुगत अध्ययन कर विभिन्न विशिष्ट सदर्भो के लिए उचित एवं प्रभावी निदान एवं उपचार व्यूह रचनाए दे सकती है।

चूकि सदर्भ मूल्याकन अनुसधान मे प्रमुख महत्व यथार्थ क्रियाशील जगत के तथ्यों या उनके बीच अन्योन्य क्रिया को दिया गया है, जो विभिन्न पर्यावरण और विभिन्न काल मे भिन्न है, इसलिए यह गौण है कि एक सदर्भ के लिए उपयुक्त एव प्रभावी निदान-उपचार व्यूह रचना के लिए प्राप्त ज्ञान और कौशल का सामान्यीकरण किया जाए। हां, यदि संदर्भों मे सममितता हो तो क्रियान्वयन विकल्पो के प्रतिपादन मे ऐसे ज्ञान और कौशल का सीमित उपयोग संभव है। किन्तु हर सदर्भ में हस्तक्षेप और हर हस्तक्षेप के प्रभावो का नियमित एवं वस्तुगत अध्ययन आवश्यक है क्योंकि समन्वित संदर्भ समतुल्य अथवा सर्वांगसम नहीं होते। नजर कमजोर हो जाए तो व्यक्ति को चश्मा लगाना चाहिए यह एक सामान्यीकरण है। किन्तु हर व्यक्ति के लिए कैसा चश्मा उचित होगा इसका निर्धारण वैयक्तिक विशिष्टता पर आधारित होता है। ऐसे ही मदबुद्धि बालको अथवा अन्य विकलाग बालको को सामान्य बालकों के साथ शिक्षित किया जा सकता है, यह भी एक सामान्यीकरण हो सकता है। किन्तु मदबुद्धि बालको या विकलांग बालको को सामान्य शिक्षा व्यवस्था में समायोजित करने के लिए कैसा उपचारात्मक कार्यक्रम देना होगा यह उनकी वैयक्तिक विशिष्टताओ के निदान पर ही आधारित होगा। इस दृष्टि से संदर्भ मूल्यांकन समन्वित शिक्षा में विशिष्ट बालको की विशिष्ट अधिगम समस्याओ के हल के लिए विवेकशील एव सुनियोजित हस्तक्षेप या नवाचार या क्रियान्वयन प्रारूप के प्रतिपादन में सहायक हो सकता है।

विकलांगों की समन्वित शिक्षा—निदान एवं उपचार-अनुसंधान की व्यूह रचना

भारत मे अनुसधान के वर्तमान स्तर को देखते हुए समन्वित शिक्षा की समस्याओ की निदान-उपचार व्यूह रचना का प्रतिपादन यदि सदर्भ मूल्याकन अनुसधान से करना हो तो उसके दो प्रमुख चरण ही होगे। पहला चरण हम निदान चरण और दूसरा चरण उपचार चरण ही कहें तो उचित होगा। पहले चरण मे शैक्षिक व्यवस्था सचालन अथवा प्रबध, पाठ्यचर्या अथवा कक्षा-पर्यावरण संयोजन या मद अथवा विकलाग बालको के पुनर्वास या व्यावसायिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित समस्या को नियमित और वस्तुगत तौर पर निरूपित करना होता है। देखा जाए तो यह सबसे महत्वपूर्ण चरण है जिसमे अनुसधानकर्ता को न केवल उस दत्त सामग्री का सग्रह करना होता है जो शिक्षार्थी अथवा शिक्षार्थी समूह की विशिष्टताओं और विशिष्ट सदर्भ से संबधित होती है, वरन् विभिन्न विशेषज्ञो की सहायता से विशिष्ट चरो के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यक दत्त सामग्री और उन चरो के परिमाण सम्बन्धी विशेषज्ञो की राय का संकलन भी करना पड़ता है। जितनी सावधानी से यह दत्त सामग्री संकलित की जायेगी और जितने वैध और विश्वसनीय रूप से चरो का मापन होगा उतने परिशुद्ध रूप से समस्या या समस्याओ का निरूपण हो सकेगा।

संदर्भ परिपेक्ष्य सम्बन्धी कुछ दत्त सामग्री तो ऐसी है जिसके संकलन की विधिया शिक्षा निर्देशन और परामर्श के लिए सामान्य बालको के अध्ययन के लिए सफल रूप से प्रयुक्त होती रही हैं। कुछ दत्त सामग्री है जो असामान्य व्यवहार के निदान अध्ययन में बालक की विशिष्टताए पहचानने के लिए प्रयुक्त विधियो का उपयोग कर सकलित की जा सकती है। किन्तु बालक अथवा बाल-समूह की कुछ विशिष्टताए ऐसी होगी जिनका मापन और उस माप का विश्लेषण और व्याख्या विशेषज्ञों द्वारा ही की जा सकती है। यदि अनुसंधानकर्ता विभिन्न स्रोतों से प्राप्त इस दत्त सामग्री से सदर्भ परिपेक्ष्य की समष्टि का थोडा भास कर समस्या का निरूपण कर सके तो वह उन विकल्पो का भी उचित निरूपण कर पायेगा जिनके आधार पर अनुसंधान के अगले चरण में उपचार के लिए हस्तक्षेप के स्वरूप को निश्चित किया जा सकता है।
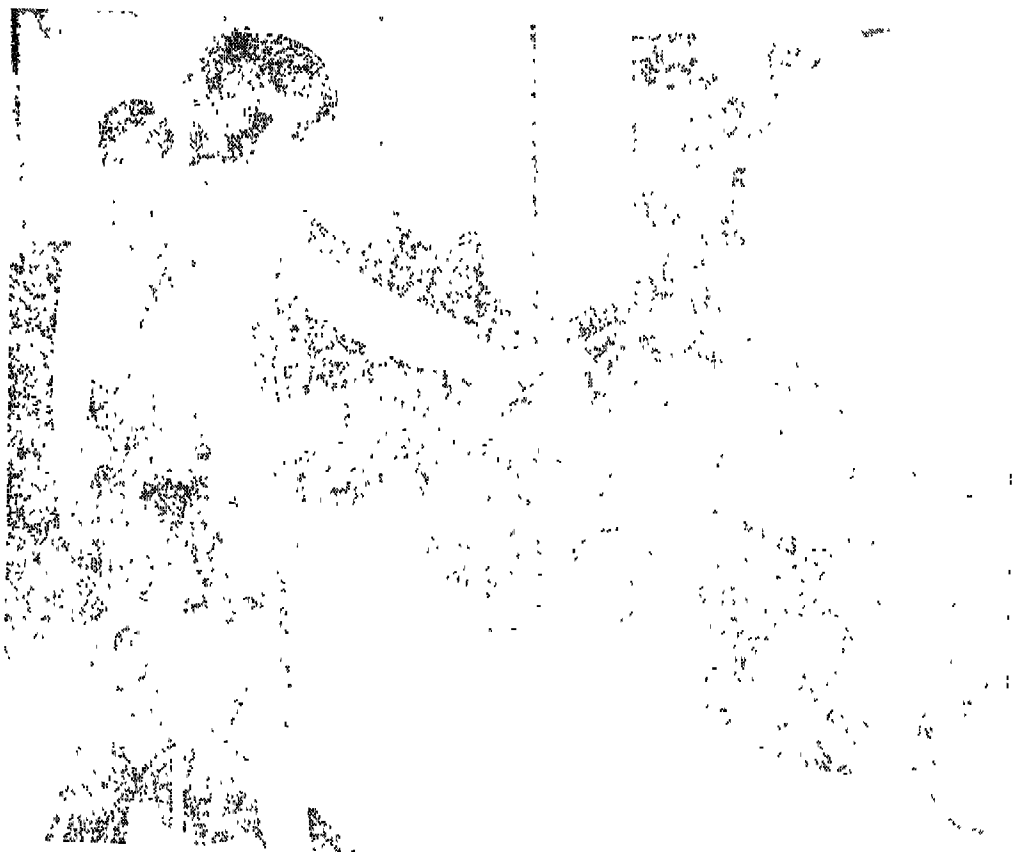
अनुसधान के दूसरे उपचारात्मक चरण मे, समस्या के निर्धारण के आधार पर विभिन्न विकल्पों का निरूपण करना पडता है जो समस्या के समाधान मे सहायक सिद्ध हो सके। इन विकल्पो मे से उनका चयन करना पडता है जो सदर्भ परिपेक्ष्य मे व्यवहार्य हो। कई विवेकी और बुद्धिसगत विकल्प व्यवहार्य नही होते। सदर्भ परिपेक्ष्य की सीमाओ और प्रतिबधो के कारण अन्य कुछ विकल्प साध्य नही होते। इस कारण केवल ऐसे व्यवहार्य विकल्पो के आधार पर हस्तक्षेप प्रारूप का निरूपण किया जा सकता है जो समन्वित शिक्षा प्रक्रिया की समस्याओ के समाधान मे सहायक हो।

अनुसधान के उपचारात्मक चरण का प्रमुख भाग हस्तक्षेप का क्रियान्वयन है। समन्वित शिक्षण प्रक्रिया मे जो भी हस्तक्षेप किया जाता है उसका प्रक्रिया के दौरान ही प्रबोधन (मानीटर) करना आवश्यक है ताकि हस्तक्षेप के जो भी रचनात्मक प्रभाव हो उनका पुर्नानिवेशन (फीड बैक) हस्तक्षेप प्रारूप मे आवश्यक फेर-बदल करने मे सहायक हो। प्रबोधन से जो भी दत्त सामग्री प्राप्त होती है वह न केवल नया ज्ञान ही देती है, बल्कि अधिक परिशुद्ध विकल्प और अधिक प्रभावी कौशल भी। यह ज्ञान विकल्पों का निरूपण और कौशल अर्जन सदर्भ मूल्याकन अनुसधान की सबसे बडी देन है जो समन्वित शिक्षण प्रक्रिया के लिए उचित सप्रत्यय प्रदान कर सकती है।

□□

विशिष्ट अधिगम विकलाग बच्चे एक या अधिक उन आधारभूत मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ में असगति का प्रदर्शन करते हैं जो समझने मे या लिखित एव उच्चरित भाषा के प्रयोग मे अपेक्षित होती हैं। ये असंगतियां सुनने, सोचने, बातचीत करने, पढ़ने, लिखने, वर्तनी तथा अंकगणित में प्रकट होती है। इनके अंतर्गत संवेदनात्मक विकलागता, दिमागी चोट, मस्तिष्क की कमजोरी, पठन-प्राप्ति आदि भी आते हैं। इस वर्ग में उन अधिगम समस्याओं को शामिल नही किया जाता जो प्रथमत: चाक्षुष, श्रवण, अंग-प्रत्यग तथा मानसिक विकलांगता, भावनात्मक विकार तथा परिवेश के पिछड़ेपन से उत्पन्न होती है।

शिक्षणीय मंद-बुद्धि तथा अधिगम विकलांगता—एक तुलनात्मक अध्ययन

रवीन्द्र कुमार

मंद-बुद्धि बच्चों तथा अधिगम विकलाग बच्चो की विशिष्ट शिक्षा के सदर्भ मे कुछ आधारभूत प्रश्न उठाए जाते रहे है। कतिपय प्रश्न दोनों कोटियो को प्रथक आधार पर शिक्षा मे सार्थक स्थान निर्धारण से सबंधित है। अर्थात् क्या मंद-बुद्धि तथा अधिगम विकलागो के अध्ययन-अध्यापन, उपचार तथा शिक्षण विधि सबधी अलग-अलग अपेक्षाए हैं ? संभवत: मद-बुद्धि बच्चो की शिक्षण संबधी जरूरतें अधिगम विकलाग बच्चो से भिन्न होती हैं। अत: यह आवश्यक है कि इन दोनो प्रकार के विकलागों के विषय मे अनुसधानों का अध्ययन किया जाए ताकि मंद-बुद्धि और अधिगम विकलागता को परिभाषित किया जा सके। केवल परिभाषा तक अध्ययन को सीमित रखकर दोनो वर्गों के अन्तर को स्पष्टत. नहीं समझा जा सकता। अतएव यदि दोनो मे भिन्नता है तो उसकी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-व्यवहार तथा शैक्षिक विशिष्टताओ के संदर्भ मे तुलनात्मक अध्ययन करके सार्थक एवं उपयोगी व्याख्या की जा सकती है।

विभिन्न व्यक्तियो तथा वर्गों ने अधिगम विकलांगता की समय-समय पर परिभाषाए की हैं। इनमे सर्वमान्यता केवल उस परिभाषा को प्राप्त हुई है जो सयुक्त राज्य अमरीका के सघीय कानून मे स्वीकृत हुई और जिसे अमरीका की विकलांग बच्चो की राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने 1968 मे प्रस्तुत किया था।

"विशिष्ट अधिगम विकलांग बच्चे एक या अधिक उन आधारभूत मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं मे असगति का प्रदर्शन करते है जो समझने मे या लिखित एव उच्चरित भाषा के प्रयोग मे अपेक्षित होती है। ये असगितया सुनने, सोचने, बातचीत करने, पढने, लिखने, वर्तनी तथा अंकगणित में प्रकट होती है। इनके अंतर्गत संवेदनात्मक विकलांगता, दिमागी चोट, मस्तिष्क की कमजोरी, पठन-प्राप्ति भी आते हैं। इन वर्ग मे उन अधिगम समस्याओं को शामिल नही किया जाता जो प्रथमत चाक्षुष, श्रवण, अग-प्रत्यग तथा मानसिक विकलागता, भावनात्मक विकार तथा परिवेश के पिछड़ेपन से उत्पन्न होती है।"

इस परिभाषा मे थोडा-सा सशोधन करके अमरीका मे 1975 मे सार्वजनिक कानून का रूप दिया गया। विकलाग बच्चो की शिक्षा का एक्ट 94-142 के नाम से जाना जाता है। इस परिभाषा मे उन विभिन्न आतरिक तथा बाहरी मानदडों को समाहित किया गया है जो इसे कार्यरूप देने के लिए आवश्यक है। इस परिभाषा में स्पष्ट सकेत है कि इस विकलागता में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाए अस्त-व्यस्त होती है। इसमे उन अकादमिक क्षेत्रो का विशेष उल्लेख किया गया है जिन पर मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की अस्त-व्यस्तता का प्रभाव पड़ता है। इसमे उन स्थितियो एव अवस्थाओं का भी विवरण है जो इस वर्ग मे शामिल की गई है। कुछ स्थितियो तथा अवस्थाओ को शामिल न करके इस परिभाषा मे सामान्य बुद्धि, सामान्य इद्रिया और अग-क्षमता, सामान्य मनोवैज्ञानिक तथा परिवेश अवस्थाए विद्यमान स्वीकार की जाती है। कार्यरूप मे इस परिभाषा मे कार्य निष्पादन की असगतियो पर बल दिया जाता है और इस आवश्यकता को रेखांकित किया गया है कि इन बच्चों की सहायता "कैसे सीखे" अधिगम-ज्ञान से दी जाए। इस वर्ग से निष्कासित कोटि मे मानसिक विकलागता—मद-बुद्धि भी रखी गई है। अत: मंद-बुद्धि की परिभाषा पर भी विचार कर लेना सुसंगत रहेगा।

मंद-बुद्धियों के लिए एक अमरीकी सगठन ने परिभाषा प्रस्तुत की है।

मद-बुद्धि से अभिप्राय है निम्नकोटि की सामान्य बुद्धि जिसके प्रयोग से विभिन्न परिस्थितियो मे उपयुक्त व्यवहार-कुशलता की भारी कमी प्रकट होती है। विकास-गति मे अपेक्षित अनुकूल व्यवहार-कुशलता की और अधिक कमी प्रकट होती है। (ग्रॉस मैन, 1977 पृ० 11)

किर्क और गॉलागेर (1983) ने इस परिभाषा की व्याख्या में तीन पक्षों पर विशेष प्रकाश डाला। सर्वप्रथम बौद्धिक प्रकाश है, जिसका मापन मानक बुद्धि परीक्षण से किया जाता है। तदनुसार सभी मद-बुद्धि अपने समकक्ष साथियों से 97 मे 78 प्रतिशत तक नीचे रह जाते हैं। दूसरी उस योग्यता की कमी जो स्वतन्त्र जीवन के मानदण्डो को प्राप्त करने के लिए जरूरी है और जिसके द्वारा समाज सस्कृति के परिवेश मे विभिन्न आयु वर्ग अपेक्षित सामाजिक उत्तरदायित्व निभाया जाता है। अंतिम और तीसरा आयाम बचपन की वे स्थितिया है जिनके अनुसार आयु विकास के साथ मानसिक पिछड़ापन प्रकट होता है। इस पिछड़ेपन को अन्य कोई नाम भी दिया जा सकता है।

मंद-बुद्धि से अभिप्राय है निम्नकोटि की सामान्य बुद्धि जिसके प्रयोग से विभिन्न परिस्थितियो में उपयुक्त व्यवहार-कुशलता की भारी कमी प्रकट होती है। विकास-गति में अपेक्षित अनुकूल व्यवहार-कुशलता की और अधिक कमी प्रकट होती है।

अधिगम विकलाग अपने सोचने में अन्तर्बाधा नही दिखाते। वस्तुत: उनके विषय में कहा जा सकता है कि उन बच्चों में कल्पना और सृजनात्मकता के लक्षण मिलते है।

मद-बुद्धि श्रेणी के अंतर्गत बौद्धिक योग्यता का काफी विस्तार मिलता है। प्राय: इसी श्रेणी के तीन उपवर्ग किए जाते हैं। जिसे शिक्षा दी जा सकती है अर्थात् शिक्षणीय मन्द-बुद्धि पहले उपवर्ग में आते है। दूसरे

उपवर्ग मे प्रशिक्षणीय मद-बुद्धि आते है। अर्थात् इनको शिक्षा नही दी जा सकती बल्कि जीवन-यापन की मामूली कुशलताओ मे प्रशिक्षित किया जा सकता है। तीसरे उपवर्ग मे जडमति मूढमति आते है जिनकी मानसिक योग्यता पूर्णत: नष्ट हुई होती है। प्रस्तुत प्रसंग मे प्रथम उपवर्ग के शिक्षणीय मंद-बुद्धि के विषय तक हमारा विवरण सीमित रहा है।

शिक्षणीय मंद-बुद्धि की व्याख्या के अनुसार वे विद्यालय के सामान्य कार्यक्रम का लाभ उठाने मे अक्षम होते हैं। लेकिन उनमे कुछ सीमा तक बौद्धिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक योग्यता के विकास की क्षमता होती है, यदि उनको उपयुक्त विशेष शिक्षा प्रदान की जाए।

प्रत्यक्षत· अधिगम विकलाग तथा शिक्षणीय मद-बुद्धि सामान्य एव समान कोटि मे नहीं आते। इसीलिए अधिगम विकलाग और शिक्षणीय मद-बुद्धि असामान्यता की दो सुस्पष्ट और पृथक् कोटिया है। मानसिक विकलांगो की कोटि से अधिगम विकलांगों को क्यों अलग कर दिया गया? यह प्रश्न विशेष शिक्षा के क्षेत्र मे प्राय· उठाया जाता है। अधिगम विकलागता को मानसिक विकलांगता से पृथक् रखने के प्रबल पक्षधर क्रिकशैंक तथा उनके शिष्य हालमैन और काफमैन माने जाते हैं। ये इस तथ्य के समर्थन मे डा० एलफ्रेड स्ट्रास के 1930 व 1940 के अग्रगामी अनुसधान का हवाला देते है। इस अनुसंधान ने विशेष शिक्षा में अधिगम विकलागता के क्षेत्र को स्थापित कर दिया। इस अनुसंधान-अध्ययन में मानसिक विकलांगो पर ही कार्य किया गया था। प्रेक्षित विशेषताओ के आधार पर उसने मानसिक विकलागो के उपवर्गों का विवरण प्रस्तुत किया। बहिर्जात या क्षतिग्रस्त मस्तिष्क तथा अंतर्जात या पारिवारिक मानसिक विकलागता के लक्षणों का विवरण प्रस्तुत किया। तदन्तर अनुसधान, जो स्वय स्ट्रास तथा अन्य विद्वानो ने किए तब उन्होंने पाया कि बहिर्जात लक्षण मानसिक दृष्टि से सामान्य बालको मे पाये जाते हैं। यहीं से अधिगम विकलागता को मानसिक विकलागता से भिन्न माना जाना प्रारंभ हो गया। यदि हम शास्त्र अध्ययन करें तो पता चलता है कि 1963 के बाद अधिगम विकलांगता का नामकरण हो गया और इस कोटि का अलग से अध्ययन और प्रसार शुरू हुआ। अमरीका मे कानून द्वारा 1975 मे इस कोटि को विकलांगता का प्रथम दर्जा प्राप्त हो गया।

यह आवश्यक नही है कि विवाद की विस्तारपूर्ण व्याख्या की जाए बल्कि मद-बुद्धि के अन्तर को समझा जाए। दोनों की यह भिन्नता प्रमुखत मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व्यवहार तथा शैक्षिक व्यवहार के लक्षणो द्वारा उजागर हो सकती है। सबसे पहले मनोवैज्ञानिक आयाम पर विचार करें। इसके अंतर्गत प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तथा संज्ञानात्मक प्रयासो को लिया जा सकता है।

1. मनोवैज्ञानिक आयाम

मनोवैज्ञानिक विशेषताओ का प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक एवं सज्ञानात्मक लक्षणो के तहत अध्ययन कर सकते है।

(अ) **प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक** . प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक विघ्न-बाधाओ का स्ट्रास तथा वर्नर (1942) ने अध्ययन किया है। इस अध्ययन के प्रत्यादर्श में क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले तथा पारिवारिक/अन्तर्जात मानसिक विकलाग लिए गए हैं। इनको विभिन्न प्रयोग-परिस्थितियों में रखा गया। उन्हें संगमरमर-पट परीक्षण "अग्रभाग तथा पश्चभाग का विभेद" परीक्षण "स्पर्श-प्रेरक चालक" परीक्षण आदि दिए गए। सगमरमर-पट परीक्षण मे लघु बिन्दुओ तथा दीर्घ बिन्दुओं के निशान वर्गाकार क्रम मे अंकित थे। परीक्षणार्थी को इन बिन्दुओ को मिलाने का कार्य करना था। उन्होंने अपने कार्य व्यवहार से विच्छिन्नता और असबद्धता के लक्षणों का परिचय दिया। अर्थात् उन्होंने कार्य चाहे जहा से शुरू कर दिया और किसी भी दिशा मे चल दिए। अग्रभाग तथा पश्चभाग विभेदन कार्य मे पश्चभाग के प्रति आकर्षण एवं अग्रभाग के प्रति विकर्षण के लक्षण प्रकट हुए। वे प्राय: उस पैटर्न को भूल जाते थे जिस पर वे कार्य कर रहे थे। स्ट्रास ने इसे पश्चभाग उद्प्रेरक के प्रति जबर्दस्ती का उत्तर-व्यवहार कहा है। तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण यह भी देखने मे आया कि वे एक बार शुरू किए गए काम को बार-बार करते रहना जारी रखते हैं।

अधुनातम साहित्य के पर्यावलोकन के आधार पर इन सभी लक्षणों से उनकी इस अयोग्यता का पता चलता है कि वे किसी निश्चित समय तक दिए हुए कार्य पर ध्यान नहीं रख सकते। वे अधिक गलतिया करते हैं। कार्य के

आरभ करने और पूरा करने मे अधिक समय लेते है। वे कार्य में बहुत कम ध्यान देते है। शीघ्र ही उनका ध्यान-भग हो जाता है। कार्य-निष्पादन मे प्राय गलत-सकेतो का अनुसरण करते है। सुतारिया (1985) के अनुसार इन लक्षणों का निष्कर्ष उन परीक्षण-कार्यो के आधार पर निकाला गया जिनमे दृश्य एव श्रव्य विभेदन, क्रमबद्धता की समस्याए, सुराखो मे वस्तुओ को रखने के विश्लेषण और सश्लेषण, निर्देश पालन, सूचनाओ का समन्वय आदि की पहचान एक दो प्रारूपों मे उनके सबद्ध कार्य सचालन से की गई।

शिक्षणीय मंद-बुद्धि के विषय मे भी समान रूप से इन्ही समस्याओं की चर्चा की जाती है। यानी—ध्यान-भग के लक्षण उनमे भी मिलते है। (किर्क एवं गालागेर 1983; स्मिथ, 1971) कार्य-निष्पादन मे वे भी दृश्य एवं श्रव्य सकेतों की ओर अभावुक रहते है और या तो अधिक प्रतिक्रिया दिखाते है या प्रतिक्रिया का अभाव प्रकट करते है।

(आ) **संज्ञानात्मक विकृतियां (गड़बड़)** स्ट्रास तथा वर्नर ने 1942 के प्रारंभिक प्रयोगों मे संकल्पना-निर्माण के अध्ययन मे विभिन्न वस्तुओ और चित्रो का उपयोग किया। क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले और वशगत मानसिक विकलागो को वस्तुओ के नाम बताने थे, उनके प्रकार प्रकट करने थे और उनके वर्ग बनाने थे। वर्ग बनाने का कारण भी बताना होता था। परिणामस्वरूप क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वालो ने न केवल अधिक वस्तुओ को वर्गो मे रखा वल्कि उनके अधिक वर्ग भी बनाये।

सबसे अधिक प्रभावकारी तथ्य यह सामने आया कि क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वालो ने अन्य भेद-बुद्धियो की अपेक्षा असामान्य तत्वों के आधार पर वस्तुओं के वर्ग बनाए जबकि अन्य भेद-बुद्धियों ने प्रकार्यात्मक विशेषताओ अथवा रूपात्मक समानता के लक्षणो पर आधारित वर्ग बनाए। उन्होने अनावश्यक तथ्यों को केन्द्रीभूत करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए पीले रंग की मोमबत्ती वाले के साथ पीले रग के लिबास का वर्ग बनाया। दूर की कौडी वाले सबंध बताने की कोशिश में टिकट और रेजर ब्लेड का वर्ग इस आशय से बनाया कि ब्लेड टिकट काटने के काम आता है। संबधो के वितान में सीटी और धूप के चश्मो को एक साथ एक वर्ग मे रखा गया क्योकि ये दोनो पुलिस वालो के पास पाये जाते है।

अन्य एक प्रयोग मे चाहा गया था कि वस्तुओ को चित्रो के सबध मे छाटें और छांट का स्पष्टीकरण दे। क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वालो ने असामान्य तथा दूर की कौडी किस्म के सबधो का परिचय दिया जो कि अन्य मंद-बुद्धियों की छाट और छांट के सबध परिचय से भिन्न थे। (स्ट्रास एव वर्नर 1942)

ऐसे लक्षणों के प्रकार के आधार पर यह निष्कर्ष निकाले गए है कि अधिगम विकलाग अपने सोचने में अन्तर्बाधा नही दिखाते। वस्तुत उनके विषय मे कहा जा सकता है कि उन बच्चो मे कल्पना और सृजनात्मकता के लक्षण मिलते हैं। जौनसन और माइकल बस्ट (1967) के शोध का यह निष्कर्ष निकला है लेकिन यह भी पाया गया है कि उनका स्पर्शरेखीय सोचना और अन्तर्बाधा की मुक्ति का प्रभाव उनके कक्षा-कार्य पर पडता है। अन्य मद-बुद्धि बच्चो मे एक ही तरह से सोचते रहना और स्थूल-सोचना ही मिलता है जिसे "उद्दीपन प्रेरित" सोचना कहा जाता है। अधिगम विकलाग बच्चो की ये क्षमताए सज्ञानात्मक समस्याओ के सुलझाने और समाधान करने में सहायक होती है। इस प्रकार की सोच-शक्ति से वे एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति के नतीजे भी निकालते रहते है।

शिक्षणीय मद-बुद्धि और अधिगम विकलागो मे स्पष्ट अतर पाया जाता है। यह अन्तर परम्परागत बुद्धि मापक परीक्षण के आधार पर भी ज्ञात किया जा सकता है। कार्य-निष्पादन में प्राय. उनमे बहुत भिन्नता दृष्टिगोचर नही होती। मदबुद्धि बच्चों को भी अधिगम विकलागो की भांति विषम समस्याओ के समाधान मे कठिनाई होती है। वे कार्यकारण के सम्बन्ध न तो देख सकते है और न उनका अनुमान लगा सकते है। वे अन्य परिस्थितियो का सामान्यानुमान भी नही लगा सकते। समाधान के अन्य विकल्प नहीं सोच सकते। यहा तक कि मौखिक सूचनाए भी नही दे पाते। यह स्मिथ के 1971 में शोध-अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है।

सज्ञानात्मक विकास के अधुनातम साहित्य की समीक्षा के समय हेगन, वाकले और शेबेटेम के 1980 के

शोध-निष्कर्ष सामने आए। उन्होंने पाया कि शिक्षणीय मद-बुद्धि और अधिगम विकलाग स्मृति-कार्यो मे सामान्य बच्चो की तुलना मे समान रूप से पिछड़ापन प्रकट करते है। इसके अतिरिक्त दोनो वर्ग समुचित व्यूह के उपयोग मे विलम्ब करते है। वर्गीकरण और दुहराने मे जिससे स्मृति विकास मे आसानी होती है— वे अधिक समय लगाते है। यह आश्चर्य की बात है, अधिगम विकलांग क्यो इतना पिछडापन दिखाते है जबकि उनमे सामान्य बुद्धि होती है ? इस सन्दर्भ मे उपयुक्त अनुसन्धानकर्ताओ के इस निष्कर्ष को ध्यान मे रखना होगा कि पर्यावरण का संज्ञानात्मक विकास पर प्रभाव पडता है। हेगन आदि का कहना है कि स्कूली शिक्षा के प्रारम्भिक वर्षो मे अधिगम विकलागो की समस्याए विशेषीकृत होती है अर्थात् किसी एक या दो क्षेत्रों तक सीमित होती है जब कि बौद्धिक सीमाओ के कारण शिक्षणीय मन्द-बुद्धि की समस्याए अधिक व्यापक होती है। अस्तु जैसे-जैसे अधिगम विकलाग अपनी स्कूली शिक्षा जारी रखता है वैसे-वैसे उसे पठन और लेखन कार्य मे निरन्तर असफलताएं मिलती हैं। इस सचित निराशाजनक दबाव से उसका सज्ञानात्मक विकास प्रभावित होता है। दोनो वर्ग अन्त-र्मुक्त से प्रकट होने लगते है।

2. सामाजिक-व्यवहार आयाम

स्ट्रास और केपहार्ट (1940) के अध्ययन पर पुन. ध्यान दे। सामाजिक व्यवहार के सन्दर्भ मे यह प्रयोग चर्चित और सुविख्यात है। उन्होने आवासीय विद्यालय के क्षति-ग्रस्त मस्तिष्क वाले तथा अन्य मन्द-बुद्धियो की तुलना के लिए रेटिंग स्केल तैयार किया। इन बच्चो से सुपरिचित शिक्षकों और आवास-अभिभावकों से उनके प्रेक्षण के आधार पर व्यक्तित्व आयामों को रेट करने के लिए कहा गया। व्यक्तित्व आयामों की सारिणी दी गई है। परिणामो ने स्पष्ट किया कि क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले बच्चे अन्य मन्द-बुद्धि बच्चों की अपेक्षा अधिक सनकी, अनिश्चित, अनियन्त्रित, अन्तर्बाधित और सामाजिक-अस्वीकारीय पाए गए।

सुतारिया ने 1985 मे अपने शोध-अध्ययन में अधिगम विकलांग मे "आत्म-सकल्पना" की कमी पाई। इसका कारण उन्होने स्कूल में निरन्तर असफलताओं से उपजी अक्षमता और असुरक्षा की भावना को बताया है। इस अध्ययन से पूर्व मर्स्टर 1979 मे अपने प्रयोग निष्कर्ष मे कह चुके है कि अधिगम विकलाग बच्चे कार्य-आरम्भ करने से पूर्व ही असफल हो बैठते हैं। आत्म-सकल्पना की कमी के कई नकारात्मक नतीजे निकलते है। वे विघटन या प्रत्याहार के आचरण दिखाने लगते है। ये दोनो ही अक्षमता की पूर्ति के साधन माने जाते है।

सामाजिकता के नाते अधिगम विकलागो के सामान्य साथी उनके असामाजिक आचरण के कारण उनका साथ छोड़ देते है। या तो सामान्य बच्चे उनकी बातो पर ध्यान नही देते और मात्र अभिनय करते हैं या वे अधिगम विकलागो के सकेत-सूत्रो को पकड नहीं पाते और उनका गलत अर्थ लगाते हैं। अथवा दूसरो की भावनाओ के प्रति अभावुकता प्रकट करते हैं। इतना ही नही वे उनके प्रति असहयोग और अनुत्तरदायित्व दिखाते हैं। यह भी सुतारिया (1985) के अध्ययन के परिणामस्वरूप जाना गया है। अधिगम विकलागों के सामाजिक व्यवहार में मौज-मस्ती के चढाव और उतार पाए जाते है। उनके व्यवहार के विषय मे कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। आवेगशील विस्फोट और हिचकिचाहट (ढुलमुलपन) के कारण उनके मित्र बहुत कम रह जाते है और वे स्थायी मित्रता के लक्षण नही दिखा पाते।

स्मिथ (1971) के अनुसार मन्द-बुद्धि भी अधिकाश सामाजिक-व्यवहार के लक्षणों मे अधिगम विकलागो के समान ही होते हैं। उनमे भी आत्म-सम्मान की कमी पाई जाती है। वे कुछ भी नया कार्य करने में रुचि नहीं लेते क्योकि उन्हे असफलता का भय सताता रहता है। वे सामाजिक संकेतो का समुचित अनुमान नही लगा पाते। वे पर्यावरण के प्रति तथा दूसरी अन्य भावनाओं के प्रति भी अभावुक बने रहते है। अपनी बौद्धिक सीमाओं के कारण वे प्राय: अनावश्यक तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त विरोधी आचरण दिखाते हैं। वे बडे भोले-भाले होते हैं और सामान्यत उनके व्यवहार अधिक अपरिपक्व होते हैं।

पांचवें और छठे दशक के दौरान शिक्षणीय मन्द-बुद्धियों को विशेष शिक्षा की कक्षाओं मे स्थान देने के

प्रयत्न को न्यायसगत माना गया था क्योकि इन बच्चों को सामान्य साथियो द्वारा विद्यालय मे सामाजिक उपेक्षा का शिकार होना पडा था। इस उपेक्षा और बहिष्कार के कारणों का विश्लेषण करने पर उनमे असामाजिक व्यवहार करने की प्रवृत्ति दिखाई दी। इस असामाजिक व्यवहार मे छेडखानी, तग करना, झगडना, खेल भावना की कमी आदि का उल्लेख किया गया। टेलर ने अपने शोध (1982) मे शिक्षणीय मन्द-बुद्धियो का सामाजिक बहिष्कार उनके असामाजिक व्यवहार के कारण बताया है।

3. शैक्षिक आयाम

तीसरा आयाम शैक्षिक है जिस पर विचार किया जाना जरूरी है। क्या शैक्षिक आयाम के अन्तर्गत अधिगम विकलांग तथा शिक्षणीय मन्द-बुद्धियो मे प्रमुख भिन्नताए पाई जाती है ?

अकादमिक दृष्टि से अधिगम विकलाग और शिक्षणीय मद-बुद्धि दोनो ही सप्राप्ति के निचले स्तर पर रहते है। दूसरे क्षेत्रो की भाति शैक्षिक क्षेत्र मे भी अधिगम विकलाग शिक्षणीय मद-बुद्धिओ की अपेक्षा संप्राप्ति मे पिछड़ापन दिखाते है। अधिगम विकलागो के पिछड़ेपन मे गंभीर किस्म के लक्षण पाए जाते है। शैक्षिक सप्राप्ति का पिछडापन माग करता है कि अधिगम विकलांगो की शैक्षिक समस्याओं का कारगर निदान किया जाए।

ग्रासमैन के अध्ययन (1983) के अनुसार मद-बुद्धि नये कौशलों को ठीक उसी प्रकार सीखता है जैसे कि सामान्य बच्चे सीखते हैं। अतर केवल इतना है कि उसके सीखने की गति धीमी है और सीखने मे अधिक समय लेता है। जब मद-बुद्धि बच्चा आवश्यक मानसिक परिपक्वता प्राप्त कर लेता है तो वह सीखना शुरु कर देता है। इसके विपरीत अधिगम विकलाग विभिन्न कौशलो को विभिन्न गति से सीखता है। सुतारिया (1985) की मान्यता है कि अधिगम विकलागो के अधिगम नमूने (पैटर्न) सवेदन वैशिष्टय प्रकट करते है। अर्थात उनमे स्वभावगत विलक्षणता पाई जाती है।

जौनसन और माइकल बस्ट (1967) के सुझाव उपयोगी कहे जा सकते हैं। उनका मानना है कि जब तक अधिगम विकलाग बच्चो को यह नही सिखाया जाता कि अधिगम कैसे होता है तब तक शिक्षण व्यर्थ रहता है। जब तक शिक्षण और शिक्षण युक्तिया उनके सीखने के ढग और सूचना-ससाधन से तालमेल नही रखती तब तक शिक्षण प्रभावी नही हो सकता। जब तक कौशलो का क्रम निर्धारण उनकी क्षमता की कमजोरी के अनुरूप नहीं बदला जाता तब तक शिक्षण लक्ष्य संधान नही कर सकता। अत. अधिगम विकलागो की शिक्षण-व्यूह रचनाए उनकी क्षमता और कमजोरी के अनुरूप और उनकी स्वभावगत विलक्षणता को ध्यान मे रखकर तैयार की जानी चाहिए।

एक बात और यहा स्पष्ट कर दे कि मद-बुद्धि की अधिगम तत्परता का उपयुक्त परिचायक उसकी आयु होती है जबकि अधिगम विकलाग की आयु किसी किस्म के अधिगम-लक्षण प्रकट नही करती। दोनो वर्ग पठन, लेखन, वर्तनी और गणित की सप्राप्ति मे समान रूप से पिछड़े रहते है। मद-बुद्धि का पिछड़ापन उनकी बौद्धिक असमर्थता के कारण होता है जबकि अधिगम विकलाग के पिछडेपन का कारण उसका सनकी, अनिश्चित, परिसीमित और ससाधन-दुष्क्रियाग्रस्त होना है।

वस्तुत. शैक्षिक सप्राप्ति मे अधिगम विकलांग और शिक्षणीय मदबुद्धि मे विवेचनात्मक भिन्नता मिलती है जबकि मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-व्यवहार मे भिन्नता की अपेक्षा समानता अधिक मिलती है। अब आवश्यकता इस बात की है कि अधिगम विकलागो और शिक्षणीय मदबुद्धि के स्थापन और शैक्षिक विधियो पर विचार कर लिया जाए।

शिक्षा में स्थापना और शैक्षिक कार्यक्रम

शिक्षणीय मद-बुद्धियों की शिक्षा-व्यवस्था विगत शताब्दी मे आरभ हो गई थी। अधिगम विकलागो की शिक्षा-व्यवस्था छठे दशक से प्रारभ हुई। भारत मे 1975 के बाद अधिगम विकलांगो की शिक्षा-व्यवस्था प्राय: सामान्य विद्यालयो मे विशेष-शिक्षा द्वारा दी जाती है। मद-बुद्धिओ की शिक्षा-व्यवस्था प्राय: पृथक विशेष विद्यालयो मे प्रदान की जाती है। विश्व शिक्षा के सदर्भ मे यह तथ्य निर्विवाद सत्य है कि 1975 तक शिक्षणीय मद-बुद्धि और अधिगम विकलाग एक ही शिक्षा-व्यवस्था मे शिक्षा ग्रहण करते रहे है। इनको सामान्य बच्चों मे रहने का कोई अवसर नही

मिलता था। 1975 के बाद "सामान्य नियंत्रित पर्यावरण" के सिद्धांतानुसार उनकी शिक्षा को सामान्य विद्यालयों मे स्थापन करने के प्रयास शुरु हुए। माना यह गया कि इन विकलांगो की शिक्षा को प्रमुख धारा मे भागीदारी मिले।

अमरीका मे अधिगम विकलांग तथा शिक्षणीय मंद-बुद्धियो के लिए सामान्य विद्यालय मे संसाधन-कक्ष तथा विशेष-शिक्षण-व्यवस्था की गई, जैसा कि किर्क और गालेगर के सर्वेक्षण से पता चलता है। भारत मे व्यवस्था तो हुई है कि अभी तक किसी सर्वेक्षण का प्रतिवेदन प्रकाश मे नहीं आया। सामान्य प्रेक्षण के आधार पर प्राय: संसाधन-कक्ष सेवा का लाभ नही लिया जा रहा। उपचार-शिक्षण की विशेष व्यवस्था जरूर हुई है। अभिभावकों के संदर्भ मे एक बात उल्लेखनीय है कि वे अपने बच्चो को अधिगम विकलांग कहना और कहलवाना बेहतर समझते हैं उसे मंदबुद्धि कहना उत्तम प्रतीत नही होता। शिक्षणीय मंदबुद्धि बच्चों के स्थापन और शिक्षण को समुचित समन्वित दिशा नही मिली। इस दिशा मे कार्य होना शेष है। अधिगम विकलांगो के लिए समन्वित शिक्षा पैर जमा रही है और कारगर नतीजे भी देनेवाली है।

शैक्षिक कार्यक्रमो के विषय मे उनका आधार निदान तथा निदानाधारित उपचार शिक्षण है। विल्सकी के अनुसार शिक्षणीय मंदबुद्धियों के लिए सामान्य पाठ्क्रम से निम्न स्तर का पाठ्यक्रम तैयार करने की जरूरत है। 1975 के बाद शिक्षा की सामान्य धारा के तहत उनके लिए विशेष पाठ्यक्रम निर्धारित किए जा रहे है जिसमे क्रियात्मक बौद्धिक कार्य, व्यवसायिक शिक्षा, सामाजिक कौशल, प्रशिक्षण तथा संज्ञानात्मक कौशलों का प्रशिक्षण शामिल किया गया है। इनमें से प्रत्येक को इस प्रकार प्रबंधित किया जाता है कि शिक्षणीय मंद-बुद्धि रोजाना की जिन्दगी को सुखद बना सके।

अधिगम विकलांगो का पाठ्यक्रम प्राथमिक स्कूलो मे बुनियादी कौशलो के उपचार शिक्षण पर विशेष बल देता है। माध्यमिक स्तर पर अध्ययन और परीक्षण देने के कौशल पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ऐसा सामान्य शिक्षा की धारा में जुड़ने के कारण हुआ है। अधिगम विकलांगो को विद्यालय मे कुछ समय सामान्य बच्चो के साथ पढाया जाता है। अत: सामान्य पाठ्यक्रम के अति-रिक्त उनको संसाधन-कक्ष अध्यापक के सहायक प्रयत्नो से प्रेरित किया जाता है। अत: अधिगम विकलांगो की शिक्षा का यह एक सार्थक पहलू भी है। इसके अतिरिक्त वे व्यावसायिक शिक्षा, स्वरोजगार तथा कालिज शिक्षा की भी तैयारी करते है।

हालमैन और काफमैन (1976) के शिक्षण-विधि संबधी विचार महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उनके अनुसार अधिगम विकलांगों की शिक्षण युक्तियां निदानात्मकता की अवधारणा पर आधारित होती हैं तथा उनके फलदायी वैयक्तिक उपचार शिक्षण की मांग करती है।

प्राथमिक कक्षाओं मे शिक्षणीय मंदबुद्धियों का कक्षा-शिक्षण संभव है लेकिन अधिगम विकलांगों को वैयक्तिक उपचार शिक्षण की जरूरत होती है। समन्वित शिक्षा एवं एकल शिक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन और परिणाम अभी प्राप्त नहीं हुए हैं।

सारांश में शिक्षणीय मंदबुद्धि तथा अधिगम विकलांगों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व्यवहार और शैक्षिक लक्षणों के अध्ययन-आधार पर कहा जा सकता है कि उनका स्थापन-निर्णय निदान स्तर के अपेक्षा सामान्य प्रेक्षण के आधार पर करना चाहिए। दूसरे इन दोनों वर्गों के बच्चों को वैयक्तिक-प्रभेद का आधार न बनाकर प्रत्येक बच्चे के वैयक्तिक लक्षणो का अध्ययन किया जाना चाहिए। अर्थात प्रत्येक बच्चे की सामर्थ्य और अयोग्यता को परखने पहचानने की जरूरत है। अनुसंधान का यह संकेत-सूत्र उपयोगी प्रतीत होता है कि अधिगम विकलांगों की शिक्षण व्यूह रचनाएं बच्चे की विलक्षणता से मेल खाती हों न कि मंदबुद्धियो के लिए कही गई सामान्य बातो पर केंद्रित हो।

अंत मे यह कहना अनिवार्य है कि प्रभावी अनुसंधान का दिशा-निर्देश यह होना चाहिए कि अधिगम विकलांग और शिक्षणीय मंदबुद्धि को कैसे शिक्षा दें। इसकी आवश्यकता नही है कि कहां शिक्षा दें। भारत मे दिशा अनुसंधान की अधिक अपेक्षाए है।

संदर्भ

क्रिकशेक डब्ल्यू० एम०, बेनजन आदि, **ए टीचिग मैथड फॉर ब्रेन इंजर्ड एंड हाईपर एक्टिव चिल्ड्रन**, सिराकूज यूनी० प्रेस, 1961.

ग्रॉसमैन, एच० जे० **कलासिफिकेशन इन मेटल रिटार्डेशन**, अमेरिकन एसोसिएशन ऑन मेन्टल डेफिसिएसी, वाशिंगटन, 1983.

हैगन, जे० डब्ल्यू० आदि, **कोगनेटिव डेवलपमेंट ऑफ दी लर्निग डिसएबिल्ड चाइल्ड**, इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ रिसर्च इन मेन्टल रिटार्डेशन, अक-2, एकेडेमिक प्रैस, न्यूयार्क, 1982

हालमैन डी० पी० एड कॉपमैन जे० एम०, **इंट्रोडकशन टू लर्निग डिसएबिलिटीज, ए साइको बिहेवियरल अप्रोच,** प्रिन्टीम हॉल इन्क, इगिलवुड क्लिफ्स, 1975

जॉनसन डी० एंड माइकल बस्ट, एच०, **लर्निग डिसएबिलिटीज एजूकेशनल प्रिसिपल्ज एंड प्रक्टिसिज**, ग्रून एड स्ट्रैटन, न्यूयार्क, 1967

किर्क, एस० ए० एड गॉलागेर जे० जे०, **एजूकेटिंग एक्सेपशनल चिल्ड्रन**, फोर्थ एडीशन, हाटन मिफलिन कपनी, बोस्टन, 1983

स्मिथ, आर० एम०, **एन इंट्रोडेक्शन टू मेन्टल रिटार्डेशन**, मैकग्रोहिल बुक क०, न्यूयार्क, 1971.

स्ट्राम ए० ए० एड केपहार्ट एन० सी०, **बिहेवियर डिफरेंसेज इन मेंटिली रिटार्डिड चिल्ड्रन मेजरड बाई ए न्यू बिहेवियर रेटिग स्केल**, अमेरीकन जनरल आफ साइकाट्री, 96, 1920.

स्ट्राम ए० ए० एड वर्नर, एच० **डिस आर्डर्स आफ कंसेप्चुअल थिंकिग इन दी ब्रेन इंजर्ड चाइल्ड**, जरनल आफ नर्वस एंड मेटल डिस आर्डर, 96 1942

सुतारिया एस० डी०, **स्पेसिफिक लर्निग डिसएबिलिटीज नेचर एंड नीड**, चार्ल्स सी० टोम्स, पब्लिशर, स्प्रिग फील्ड, 1985

वर्नर ए० एड स्ट्राम ए० ए०, **टाइप्स आफ विजुओ-मोटर एक्टिवीटी इन देअर रिलेशन टू लो एंड हाई परफोर्मेंशन एजिज**, प्रोसीडिंग आफ दी अमेरिकन एसोसिएशन आन मेन्टल डेफिसियेसी 44 : 1939.

पैथेलॉजी ऑफ फिगर-ग्राउंड रिलेशन इन दी चाइल्ड, जनरल आफ एब्नोरमल सोशल साइकलोजी 36 . 1941.

□□

गणित-संप्राप्ति में पिछड़ापन : एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० राजेन्द्र सिंह

गणित शिक्षण की वैयक्तिक एवम् सहायक उपचार सामग्री और शिक्षण युक्तियों की रचना के लिए यह आवश्यक है कि हम गणित संप्राप्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों, जैसे—संप्राप्ति-अभिप्रेरणा, सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर, व्यक्तित्व के गुण तथा सज्ञानात्मक (कागनेटिव) तत्व, व्यक्ति की मानसिक क्षमता और उसकी शैक्षिक उपलब्धि के बीच अन्त: सम्बन्ध का अध्ययन करें।

विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र मे गणित सप्राप्ति के पिछडे-पन की आम शिकायत है। सामान्य शिक्षार्थियो की काफी संख्या गणित-संप्राप्ति मे उत्साहजनक उपलब्धि नही दिखाती। नवी और दसवी कक्षा के स्तर पर, प्राय. सभी बोर्डों द्वारा गणित एक अनिवार्य विषय है, जिसके अधिगम में अधिकाश विद्यार्थियो को कठिनाई होती है। इस कठिनाई के निदानात्मक अध्ययन भी किये गये है, लेकिन उसके उपचार शिक्षण मे अच्छे परिणाम नही निकले हैं। गणित शिक्षण की वैयक्तिक एव सहायक उपचार सामग्री और शिक्षण युक्तियो की रचना के लिए यह आवश्यक है कि हम गणित-सप्राप्ति को प्रभावित करने वाले तत्वो जैसे – सप्राप्ति-अभिप्रेरणा, सामाजिक-सास्कृतिक स्तर, व्यक्तित्व के गुण तथा सज्ञानात्मक (कागनेटिव) तत्व, व्यक्ति की मानसिक क्षमता और उसकी शैक्षिक उपलब्धि के बीच अन्त सम्बन्ध का अध्ययन करें।

भारतवर्ष मे सामाजिक और आर्थिक न्याय के आधार पर एक नये समाज के निर्माण करने की जरूरत है। इस आधार पर नये समाज का निर्माण शिक्षा से ही सम्भव है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) ने शैक्षिक पद्धति के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा, "हमारी शैक्षिक पद्धति का दिशा-निर्देशन हमारे सामाजिक ढाचे और हमारी सभ्यता को ध्यान मे रखकर होना चाहिये"। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-54) ने भी इसी आधार को केन्द्र मे रखकर विचार व्यक्त किये है।

भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66) के अनुसार, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का महान कार्य हमारे विद्यालयो से निकलने वाले विद्यार्थियो के गुणों पर निर्भर करता है। इन गुणो का विकास विद्यालय मे शिक्षा द्वारा सुनियोजित किया जा सकता है। आयोग ने आर्थिक विकास, आत्म-निर्भरता एव पूर्ण रोजगार, सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकीकरण और राजनैतिक विकास के अभाव को विकास की महत्वपूर्ण समस्याओं मे स्वीकार किया है। आयोग ने दो प्रमुख कार्यक्रमो पर बल दिया है।

(1) प्राकृतिक समाधनो का विकास -कृषि आधुनिकीकरण तथा औद्योगिक गति के कार्यक्रम और

(2) मानव ससाधनो का विकास—समुचित सगठित शिक्षा के कार्यक्रम। दोनो कार्यक्रमो द्वारा इन जटिल, आवश्यक तथा स्वतन्त्र समस्याओ से निपटा जा सके। (रिपोर्ट 1966, पृष्ठ 1–3)

इन तीनो आयोगो के बीच तथा इनके बाद भी बहुत-सी रिपोर्ट तथा सुझाव रखे गये जिनमे लगभग एक ही बात पर जोर दिया गया है—राष्ट्रीय चेतना तथा विकास मे शिक्षा की भूमिका। निस्सदेह शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम माना गया है, जिससे लोगो को युगो से चले आ रहे दकियानूसी विचारो के बन्धन से मुक्त कराया जा सकता है और उन्हे जीवन के नए एव आधुनिक तरीके अपनाने का अवसर दिया जा सकता है। शिक्षा का कार्य विद्यार्थियो के लिए प्रेरणात्मक बनाना एक समस्या है। इसी कारण शिक्षाविदो तथा शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरणा के लिए सिद्धांत या सप्राप्ति-अभिप्रेरणा पर अधिक बल दिया है।

सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा मानव के गत्यात्मक, रचनात्मक तथा सृजनात्मक पक्ष पर बल देती है। यह व्यक्ति के साधन-सम्पन्न गुण का वर्णन करती है और यह भी बताती है कि वह इन साधनो का उपयोग कैसे कर सकता है ताकि भविष्य मे वह उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त कर सके।

उपलब्धि-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने वाले किसी भी समाज मे उपलब्धि प्राप्त करने वाले केवल वे ही व्यक्ति नही होते जिनमे उच्चस्तरीय क्षमता होती है, बल्कि उसमे वे व्यक्ति भी शामिल हैं जिन्हे उनका सामाजिक अथवा सास्कृतिक वातावरण उपलब्धि के लिए मजबूर करता है।

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहा कि सामाजिक वातावरण मे निम्न-स्तरीय प्रेरणा पाई जाती है और इसी कारण इस देश में माध्यमिक विद्यालयो की परीक्षाओ मे असफल विद्यार्थियो की सख्या अधिक होती है। शिक्षाविदो ने इस बात पर बल दिया है कि हमे सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा तथा शैक्षिक-उपलब्धि के बीच सम्बन्ध को समझना जरूरी है।

इसलिये सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा को अपनी सस्कृति के सदर्भ मे अध्ययन करना अपेक्षित है। अत· यह आवश्यक जान पड़ता है कि असज्ञानात्मक (नान कागनेटिव) तत्वों —जैसे संप्राप्ति-अभिप्रेरणा, सामाजिक सास्कृतिक स्तर, व्यक्तित्व के गुण तथा सज्ञानात्मक (कागनेटिव) तत्व—जैसे व्यक्ति की मानसिक क्षमता और उसकी शैक्षिक उपलब्धि के बीच अन्त सम्बन्ध की जाच की जाये।

प्रत्यादर्श (सॉम्पल)

इस अध्ययन मे अनुसन्धान के अनुरूप लगभग सभी बातों का ध्यान रखकर हरियाणा और सघ शासित प्रदेश दिल्ली के हिन्दी माध्यम विद्यालयो को चुना गया। सघ शासित प्रदेश दिल्ली के निकटस्थ गुडगाव-रेवाडी तथा हरियाणा राज्य के निकटस्थ दक्षिण दिल्ली क्षेत्र को अध्ययन हेतु स्वीकार किया गया।

उपकरणों का विवरण

इस अनुसन्धान मे तीन उपकरणो का प्रयोग किया गया। सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा की जांच के लिये बी० एन० मुखर्जी का वाक्य पूर्ति परीक्षण, "रेवन की प्रोग्रेसिव मैट्रिसेस", छात्रो की बुद्धि-क्षमता के माप के लिए और गणित सम्प्राप्ति के लिए निरीक्षक द्वारा निर्मित वस्तुनिष्ठ गणित सम्प्राप्ति परीक्षण का उपयोग किया गया।

सामग्री का संग्रह

शहरी क्षेत्रो के सात राजकीय विद्यालय—चार दक्षिण दिल्ली क्षेत्र (कुल छात्र सख्या=184) और तीन दक्षिण दिल्ली के निकट हरियाणा राज्य (छात्र सख्या=184) चुने गये। छात्रो पर तीन उपकरणो का प्रयोग किया गया और 368 छात्रो की उत्तर-पुस्तिकाये जाच के लिये इकट्ठी की गई। उत्तर-पुस्तिकाओ की जाच, जाच-कुजियो की सहायता से की गई और आकड़ो को सारणीबद्ध किया गया।

सामग्री का विश्लेषण

प्रस्तुत जाचकर्ता ने पहले इस बात को जानने का प्रयास किया कि क्या दिल्ली से लिए गए चार तथा हरियाणा के तीन विद्यालयो मे सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा के दृष्टिकोण से एक ही जैसे विद्यार्थी है अथवा नहीं। सारणी-1, दिल्ली के विद्यालयो मे सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा प्राप्ति सख्याओ के बीच मध्यमानो के अन्तर की सार्थकता को "टी-मूल्यो" द्वारा प्रदर्शित करती है।

सारणी-1 के अध्ययन से पता चलता है कि दिल्ली के चारो विद्यालयो के विद्यार्थियो की सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा मे कोई महत्वपूर्ण अतर नही है। अत. यह बात मानी जा सकती है कि सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा के संदर्भ मे दिल्ली के विद्यार्थी एक जैसे है और इन चारो समूहो को मिलाकर एक ही समूह का नाम दिया जा सकता है।

सारणी-2 इस बात को दर्शाती है कि हरियाणा के तीनो विद्यालयो के विद्यार्थियो मे सम्प्राप्ति अभिप्रेरणा मे कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही है। अत. यह बात मानी जा सकती है कि सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा के सदर्भ मे हरियाणा के विद्यार्थी एक ही समूह से सम्बन्ध रखते है और इन्हे भी एक ही समूह का नाम दिया जाना चाहिये।

प्रोडक्ट-मूवमेट सहसम्बन्ध गुणाक विधि (पियर्सन "आर") का प्रयोग करने से पहले विभिन्न चरो के जोड़ो

सारणी-1

दिल्ली के विद्यालयों में संप्राप्ति अभिप्रेरणा प्राप्ति संस्थाओ के बीच मध्यमानों के अंतर की सार्थकता को "टी-मूल्यों" द्वारा प्रदर्शित करते हुए

विद्यालय	राजकीय बाल विद्यालय, आर० के० पुरम-2 संख्या =52 मध्यमान =18 02 प्रामाणिक विचलन=3 48	राजकीय बाल विद्यालय, आर० के० पुरम-3 संख्या=48 मध्यमान=18.16 प्रामाणिक विचलन=3 56	राजकीय बाल विद्यालय, नेताजी नगर संख्या=46 मध्यमान=18 प्रामागिक विचलन=3 74	राजकीय बाल विद्यालय, सरोजनी नगर संख्या=38 मध्यमान= 17.76 प्रामाणिक विचलन= 4.24
राजकीय बाल विद्यालय, आर० के० पुरम-2	—	0.1932	0 0272	0.3163
राजकीय बाल विद्यालय, आर० के० पुरम-3	—	—	0.2102	0.4680
राजकीय बाल विद्यालय, नेताजी नगर	—	—	—	0 2712

टी मूल्य की सार्थकता स्वातत्रयाश 183 के लिये ·05 पर =1·960 और ·01 पर=2·576

सारणी-2

हरियाणा के विद्यालयों में संप्राप्ति अभिप्रेरणा प्राप्ति संस्थाओ के बीच मध्यमानों के अंतर की सार्थकता को टी-मूल्यो द्वारा प्रदर्शित करते हुए :

विद्यालय	राजकीय उच्च विद्यालय, गुड़गांव संख्या=80 मध्यमान= 17 41 प्रामाणिक विचलन= 3.09	राजकीय उच्च विद्यालय, रेवाड़ी संख्या= 60 मध्यमान=17.73 प्रामाणिक विचलन=3.13	राजकीय उच्च विद्यालय, तावडू संख्या= 44 मध्यमान=17.77 प्रामाणिक विचलन= 3.34
राजकीय उच्च विद्यालय, गुड़गाव	—	2012	·2149
राजकीय उच्च विद्यालय, रेवाड़ी	—	—	·02439

टी० मूल्य की सार्थकता स्वातत्रयाश 183 के लिये ·05 पर=1·960 और .01 पर=2·576

सारणी-3

दिल्ली और हरियाणा के समूहो के विभिन्न चरों के एफ-मूल्य और पी-मूल्य और स्वातंत्र्यांश (डी० एफ०) दर्शाती है :

$अ_1$	$अ_2$	$अ_3$
दिल्ली	2·83 (डी० एफ० 176 6) पी<·01	1·148 (डी० एफ० 177.5) पी< 01
हरियाणा	·393 (डी० एफ० 176 6) पी<·01	392 (डी० एफ० 177·5) पी<·01
दिल्ली		1.08 (डी० एफ० 276 6) पी<·01
हरियाणा		2·89 (डी० एफ० 176·6) पी< 01

$अ_1$: संप्राप्ति-अभिप्रेरणा
$अ_2$. बुद्धि-क्षमता
$अ_3$: गणित-संप्राप्ति

उपरोक्त सारणी के देखने से ज्ञात होता है कि सभी क्षेत्रो में एफ-मूल्य ·01 से कम है (पी< 01) इसलिये विभिन्न चरों के बीच समाश्रयण रेखीय है ।

सारणी-4

दिल्ली और हरियाणा के विद्यालयों के विभिन्न चरों के कार्य-वर्गमूल्य, पी-मूल्य और स्वातंत्र्यांश (डी० एफ०) दर्शाती है :

चर/विद्यालय	$अ_1$	$अ_2$	$अ_3$
दिल्ली के विद्यालय सख्या=184	9·634 डी० एफ०=3 ·05>पी> 62	4·421 डी० एफ०=5 05>पी>·30	6·792 डी० एफ०=·5 ·30>पी> 20
हरियाणा के विद्यालय सख्या=184	1·996 डी० एफ०=4 ·80>पी>·70	9·173 डी० एफ०=5 ·10>पी> 05	10 414 डी० एफ०=4 05>पी> 02

उपरोक्त सारणी के विवेचन से पता चलता है कि सभी क्षेत्रो में कार्य-वर्ग मूल्य ·01 स्तर से कम है (पी>·01) इसलिये सभी चरों के लिये कहा जा सकता है कि एक समान वितरित हैं ।

सारणी-5

दिल्ली और हरियाणा के छात्रों का सहसम्बन्ध गुणांक (आर) संप्राप्ति अभिप्रेरणा (अ) तथा बुद्धि क्षमता ($अ_1$) और गणित संप्राप्ति ($अ_2$) के बीच प्रदर्शित करते हुए

विद्यालय	संख्या	"आर" का प्राप्त मूल्य	
		$आर_{1\ 2}$	$आर_{1\cdot 3}$
दिल्ली	184	·323	·380
		पी<·01	पी< 01
हरियाणा	184	·295	·280
		पी<·01	पी<·01

संख्या=184 के लिये डी॰ एफ॰ (सख्या-2)=182, आर=·160 सार्थक है ·01 स्तर पर।

सारणी-6

दिल्ली और हरियाणा के छात्रों के गणित सप्राप्ति पर अन्य चरों के प्रभाव का आंशिक समाश्रयण गुणांक (बी), उनके सार्थक टी-मूल्य, सहसम्बन्ध गुणांक और मानक सहसम्बन्ध गुणांक का गुणनफल (बीटा आर), बहुल निश्चित गुणाक (आर) तथा बहुल सहसम्बन्ध गुणांक (आर) दर्शाती है ·

चर —— विद्यालय	संप्राप्ति-अभिप्रेरणा $अ_1$	बुद्धिक्षमता $अ_2$	$आर^2$	आर
	बी=·142*	·332**	2835*	·7824
दिल्ली	टी=2 53	6·26		
(संख्या=184)	(बीटा॰ आर॰)			
	=·0496	·2339		
हरियाणा	बी=·052	·442**		
(सख्या=184)	टी=·749	7·95	·3809*	·7492
	(बीटा॰ आर॰)			
	=·0111	·3798		

**सार्थक ·01 स्तर पर

*सार्थक ·05 स्तर पर

आंशिक समाश्रयण गुणाक की सार्थकता के लिये

स्वातत्र्यांश (डी॰ एफ॰) (सख्या-एम-1)=179

टी=1·975 स्तर 02 और

=2·604 स्तर ·01

आर= ·210 सार्थक ·05 स्तर पर और

= ·769 सार्थक ·01 स्तर पर

की समाश्रयण की रैखिकता और बारम्बारता की प्रसमता को ज्ञात किया। इसके लिए "बाकर और लिव" का एफ-टैस्ट प्रयोग किया। सारणी-3 मे दिल्ली और हरियाणा के समूहो का विभिन्न चरो से सम्बन्धित एफ-मूल्य दिया गया है।

अब प्रसमता की जाच के लिए वर्तमान जाचकर्ता के कार्य-वर्ग परीक्षण का प्रयोग किया। सारणी-4 में विभिन्न चरो के कार्य वर्ग मूल्यो का उल्लेख किया गया है।

यह देखने के लिए कि सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा का बुद्धि क्षमता तथा गणित सम्प्राप्ति से सम्बन्ध सार्थक है या नहीं "पियर्सन प्रोडक्ट मूमेंट" सहसम्बन्ध गुणाक (आर) सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा और बुद्धि तथा गणित सम्प्राप्ति के बीच दोनो समूहो—दिल्ली तथा हरियाणा के स्कूल छात्रो का ज्ञात किया। सारणी-5 मे दिल्ली और हरियाणा के छात्रों का सहसम्बन्ध गुणाक (आर) सम्प्राप्ति अभिप्रेरणा तथा बुद्धि क्षमता और गणित सम्प्राप्ति के बीच दिखाया गया है।

सारणी-5 के परिशीलन से पता चलता है कि सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा और बुद्धिक्षमता तथा गणित सम्प्राप्ति के बीच दोनो दिल्ली और हरियाणा के छात्रो मे सम्बन्ध .01 स्तर (पी> 01) पर सार्थक है। अत हम कह सकते है कि सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा दिल्ली और हरियाणा के छात्रो की बुद्धि क्षमता और गणित-सम्प्राप्ति को प्रभावित करता है। इस सम्बन्ध को और अधिक सुनिश्चित करने के लिये अनुसन्धानकर्ता ने बहुल समाश्रयण विश्लेषण विधि का प्रयोग किया, जिससे गणित-सम्प्राप्ति पर अन्य चरो के प्रभाव का पता चल सके। सारणी-6 में दिल्ली और हरियाणा के छात्रो के गणित-सम्प्राप्ति पर अन्य चरों के प्रभाव का आशिक समाश्रयण गुणाक (बी), उनके सार्थक (टी—मूल्य) सहसम्बन्ध गुणाक और मानक सहसम्बन्ध गुणाक का गुणनफल (बीटा० आर) बहुल निश्चित गुणाक (आर^2) तथा बहुल सहसम्बन्ध गुणाक (आर) बतलाती है।

इस सारणी को देखने से पता चलता है कि दिल्ली के विद्यालयो के छात्रो मे बुद्धि क्षमता का आंशिक समाश्रयण गुणाक 01 स्तर पर सार्थक है तथा सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा का .05 स्तर पर सार्थक है, जबकि हरियाणा के छात्रों मे आशिक समाश्रयण गुणाक बुद्धि क्षमता का .01 स्तर सार्थक है और सम्प्राप्ति अभिप्रेरणा का सार्थक नही है।

इस प्रकार दिल्ली के छात्रो की गणित-सम्प्राप्ति मे सम्प्राप्ति अभिप्रेरणा और बुद्धि-क्षमता का सार्थक योगदान है जबकि हरियाणा के छात्रो की गणित-सम्प्राप्ति मे केवल बुद्धिक्षमता का सार्थक प्रभाव है।

उपरोक्त विश्लेषण से पता चलता है कि दिल्ली के छात्रो मे गणित-सम्प्राप्ति को बुद्धिक्षमता अधिक तथा सम्प्राप्ति-अभिप्रेरणा कुछ कम प्रभावित करते हैं, जबकि हरियाणा के छात्रो मे गणित-सम्प्राप्ति पर बुद्धिक्षमता का ही प्रभाव दिखाई पड़ा। और दोनो वर्गों की शिक्षण-युक्तियो के आधार समझकर प्रभावी गणित शिक्षा की आवश्यकता है।

संदर्भ

एटकिन्सन, जे० डब्ल्यू०, **थ्योरी आफ अचीवमेंट मोटीवेशन**, जॉन विलो एण्ड सस इन्को० न्यूयार्क, 1966.

डी० सी० को०, जान पी०, **एज्यूकेशनल टेक्नोलोजी**, रिन्हार्ट एण्ड विन्सटन, न्यूयार्क, 1964

ग्रोनलुण्ड, एन० ई०, **कन्स्ट्रक्टिंग अचीवमेंट टेस्ट्स**, एन्गलवुड क्लिफस . प्रेन्टिस हाल, 1966.

मैकविल लैंड, डी० सी०, **दी अचीवमेंट सोसाइटी**, डी० वैननोस्ट्रैंड क० इन्को, न्यूयार्क, 1961.

मुखर्जी, बी० एन०, **ए फोर्स्ड चायस टेस्ट आफ अचीवमेंट मोटीवेशन**, जर्नल आफ इडियन एकेडेमिक एप्लाइड साइकोलोजी, 1965, 85-92

पोफम, डब्ल्यू० एच०, **एज्यूकेशनल स्टेटिस्टिक्स यूज एण्ड एन्टरप्रेटेशन**, हार्पर एण्ड रो, पब्लिशर्ज, न्यूयार्क, 1967. □□

नई शिक्षा नीति के संदर्भ में विशेष शिक्षा हेतु शिक्षण प्रशिक्षण

प्रो० सत्यपाल रुहेला

अनेक स्रोतों से पता चला है कि भारत की बाल जनसंख्या का 10% भाग विकलाग है, और एक विकलाग बालक की शिक्षा पर औसतन व्यय 100-1000 रुपये प्रति वर्ष ही माना जाये तो सभी विकलाग बालकों को शिक्षित करने के लिए भारत को 3000 करोड़ रुपये प्रति वर्ष व्यय करने पडेगे।

आज भारत में केवल 30,000 विकलांग बालक ही किसी प्रकार की शिक्षा व प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं, शेष 11 लाख 70 हजार विकलांग बालक उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से वंचित ही रह रहे है। ये आंकडे शिक्षाशास्त्रियों तथा सभी संवेदनशील नागरिकों के रक्त को खौला देने वाले है। इतनी बडी संख्या में विकलांगों को शिक्षित करने के लिए विशेष शिक्षा में शिक्षण प्रदान करने वाले शिक्षकों का प्रशिक्षण कार्य बहुत सामयिक महत्व का है।

विशेष शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक प्रशिक्षण की सुविधाओ के प्रसार तथा गुणात्मक सुधार की अब कितनी जबरदस्त आवश्यकता है, आशा है देश के शिक्षा आयोजको, शिक्षक प्रशिक्षकों तथा शिक्षाशास्त्रियो को अब तक भली-भाति अनुभव हो गया होगा। नई शिक्षा नीति (1986) के "प्रोग्राम आफ ऐक्शन" नामक महत्वपूर्ण दस्तावेज मे तथा यूनेस्को के प्रकाशनो व अन्य स्रोतो द्वारा दिये गये विविध प्रकार के विकलागो के बारे में जो आकड़े प्रदान किये गये है वे विशेष शिक्षा तथा विशेष शिक्षा के शिक्षक प्रशिक्षण की अनिवार्यता तथा तुरन्त आवश्यकता को गभीरतापूर्वक प्रकट करते है।

नई शिक्षा नीति के "प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन" दस्तावेज मे बतलाया है कि—

. भारत मे 1 करोड़ 20 लाख विकलाग है जिनमे 26 लाख 4-15 आयु वर्ग के है। प्रतिवर्ष 17 लाख मानसिक विकलाग बालको की सख्या उनमे जुड़ती जायेगी। वर्तमान 26 लाख विकलाग बालको मे 12 लाख शैक्षिक क्षमता मे विकलाग है, 7.4 लाख बालक बोली-सम्बन्धी बाधाग्रस्त हैं, 5.3 लाख सुनने सम्बन्धी बाधा से ग्रस्त है तथा 12 लाख बालक नेत्रहीनता के शिकार है।

. .0-4 आयु वर्ग मे 14 लाख ऐसे विकलाग बालक है जिनके लिये खोज, पहचान, मूल्याकन तथा शिक्षा हेतु आरभिक प्रेरणा व तैयारी का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है।

..देश मे इस समय 800 व 1000 की संख्याओ के बीच ही विशेष शालाए है जिनमे केवल 5% मानसिक रूप से विकलांग बालको को शिक्षा सम्बन्धी सुविधाए मिल रही है। ये शिक्षा सस्थाए भी राज्यो की राजधानियों व बडे नगरो में ही बसी हुई है। ग्रामीण क्षेत्रो की लगभग 80% बाधाग्रस्त बाल-जनसख्या को इनसे कोई लाभ नही मिल रहा है।

..देश मे 20 लाख भयकर रूप से विकलाग बालक हैं, यदि उन सबको विशेष शालाओ में भेजने का सकल्प किया जाये और प्रत्येक विशेष शाला मे 150-200 बालक रखे जाये तो लगभग 10,000 विशेष शालाओ की देश को तुरन्त आवश्यकता होगी।

. .वर्तमान योजना अवधि मे सीखने सम्बन्धी बाधाओं से ग्रस्त तथा अन्य कुछ कम गंभीर बाधाओं से ग्रस्त बालको की सामान्य शालाओ मे भर्ती व उनको उनमें बनाये रखने की सख्या मे 25% की दर से वृद्धि होने का अनुमान है।

...जो विशेष शालाएं आजकल चल रही हैं उनमें से अधिकतर स्वैच्छिक सस्थाओ के द्वारा चलाई जा रही है

विशेष शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे प्रशिक्षण आरंभ करने से पहले ही आवश्यक विशेष उपकरण, संयंत्र, शिक्षा साधन अवश्य उपलब्ध होने चाहिएं अन्यथा सारा प्रशिक्षण खोखला, निरर्थक व हास्यास्पद बन कर रह जाएगा।

विशेष शिक्षा की पुस्तकें अधिकतर अंग्रेजी मे है तथा वे बहुत टेकनिकल भाषा मे लिखी हुई हैं। हिन्दी मे कुछ लेख व पुस्तके जो छप रही हैं वे भी भाषा की दुरूहता, शाब्दिक अनुवाद तथा संस्कृतमय हिन्दी के कारण सामान्य प्रशिक्षणार्थियो के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो पा रही है।

तथा उनमे सुविधाओ, प्रशिक्षित अध्यापको तथा आवश्यक उपकरणों का घोर अभाव है।

अन्य स्रोतो से पता चलता है कि भारत की बाल जनसख्या का 10% भाग विकलाग है, और एक विकलाग बालक की शिक्षा पर औसतन व्यय 100-1000 रुपये प्रति वर्ष ही माना जाये तो सभी विकलाग बालको को शिक्षित करने के लिये भारत को 3000 करोड़ रुपये प्रति वर्ष व्यय करने पडेगे।

आज भारत मे केवल 30,000 विकलांग बालक ही किसी प्रकार की शिक्षा व प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे है, शेष 11 लाख 70 हजार विकलाग बालक उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से वचित ही रह रहे हैं। ये आकड़े शिक्षाशास्त्रियो तथा सभी सवेदनशील नागरिको के रक्त को खौला देने वाले है। इतनी बडी सख्या में विकलागो को शिक्षित करने के लिये विशेष शिक्षा मे शिक्षण प्रदान करने वाले शिक्षको का प्रशिक्षण कार्य बहुत सामयिक महत्व का है।

विशेष शिक्षा में शिक्षक प्रशिक्षण, वर्तमान सुविधाएं तथा सुझाए गए प्रावधान

विश्वविद्यालयी स्तर पर विशेष शिक्षा मे शिक्षक प्रशिक्षण की सुविधाएं एन० एन० टी० विश्वविद्यालय, बम्बई तथा जामिया मिलिया के शिक्षा विभाग मे है। अन्य विश्वविद्यालयो को इस दिशा मे अभी पहल करनी है। वर्तमान प्रशिक्षण व्यवस्थाए बहुत सतोषजनक स्तर की नही है—कई कारण है इनके। विकलागो के राष्ट्रीय सस्थान जैसे 'नेशनल इस्टीटयूट आफ विजुएली हैडीकैप्ड, देहरादून', 'नेशनल इंस्टीट्यूट आफ मेटेली हेडीकैप्ड' अपने अपने प्रकार के विशेषीकृत शिक्षक प्रशिक्षण व पाठ्यक्रम चलाते है जिनका स्तर उत्तम है, लेकिन उनकी उपाधियो को चूकि विश्वविद्यालयो की डिग्रियो व डिप्लोमाओ के समकक्ष नही माना जाता, अत प्रशिक्षणार्थियो मे निम्नता का भाव व कुछ असतोष रहता ही है। इतने बडे देश की विशाल विकलांग बाल जनसंख्या के लिए अध्यापक तैयार करने के लिए विद्यमान ये कुछ सस्थाये ही है। निस्सदेह ये बहुत कम है और इनमे सुधार की गुजाइश बहुत है।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के 'प्रोग्राम आफ ऐक्शन' दस्तावेज मे विशेष शिक्षा मे शिक्षक प्रशिक्षण के महत्व को बहुत गभीरता से अनुभव किया गया है, लेकिन उस दस्तावेज ने इस कार्यक्रम को चलाने का लगभग सारा भार दो राष्ट्रीय संस्थाओ—नेशनल इस्टीट्यूट आफ ऐजूकेशनल प्लानिंग एण्ड ऐडमिनेस्ट्रेशन, नई दिल्ली, तथा एन० सी० ई० आर० टी० पर रखने का प्रयास किया है। लेखक को संदेह है कि यह सभवतया अधिक सफलता दिलाने वाला सुझाव नहीं है। पहली सस्था मे अब तक विशेष शिक्षा के प्रशिक्षण को प्रदान करने की न तो कोई परम्परा रही है, और न वहा इस विषय का विशेषीकृत साज-सामान, प्रशिक्षण वर्ग व पाठ्यक्रम ही है। हथेली पर सरसों उगाना सभव नही होता। एन० सी० ई० आर० टी० की विशेष शिक्षा की इकाई की अभी नयी शुरुआत हुई है, कुछ समय मे साधन सुविधाओ से सम्पन्न होने पर यह निस्सदेह उत्तम कार्य कर सकेगी। चार 'रीजनल कालेजेज आफ एजुकेशन' हैं जिनसे भी नई शिक्षा नीति ने आशा की है कि वे विशेष शिक्षा का प्रशिक्षण कार्य तेजी से करेंगे, लेकिन उनमे साधन-सुविधाओ व प्रशिक्षित प्रशिक्षको का अभाव तो आज है ही, इसके अतिरिक्त उनकी एक बड़ी कठिनाई यह है कि ये कालेज स्वय न तो विश्वविद्यालय है और न विश्वविद्यालयो के समकक्ष माने जाने वाली संस्थायें है। अत वे स्वय सुगमतापूर्वक नये पाठ्यक्रम आरम्भ नही कर सकते। राज्यो के विश्व-

विद्यालयो से वे सम्बद्ध हैं, तथा विश्वविद्यालयो के शिक्षा सकायो के पाठ्यक्रम निर्धारण समितियो मे उनकी कितनी चलती है, यह भलीभाति बतलाना सम्भव नही है।

देश मे विशेष शिक्षा के लिए प्रशिक्षित शिक्षको की भयकर रूप से बढती हुई माग को समझते हुए कुछ चतुर व व्यावसायिक दृष्टि से सम्पन्न सस्थाओ व व्यक्तियो ने विशेष शिक्षा के एक माह, तीन माह या ऐसे ही न्यूनाधिक अवधि के पाठ्यक्रम चलाने का व्यापार आरम्भ कर दिया है। वाई० एम० सी० ए० दिल्ली ने ऐसे अमान्यता प्राप्त अंशकालिक (पार्ट टाइम) तीन माह के कार्यक्रम चला दिए है, अन्य सस्थाए भी इस व्यापार मे उतरने की तैयारी कर रही है। न उनके पास प्रशिक्षित प्रशिक्षक है और न सभी आवश्यक उपकरण व उच्च स्तर के पाठ्यक्रम। शिक्षा समाजशास्त्री होने के नाते लेखक इस प्रकार के विशेष शिक्षा के व्यापारीकरण के खतरो से देश के शिक्षा आयोजको, विश्वविद्यालयो के शिक्षा विभागो के अध्यक्षो व प्रशिक्षको तथा सभी शिक्षा प्रबन्धकों का आगाह करना चाहता है कही विशेष शिक्षा का भी वही हश्र न हो जाये जो आज तथाकथित 'नरसरी एजूकेशन' और 'पब्लिक स्कूल एजूकेशन' का हमारे देश मे हो गया है—जिनकी दुकाने गली-गली मे चल रही हैं और विवश जनता का निर्भयतापूर्वक शोषण कर रही हैं। ऐसी अमान्य शिक्षा सस्थाओ को कैसे नियत्रित किया जा सकेगा यह एक गंभीर शैक्षिक समस्या शीघ्र ही उभरकर सामने आने वाली है।

इन वास्तविकताओ को दृष्टिगत करते हुए यही तर्क सगत व उपयुक्त लगता है कि विश्वविद्यालयो के शिक्षा विभागो को ही अधिक से अधिक सख्या मे शीघ्रताशीघ्र विशेष शिक्षा के शिक्षक-प्रशिक्षण की व्यवस्था का नेतृत्व सभालना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण व उपयोगी नवाचार होगा। यह स्वाभाविक ही है कि जैसा कि प्रत्येक शैक्षिक नवाचार के सम्बन्ध मे होता है, कई लोग इसके बारे में बहुत शकित होंगे और कई लोग इसके बारे मे बहुत उत्साही। चूकि जामिया मिलिया इस्लामिया मे लेखक को विशेष शिक्षा के प्रशिक्षण का चार वर्ष का अनुभव रहा है तथा उसे अन्य सस्थाओं को देखने व उनके कार्यकर्ताओं से मिलकर समस्याओं को कुछ सीमा तक समझने का अवसर मिला है, अत: वह उन सभी विश्वविद्यालयो को जो विशेष शिक्षा के प्रशिक्षण पाठ्यक्रमो को आरम्भ करने को लालायित है या होंगे, सभावित बाधाओ या कठिनाइयो से आगाह करना चाहता है।

विश्वविद्यालयों में विशेष शिक्षा का शिक्षक प्रशिक्षण : नवाचार के चार खतरे

कार्यकर्ताओ का वास्तविक अनुभव निस्सदेह भावावेशपूर्ण भाषा मे पवित्र संकल्पो का करते हुए लिखे गए शिक्षा नीति के प्रतिवेदनो व प्रबुद्ध उत्साही शिक्षाशास्त्रियो के ओजस्वी भाषणो से भिन्न ही होता है। इसी परिप्रेक्ष्य मे लेखक यह बतलाना चाहता है कि

1. चूँकि विशेष शिक्षा का कार्यक्रम नया और महत्वपूर्ण है और इसके बारे मे बहुत जागृति या चर्चा अब हो गई है, अत. ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालय आयोग बहुत बेकरारी से किसी भी विश्वविद्यालय का जो इसमे शिक्षण प्रशिक्षण करना चाहे, अनुदान देने को तैयार रहता है। आरम्भ मे अनुदान बहुत उत्साह से दिया जाता है लेकिन उसके बाद वहा से वार्षिक अनुदान की रकम प्राप्त करना टेढी खीर ही रहती है। वहा की शैक्षिक नौकरशाही उत्साही विश्वविद्यालयीय शिक्षक प्रशिक्षकों की आशाओ पर बहुत सा ठडा पानी डाल देती है। जामिया मिलिया मे हमे अभी तक पिछले दो सत्रो से विशेष शिक्षा के बजट की धनराशि विश्वविद्यालय अनुदान से नही मिली है जबकि हम तो नई दिल्ली मे ही स्थित है। धन के अभाव या देरी मे भवन, साधन सामग्री, उपकरण यहां तक कि शिक्षको के वेतन व छात्रवृत्तियो की व्यवस्था करना कठिन हो जाता है।

2. विदेशो मे प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले विशेष शिक्षा के प्रशिक्षको या विशेषज्ञो का सामान्य विश्वविद्यालयीय शिक्षा विभागो मे भलीभाति सामजस्य या समाजीकरण नही हो पाता। उन्हे महगे, विदेशी विलासपूर्ण तथा अत्यधिक स्वतन्त्रता (उच्छृखलता) के पर्यावरण मे कार्य करने की आदत पड़ जाती है, जो हमारे देश के सामान्य विश्वविद्यालयीय शिक्षा विभागो मे चल नही पाती। अत हमे अपने पर्यावरण मे ही उत्तम शिक्षक-प्रशिक्षक तैयार करने होंगे, भले ही हम विदेशी साहित्य का उपयोग कर ले।

3. विशेष शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे प्रशिक्षण आरम्भ करने से पहले ही आवश्यक विशेष उपकरण, संयंत्र, शिक्षा साधन अवश्य उपलब्ध होने ही चाहिए

अन्यथा सारा प्रशिक्षण खोखला, निरर्थक व हास्यास्पद बन कर ही रहेगा।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग व कई विश्वविद्यालयो व महाविद्यालयो के सम्बन्धित अधिकारी इतनी छोटी-सी लेकिन महत्वपूर्ण बात की गभीरता को नही आक पाते। केवल 'चाक एण्ड टाक मेथड' से इस क्षेत्र मे कुछ भी उपलब्धि हो पाना सभव नही है।

4 विशेष शिक्षा के प्रशिक्षण के लिए उपयोगी चार्टों, पुस्तको व अन्यान्य आवश्यक शिक्षणोपकरणो का आज बाजार मे घोर अभाव है। क्रियात्मकतापूर्ण शिक्षको को उन्हें सृजित करना चाहिए व उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन होना चाहिए।

5. विशेष शिक्षा की पुस्तकें अधिकतर अग्रेजी मे हैं तथा वे बहुत टेकनिकल भाषा मे लिखी हुई है। हिन्दी मे कुछ लेख व पुस्तकें जो छप रही हैं वे भी भाषा की दुरूहता, शाब्दिक अनुवाद तथा सस्कृतमय हिन्दी के कारण सामान्य प्रशिक्षणार्थियो के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो पा रही है।

क्षेत्रीय भाषाओ मे ऐसा कुछ भी साहित्य उपलब्ध नही है। यदि शिक्षक, प्रशिक्षक व विशेषज्ञ सरल भाषा मे विशेष शिक्षा का साहित्य नही बनायेंगे तो कैसे यह कार्यक्रम चलेगा ?

6. विश्वविद्यालयों मे यह प्रवृत्ति होती है कि वे सभी महत्वपूर्ण प्रकार की विकलागता--दृष्टिहीनता, मानसिक विकलागता, शैक्षिक पिछड़ापन व हड्डी सम्बन्धी विकलागता का प्रशिक्षण एक ही पाठ्यक्रम मे देना चाहते हैं। ऐसा करना उनके लिए वास्तव मे न तो संभव ही हो पाता है और न ही आवश्यक होना चाहिए। राष्ट्रीय स्तर के जो सस्थान दृष्टिहीनता, बधिरता व मानसिक विकलांगता के लिए बने हुए है वे ही इन विशेष गम्भीर विकलागताओ के बारे मे सही प्रकार का प्रशिक्षण दे सकते है क्योकि उनके पास उस विशेष कार्य के लिए आवश्यक साजसामान, प्रशिक्षित कार्यकर्ता, परपरा तथा पर्यावरण हैं। विश्वविद्यालयीय शिक्षा विभागो को तो विशेष शिक्षा का एक सामान्य परिचय, एकीकृत शिक्षा तथा शैक्षिक पिछडापन अथवा सीखने सम्बन्धी विकलागता का ही समुचित प्रशिक्षण न्यायोजित करना चाहिए। यही कार्य वे अपने विशेष शिक्षा मे प्रशिक्षित विशेषज्ञो व शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान रखने वाले अन्य शिक्षक प्रशिक्षको की सहायता से सुचारू रूप से कर सकते है। नाहक ही उतना बडा रोटी का टुकडा काटा, मुह मे डालने से जिसको चबाया भी न जा सके। भला इसका क्या लाभ है ?

7. विश्वविद्यालयो के शिक्षा विभागो की आम प्रवृति यह बन गई है कि वे केवल पूर्व सेवा प्रशिक्षण तो प्रदान करते हैं लेकिन सेवारत प्रशिक्षण के कार्य को नही करते, केवल उसकी झूठी दुहाई देते रहते है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए ये दोनो कार्य उनसे करवाने चाहिए।

8. विशेष शिक्षा के प्रशिक्षणालयो के भवनो, शिक्षणोपकरणो, सुविधाओं, शिक्षको की योग्यताओ के बारे मे राष्ट्रीय मापदण्ड बनाये जाए और सख्ती से उन्हे लागू करवाया जाये।

9. इदिरा गाधी नेशनल ओपन यूनिवर्सिटी विशेष शिक्षा के पाठ्यक्रम प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण स्तर तथा बी० एड० स्तर के चलाये तो ऐसा करना उसके लिए सभव है और देश को बहुत लाभ मिलेगा क्योकि वह विश्वविद्यालय टेलीविजन व रेडियो तथा पत्राचार के माध्यमो से ज्ञान का प्रसार करेगा। ऐसा करने से विशेष शिक्षा के शिक्षक प्रशिक्षण में व्यावसायीकरण की बढ़ती हुई प्रवृति का भी दमन होगा।

अत मे, लेखक यूनिसेफ के निदेशक डेविड पी० हेक्सटन के इन गंभीर शब्दो को दोहराते हुए इस लेख को समाप्त करना चाहेगा—

"जिस कार्य को करने पर हम सभी सहमत होते हुए प्रतीत हो, उसे सम्पन्न करने के लिए हमे राजनैतिक इच्छाशक्ति की आवश्यकता है, न कि पवित्र नारो की। हमें व्यावहारिक प्रस्ताव चाहिए, न कि दुहराये गए प्रस्ताव। हममें व्यक्तिगत रूप से आस्था चाहिए, न कि दूसरो को प्रभावित करने के लिए सुझाव।"

आधुनिक पाठ्यक्रम में सामान्य बच्चो को शिक्षण-युक्तिया शिक्षक द्वारा निर्देशित रहती है। यह कहिए कि सामान्य बच्चो का अधिगम शिक्षक की व्यूह-रचना के मातहत प्रभावकारी पूर्णता लिए होता है। लेकिन विकलाग बच्चे अपने व्यवहार में असामान्य होते है। विकलाग बालक केन्द्रित शिक्षा के निर्देशित-अधिगम मे अकेले शिक्षक से प्रभावकारी नियोजन नहीं होता। पर्यावरण के आग्रह और औपचारिक शिक्षा के अनौपचारिक प्रयासो मे अभिभावक का सहयोग अनिवार्य है। विकलाग बच्चे के अधिगम को कारगर बनाने मे शिक्षक और अभिभावक की भागीदारी अपेक्षित है।

अभिभावक-परामर्श के अंतर्गत वे सभी सुझाव, सिफारिशें और हिदायतें आती है जो किसी विकलांग बच्चे की शिक्षा के लिए मा-बाप के सहयोग की अपेक्षा रखती हैं। इतना ही नहीं अभिभावक परामर्श में वह विषय-वस्तु भी आती है जो विकलाग बच्चो की शिक्षा-पूर्व अवस्था से सम्बन्धित है।

भारतीय समाज में विकलागों के प्रति प्राय सभी वर्ग के लोगों मे समान मनोवृत्ति के दर्शन होते है। वे विकलाग बच्चो को विधाता की देन मानते है, अर्थात् किसी पाप कर्म की सजा समझते है। अधिकाश अभिभावक अपने शिशुओ की विकलागता को उजागर करने में संकोच महसूस करते है।

अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण का प्रयोजन स्वयंसिद्ध है। इसका उद्देश्य विशेष शिक्षक, अन्य कार्यकर्ताओ और अभिभावकों को विकलाग बच्चों की शिक्षा में उपयोगी भागीदार बनाना है।

विकलांगों की शिक्षा के संदर्भ में अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण

डॉ० जयपाल तरंग

मां-बाप और अभिभावकों के सम्पर्क-सूत्रो, सम्पर्क-प्रबध और मिलन-गोष्ठी आदि की व्यवस्था और चर्चा प्राय सामान्य शिक्षा के सन्दर्भ मे होती रही है। कहने की आवश्यकता नही जैसे-जैसे समस्याग्रस्त शिक्षार्थियो के मनोवैज्ञानिक तथा मनोशैक्षिक अनुसधान प्रारभ हुए वैसे-वैसे ही अभिभावकों के सरोकार और शिक्षा मे उनकी भागीदारी को मान्यता मिली। जैसा कि सर्वविदित है औपचारिक शिक्षा मे विद्यार्थी अपने जीवन का बहुत कम समय स्कूल मे बिताता है। उसका अधिकाश समय अनौपचारिक पर्यावरण मे व्यतीत होता है। पर्यावरण के उन पर सुखकर और दुखदायी परिणाम पाये गये हैं। दुखदायी परिणामो के प्रभाव से मुक्त करने की दिशा मे मा-बाप एव अभिभावको के सहयोग की आवश्यकता पडती रही है। इस दिशा मे अभिभावको की भागीदारी, सहयोग और सम्पर्क स्थापित करने के लिए अभिभावक परामर्श की आवश्यकता पडती है। विकलाग बच्चो की शिक्षा के प्रसग में यह अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक हो जाता है।

आधुनिक पाठ्यक्रम मे सामान्य बच्चो की शिक्षण-युक्तिया शिक्षक द्वारा निर्देशित रहती है। यह कहिए कि सामान्य बच्चो का अधिगम शिक्षक की व्यूहरचना के

मातहत प्रभावकारी पूर्णता लिए होता है लेकिन विकलाग बच्चे अपने व्यवहार मे असामान्य होते है। विकलाग बालक केन्द्रित शिक्षा के निर्देशित-अधिगम मे अकेले शिक्षक से प्रभावकारी नियोजन नही होता। पर्यावरण के आग्रह और औपचारिक शिक्षा के अनौपचारिक प्रयासो मे अभिभावक का सहयोग अनिवार्य है। विकलाग बच्चे के अधिगम को कारगर बनाने मे शिक्षक और अभिभावक की भागीदारी अपेक्षित है।

बालक-केन्द्रित शिक्षा के प्रसंग मे यह जानना भी आवश्यक है कि सयुक्त राष्ट्र सघ ने 1979 मे अतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष मनाया। उस वर्ष बाल-अधिकार घोषणा-पत्र को भी पुनर्समर्थन मिला। यद्यपि राष्ट्र सघ 1959 मे ही इस बाल-अधिकार घोषणा-पत्र को सर्वसम्पत्ति से पास कर चुका था बच्चो के इन दसो अधिकार का उल्लेख करना समीचीन जान पडता है। ये बाल अधिकार है—

1. सहानुभूति, स्नेह और प्रेम।
2. पर्याप्त पौष्टिक आहार और चिकित्सा-सुविधा।
3 निशुल्क शिक्षा।
4. नाम और राष्ट्रीयता।
5 खेल और मनोरजन के सम्पूर्ण अवसर।
6. यदि विकलाग हैं तो विशेष देखभाल।
7 विनाश की कुघड़ी मे सहायता प्राप्त करने वालो मे प्राथमिकता।
8 समाज के उपयोगी सदस्य बनने के अधिगम और वैयक्तिक योग्यता का विकास।
9. विश्वबन्धुत्व तथा शांति की भावना से पालन-पोषण।
10. बिना जाति, रंग, योनि, धर्म, राष्ट्रीयता अथवा सामाजिक मूल के भेदभाव के इन अधिकारो का उपयोग करना।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के दौरान विश्व भर के नागरिकों ने बच्चो के स्वास्थ्य, शिक्षा तथा इन दसों अधिकारो के सम्बन्ध में स्थिति, समस्या और सरोकार का जायजा लिया। बच्चों के अधिकारों की सुरक्षा और प्राप्ति के लिए प्रयास जारी हो गए और हमेशा जारी रहेगे क्योकि यह अभिभावको (मां-बाप) के उत्तरदायी सरोकार से जुड़े है। इन अधिकारो के प्रकाश मे विकलाग बच्चो के स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अधिकार, रक्षा की समस्याओ, सरोकार और स्थिति की जानकारी भी अभिभावकों को परामर्श प्रशिक्षण के दौरान दी जानी चाहिए। किन्ही आकडो और अनुसधान सर्वेक्षण के उद्धरण का सहारा लिए बिना सामान्य प्रेक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि सामान्य बच्चो को भी ये अधिकार प्राप्त नही है। विकलागो की बात तो और भी अधिक चिन्ता का विषय है। इन उपेक्षित विकलाग बच्चो की देखभाल, शिक्षा आदि मे अभिभावक का उत्तरदायित्व और बढ जाता है। घर मे और विद्यालय मे उसकी भागीदारी सुनिश्चित और उपयोगी मान ली गई है। जरूरत इस भागीदारी को कारगर बनाने की है जो अभिभावक परामर्श-प्रशिक्षण द्वारा सभव है। सामान्यत क्षेत्र कर्मियो, और विशेषत. विशेष शिक्षको को ऐसे ज्ञान और कौशल की आवश्यकता पडती है जिससे वे अभिभावको के साथ प्रभावप्रद कार्य कर सके। विशेष शिक्षक अथवा परामर्शदाता अनेक प्रश्नो के उत्तरो की कामना करता है। अभिभावक उन प्रश्नो पर क्या सामान्य प्रतिक्रिया या बचाव प्रस्तुत करता है। बच्चो की प्रगति-प्रतिवेदन के ढग क्या हैं? क्या अभिभावको को विद्यालय के विषय को पढ़ाना होगा? क्या अभिभावक बच्चो के अधिगम तथा व्यवहार परीक्षण करेगा और उसकी समस्याओ को संकलित करेगा? विकलागता की रोकथाम और उपचार मे अभिभावक की भूमिका क्या है? वे कौन-सी प्रबन्ध-युक्तिया हैं जिनको अभिभावक घर मे उपयोग करे? वे कार्यकलाप और युक्तिया कौन-सी है जिनसे अभिभावक और विकलाग बच्चे के सामाजिक-सयोजन मे सहायता मिलती है? कौन से उत्तम किस्म के ससाधन, पुस्तके, अभिभावक संघ, पत्रिकाए, परिवार-चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, विशेष-शिक्षक आदि, अभिभावको को प्राप्त हैं? इन सभी प्रश्नों के उत्तरो से अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण की विषय-वस्तु निर्धारित की जानी चाहिए।

अभिभावक परामर्श विषयवस्तु—एक विचार

अभिभावक परामर्श की परिभाषा देना हमारा

अभिप्राय नहीं है, लेकिन अभिभावक परामर्श का आशय स्पष्ट करना तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अभिभावक-परामर्श के अन्तर्गत वे सभी सुझाव, सिफारिशें और हिदायतें आती है जो किसी विकलाग बच्चे की शिक्षा के लिए मा-बाप के सहयोग की अपेक्षा रखती है। इतना ही नहीं अभिभावक परामर्श मे वह विषय-वस्तु भी आती है जो विकलाग बच्चों की शिक्षा-पूर्व अवस्था से सम्बन्धित है।

अर्थात् बच्चो की देखरेख यथाशीघ्र निदान और उपचार, रोकथाम और अन्य सेवाओ की जानकारी अपेक्षित है। अभिभावक-परामर्श की विषय-वस्तु प्रत्येक विकलांग बच्चे के अनुरूप विशेष एव लोचपूर्ण हो सकती है लेकिन कुछ सामान्य बाते ऐसी है जो विकलागता की रोकथाम, परख, पहचान तथा तत्सम्बन्धित अन्य जानकारी के लिए होती है। अत यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अभिभावक-परामर्श की विषयवस्तु पूर्णत निश्चित करनी होती है। जैसा कि पहले कहा गया है अधिगम केन्द्रित प्रयास की आवश्यकता है।

परामर्श के विविध आयाम

अभिभावक परामर्श के विषयगत विभिन्न आयाम है। इस ज्ञान को अभिभावक तक पहुचाना निहायत जरूरी है। इस जानकारी को अभिभावक तक कैसे पहुचाया जाये यह जटिल प्रश्न है। इसके कागजी उत्तर तो दिये जा सकते हैं परन्तु ठोस समाधान दे पाना बहुत बडी समस्या है। इस समस्या से जूझने के लिए निश्चय ही प्रशिक्षण जरूरी है। यह अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण केवल अभिभावक के लिए ही नहीं शिक्षको, विशेष शिक्षको एवं विद्यालय मनोवैज्ञानिको, विद्यालय सामाजिक कार्यकर्ताओ और विद्यालय प्रशासको के लिए भी लाभप्रद है। पहले तो विकलागो के लिए विद्यालयो —विशेष एव समन्वित— मे, अभिभावकों की भागीदारी और सहयोग के लिए विद्यालय की पूरी टीम को अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए क्योकि प्रशिक्षण के अभाव मे अभिभावकों का स्वाभाविक एव लाभकारी सहयोग नही लिया जा सकता। सहयोग लेना भी एक कला है जिसके लिए प्रबन्ध-दक्षता दरकार हैं। हम यहा यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि टीम यानी समन्वित दल से अभिप्राय उन क्षेत्र कर्मियो से है जो विकलागो की शिक्षा के लिए समन्वित योगदान देते हैं। जैसे—विशेष शिक्षक, ससाधन-कक्ष-विशेषज्ञ, सामाजिक कार्यकर्ता, मनोवैज्ञानिक परामर्शदाता, मनोचिकित्सक तथा चिकित्सक, उपचार-शिक्षक आदि। कहने की जरूरत नही कि इन सभी विशेषज्ञो एव कार्यकर्ताओ को अभिभावको की भागीदारी अपेक्षित होती है।

अभिभावक-परामर्श को विकलाग बच्चो की शिक्षा मे महत्वपूर्ण भूमिका माना जाता है। इसमे दो राय नहीं कि इस विषय-क्षेत्र मे पश्चिमी जगत मे बहुत कार्य हुआ है। अनुसन्धान-अध्ययन प्रबन्ध-सगठन और प्रशासन के कारगर नतीजे भी निकले है। विकलाग बच्चो की शिक्षा मे अभिभावक के सरोकार को संवारने के लिए हमे भारतीय समाज की रचना को ध्यान मे रखना होगा क्योंकि भारतीय समाज पश्चिमी समाज मे बहुत भिन्न है। यह भिन्नता केवल सांस्कृतिक ही नही बल्कि व्यक्ति तथा परिवार तक की सामाजिक भिन्नता लिए है। पश्चिमी जगत की अंधाधुध नकल से किसी ठोस परिणाम की आशा नही है। हम पश्चिमी अध्ययन और अनुसन्धान के लाभ से इन्कार नही करते लेकिन इस बौद्धिक लाभ को भारतीय परिप्रेक्ष्य मे ढालने और तराशने की जरूरत मानते है। इसलिए अभिभावक-परामर्श को विकलाग बच्चों की शिक्षा मे उनकी भूमिका की प्रभावकारी बनाने के लिए भारतीय अभिभावको की सीमा का भी ध्यान रखना होगा।

भारतीय अभिभावकों की सीमा—सम्भावनाएं

सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं अभिवृत्ति के सन्दर्भ मे भारतीय अभिभावक को नगर और गाव की कोटि मे बाट कर सोचा समझा जा सकता है। अर्थात् शहर के अभिभावक को जिस विषयवस्तु के ज्ञान की जरूरत है, जरूरी नही कि वह ज्ञान ग्रामीण अभिभावक को भी अपेक्षित हो। स्थानीय समस्या क्षेत्रो पर बल देना इनसे अलग की बात है अर्थात् स्थानीय समस्या प्रत्येक शहर और गाव में सामान्य की अपेक्षा कुछ विशेष हो सकती है।

आर्थिक आधार पर यो तो उनकी कई कोटियां हैं। यदि हम केवल तीन वर्गों की बाते करे तो भी भारतीय

समाज के अभिभावक-परामर्श के सम्बन्ध मे मदद मिलेगी। पहले वर्ग मे वे अभिभावक आते है जो अपने विकलाग बच्चो की शिक्षा तथा तत्सम्बन्धी अन्य सेवाए प्राप्त करने मे धन की कोई बाधा नही मानते। वह विकलाग बच्चे की शिक्षा पर अधिक रुपया खर्च कर सकते है। वे यह भी जानते है कि शिक्षा और सेवाए कहा उपलब्ध है और किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। लेकिन इन अभिभावको को भी शिक्षा सम्बन्धी सहयोग और सरोकार की जानकारी नही होती। यह विकलाग बच्चे की शिक्षा के दौरान अभिभावक-परामर्श गोष्ठियो मे तथा क्षेत्रकर्मी द्वारा हाउस विजिट के द्वारा उद्घाटित होती है। इसलिए इस वर्ग को भी अभिभावक-परामर्श की आवश्यकता है।

दूसरे वर्ग मे हम मध्यमवर्गीय लोगो को ले सकते हैं। ये विकलाग बच्चो को शिक्षा देना चाहते है। उनके लिए अन्य सेवाएं भी प्राप्त करना चाहते है। लेकिन कई बार धनाभाव बाधक होता है। इसलिए इस वर्ग को उन सुविधाओ का प्राय: ज्ञान नही है जो विकलाग बच्चो की शिक्षा के सरकारी अथवा प्राइवेट सस्थाओ से प्राप्त होती है। इस वर्ग तक जानकारी के प्रचार-प्रसार स्रोत भी नही पहुचे है।

तीसरा वर्ग अधिक रूप से पिछड़ा वर्ग कहा जा सकता है। इसे गरीब वर्ग भी कह सकते हैं, जहा विकलागो की शिक्षा की सोच या तलाश है ही नही। इस वर्ग तक सामान्य शिक्षा की पहुंच भी कम ही रही है। अत: इनके विकलाग बच्चो की शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। सवैधानिक अधिकार और बराबरी के सिद्धांत के अनुरूप यह वर्ग भी अभिभावक-परामर्श का अधिकारी है। इससे सामान्य और असामान्य दोनो प्रकार के बच्चो को लाभ मिलेगा। इस वर्ग के अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण के कार्य को किसी-न-किसी प्रकार से आर्थिक सहायता से जोडना पड़ेगा क्योकि इस वर्ग के व्यक्ति के पास न समय है और न आर्थिक सामर्थ्य। दूसरे, यह परामर्श खोजने भी नही निकलेगा बल्कि परामर्श-प्रबन्ध को इनके पास पहुचना पड़ेगा। यह अभिभावक-परामर्श की दृष्टि से एक विशेष वर्ग है जिसकी विशिष्टता का ध्यान कई स्तरो पर रखना होगा जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

भारतीय अभिभावको को साक्षरता और निरक्षरता के सम्बन्ध मे भी समझना होगा क्योकि अध्यापक-परामर्श का माध्यम साक्षरो तथा निरक्षरो के लिए कदाचित समान सम्भव नही है। उदाहरण के लिए साक्षरो को अभिभावक परामर्श का प्रसार-साहित्य दिया जा सकता है जिसको वे पढकर लाभ उठा सकते है या लिखकर अन्य जानकारी प्राप्त कर सकते है। लेकिन निरक्षर अभिभावको के लिए लोक-माध्यम या वाचक किस्म के सचार साधन ही उपयोग मे लाये जा सकते है। इस भेद के कारण अभिभावक परामर्श की विषयवस्तु मे अतर नही पड़ेगा लेकिन उसकी सप्रेषण विधियो मे बहुत बड़ा अतर आयेगा जिसका ध्यान अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण मे रखना होगा।

भारतीय समाज मे विकलागो के प्रति प्राय: सभी वर्ग के लोगो मे समान मनोवृत्ति के दर्शन होते है। वे विकलाग बच्चो को विधाता की देन मानते है। अर्थात् किसी पाप कर्म की सजा समझते हैं। अधिकाश अभिभावक अपने शिशुओ की विकलागता को उजागर करने मे सकोच महसूस करते है।

विकलाग सतान का होना कोई सामाजिक अपराध नही है। इस विषय मे एक जनजागृति लाने की जरूरत है। वैसे तो यह कार्य प्रौढ शिक्षा और जन-सचार माध्यमो से किया जा रहा है लेकिन इस विषय को अभिभावक-परामर्श का भी अग बनाने की जरूरत है, ताकि विकलाग बच्चों के प्रति गलत धारणाओ और विश्वासो का निराकरण हो सके। भारतीय अभिभावको की सीमाओ का यह विवेचन इस आशय से किया गया है कि भारतीय अभिभावको की आकाक्षाओ और अपेक्षाओं को परामर्श प्रशिक्षण का समुचित आधार बनाया जा सके और पश्चिमी अनुकरण से बचाया जा सके।

शिक्षक-अभिभावक-अधिवेशन

आम तौर पर अभिभावक परामर्श के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक विकलाग विद्यालय से साप्ताहिक एव पाक्षिक गोष्ठियों की व्यवस्था होती है। इन सपर्क गोष्ठियो के माध्यम से अभिभावक से उनके आश्रितो की प्रगति और शिक्षण निर्देश पर चर्चा होती है। इस सपर्क मे शिक्षक तथा अभिभावक दोनो ही कथित बच्चे के विषय मे जानकारी

का लाभ उठाते है। विशेष शिक्षक इस सम्पर्क के माध्यम से समन्वित दल परामर्श का भी सयोजन करता है। अत विशेष शिक्षक को अभिभावक परामर्श के विषय मे प्रशिक्षण लेने की सबसे बडी जरूरत है। क्योकि विशेष शिक्षक ही अभिभावकों के परामर्श सम्पर्क का सूत्रधार होता है। अत अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण के अन्तर्गत विशेष शिक्षक के इस दायित्व को भी गुणकारी बनाने की दिशा मे सोचने समझने की जरूरत है, ताकि विशेष शिक्षक परामर्श का सही तालमेल रख सके और अभिभावको का सहज सहयोग पा सके।

विशेष शिक्षक को अभिभावक परामर्श के सिलसिले मे सम्भावित दलो से कार्यकारी सम्बन्ध रखना होता है। उसके पास दल के सभी लोगो के सुझाव आते रहते है। वह उन सुझावो पर दल के प्रत्येक सदस्य से आवश्यक जानकारी हासिल कर लेता है और उनको मिलकर यह भी निश्चित कर लेता है कि अभिभावको से क्या सहयोग लेना है और किस प्रकार लेना है। इन समस्त निर्देशित सुझावो को अभिभावक परामर्श के द्वारा देना होता है। इसलिए अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण मे केवल यह ज्ञान देना ही पर्याप्त नही है कि विशेष शिक्षक को समन्वित दलो से किस प्रकार निर्देश सयोजित करना है। बल्कि यह बहुत आवश्यक है कि वह इन विभिन्न निर्देशो को समन्वित रूप मे अभिभावक तक पहुचाने के कौशल का सदुपयोग करे। इससे अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण की उपयोगिता स्पष्ट उजागर हो जाती है।

परामर्श-प्रशिक्षण-विचार-बिन्दु

अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण की आवश्यकता सर्वमान्य है। यहा अभिभावक परामर्श के विचार-बिन्दुओ की सामान्य जानकारी देना विकलाग बच्चो को स्वावलबी बनाने की दृष्टि से बहुत उपयागी है।

1. यथासमय परख-पहचान
2. रोकथाम
3. सम्बन्धित सेवाये
4. शैक्षणिक प्रावधान
5. पुनर्वास
6. व्यावसायिक शिक्षा
7. अभिभावक-परामर्श प्रशिक्षण

यथासमय परख-पहचान

जन्म के पहले और जन्म के बाद कुछ सावधानिया अपेक्षित है, जो कि स्वास्थ्य केन्द्रो से प्राप्त की जा सकती है। यथासमय जननी और सतान की उचित जाच करा लेनी चाहिए। अभिभावक को यदि किसी शिशु मे किसी प्रकार की असामान्यता प्रकट हो तो उसे उचित विशेषज्ञ को दिखाना चाहिए। और उसके निर्देशो के अनुसार कार्य करना लाभदायक रहेगा। यह ज्ञान भी चर्चा का विशेष बिन्दु है।

निदान-उपचार

किसी बच्चे मे जब भी किसी किस्म की कमी नजर आये तो उसके निदान और उपचार के लिए मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सक, चिकित्सक या सबधित विशेषज्ञ के पास जाना चाहिए तथा उसके उपचारक निर्देशो का लाभ उठाया जाना चाहिए। सामाजिक कार्यकर्ता, विशेष शिक्षक भी इस कार्य मे सहायता दे सकते है। इस ज्ञान को अभिभावक तक पहुचाना चर्चा का आवश्यक बिन्दु है।

रोकथाम

बीमारियो के कारण होने वाली विकलागता के बचाव मे कई किस्म के टीके तथा औषधिया बच्चो के लिए जरूरी हैं। ये स्वास्थ्य केन्द्रो पर मुफ्त मिलते हैं। इनकी जानकारी परामर्श-चर्चा मे अभिभावको को देना लाभकारी रहेगा। जैसे—पोलियो ड्रॉप, टी० बी०, चेचक, खसरा, खाली खासी आदि के टीके।

सम्बन्धित सेवाएं

विकलांगो के शारीरिक, ऐन्द्रीय एवं मानसिक कमियो की पूर्ति के लिए कुछ उपकरण प्रयोग मे लाये जाते है। ये उपकरण एव तत्सबधी सेवाए अभिभावको को बताई जानी चाहिएं। यह सेवाए—शिक्षा, मनोविज्ञान, मनोचिकित्सक केन्द्रो से भी प्राप्त की जा सकती है। जानकारी का यह विषय भी अभिभावको के लिए महत्वपूर्ण है।

शैक्षणिक प्रावधान

विभिन्न वर्ग के विकलाग के लिए दो प्रकार की शिक्षा व्यवस्था है—

(अ) **विशेष शिक्षा**—जिसमे एक प्रकार के विकलागो को विशेष शिक्षा दी जाती है ।

(आ) **समन्वित शिक्षा**—जिसमे विकलाग बच्चे सामान्य विद्यालयो मे शिक्षा ग्रहण करते है । उसी विद्यालय के प्रागण मे उनकी विशेष शिक्षा की भी व्यवस्था रहती है । इस सबध मे प्रत्येक राज्य मे दोनो प्रकार के विद्यालयो की जानकारी दी जा सकती है और स्थानीय सुविधाओ के लाभ उठाने के चर्चा बिन्दु भी सम्मिलित किये जा सकते हैं ।

पुनर्वास एवं व्यावसायिक शिक्षा

विशेष शिक्षा की भांति विकलागो के लिए पुनर्वास केन्द्रो तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रो की जानकारी दी जानी भी लाभप्रद रहेगी । यहा भी स्थानीय सुविधाओ की जानकारी दी जानी चाहिए । साथ ही सरकारी अनुदान और वजीफे आदि की जानकारी दे ।

अभिभावक परामर्श शिक्षा

अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण का प्रयोजन स्वयसिद्ध है । इसका उद्देश्य विशेष शिक्षक, अन्य कार्यकर्ताओ और अभिभावको को विकलाग बच्चो की शिक्षा मे उपयोगी भागीदार बनाने का है ।

परस्पर सवाद सप्रेषण करना उपयुक्त युक्ति तथा सूचनाओ के आदान-प्रदान के लिए विशेष प्रशिक्षण की जरूरत है । प्रशिक्षण मे विशेष शिक्षक को उन विधियो से अवगत कराना है जिनके द्वारा वह सपर्क संयोजन के कार्य को कारगर ढग से चला सके । अभिभावक को इस प्रशिक्षण से यह लाभ होगा कि वह अपने प्रश्नो के उत्तर स्वय ढूढने लगेगा और अपने गली, मोहल्ले, गाव, नगर मे अभिभावक परामर्श का प्रचार-प्रसार कर सकेगा और अपने बच्चे की शिक्षा मे निर्देशित सरोकार बरकरार पायेगा ।

अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण के महत्वपूर्ण बिन्दुओ पर विचार करने से पूर्व जन-जागरण तथा लोक माध्यमो की बात भी हो जाए । विकलागो की देखभाल, शिक्षा, पुनर्वास के सम्बन्ध मे पहले ही कहा जा चुका है कि इस दिशा मे सामाजिक चेतना की जरूरत है । क्योंकि भारतीय अभिभावक अधिकाशत निरक्षर है । इस करण सामुदायिक प्रदर्शनी और चल-परामर्श-केन्द्र सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओ द्वारा चलाये जा सकते है । बच्चो के जन्मोत्सव पर प्राय लोकगीत एव लोकनृत्य होते है । इस प्रकार के लोकगीत गाये जाने चाहिए जिनसे टोको का ब्यौरा नाचते गाते ही नवजात शिशु के मा-बाप को मिल जाये । लोकगीत, लोककथा, लोकवार्ता आदि के द्वारा विवाह, त्यौहार और मेलो के अवसरो का लाभ उठाया जा सकता है । करना यह होगा कि प्रचलित लोकगीत, लोकध्वनियो के साथ ये परामर्श बिन्दुओ वाली सूचनाए भी देते जाये । शिशु-प्रदर्शनी भी परामर्श एव प्रेरणा का एक माध्यम हो सकती है ।

अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण मे निम्नलिखित प्रावधानो पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है ।

अ अभिभावक-समायोजन · कोई भी विकलाग बच्चे का मा-बाप नही होना चाहता । हमारे परिवारो मे सामान्य बच्चों के पालन-पोषण के अनुभव और अवसर निरन्तर प्राप्त रहे है । लेकिन विकलाग बच्चो के पालन-पोषण के तौर-तरीके अभिभावको को नहीं आते । अत. परिवार को बाहर के व्यक्तियो जैसे चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सक, विशेष शिक्षक आदि की सहायता लेनी होती है । अत. अभिभावक तथा अन्य विशेषज्ञों के बीच सम्पर्क कौशल से ही अभिभावक समायोजन सम्भव है । अत. इन विशेषज्ञो की परामर्श-क्षमता और सम्पर्क सहजता से ही अभिभावक की सहायता की जा सकती है ।

अभिभावक-समायोजन की सामान्य बाते विकलागो के अभिभावको के विषय में अधिक लाभप्रद नही होती । बार्ज ने विभिन्न कोटि के विकलागो के पालन-पोषण के तरीको का अध्ययन किया । बार्ज के अनुसार प्रत्येक परिवार के वैयक्तिक विधि से समायोजन की बात कही गई है । इसके दो कारण है । प्रतिक्रियाओ की मात्रा, विस्तार और विविधता विशेष स्थितिया उत्पन्न कर देती है । ऐसी असामान्य स्थिति मे असामान्य ढग से समायोजन सम्भव है । दूसरे कुछ अभिभावक भी ऐसे होते है कि वे असामान्य युक्तियो से ही समायोजित हो सकते है । व्यक्ति और स्थिति की असामान्यता के कारण ही विशेषज्ञो को विशेष समायोजन विधि युक्ति अपेक्षित है ।

अनेक विद्वानों ने अभिभावक समायोजन की युक्तियो और व्यूह रचनाओ पर कार्य किया है। इन कार्यो को श्रृंखलाबद्ध करके यू कहा जा सकता है कि समायोजन कार्य के लिए अपेक्षित है :

(1) समस्या के प्रति चेतना, (2) समस्या की पहचान, (3) समस्या के कारण की खोज, (4) उपचार की तलाश, और (5) बच्चे की स्वीकृति।

इन बिन्दुओ के विचार-विस्तार की आवश्यकता नही है क्योकि इनके आशय स्पष्ट है और कारगर ढग से उपयोग मे लाए जा सकते है। हमारा उद्देश्य अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण की आवश्यकता को रेखांकित करना था।

यह निर्विवाद सत्य है कि बच्चो की शिक्षा मे अभिभावकों की रचनात्मक तथा आलोचनात्मक भूमिका को स्वीकार कर लिया गया है। डेम्बबिन्सकी और माइजर ने 1977 मे एक सर्वेक्षण किया जिसमे यह पता लगाया गया कि विकलाग बच्चो के अभिभावक शिक्षक, मनोवैज्ञानिक और चिकित्सक से क्या अपेक्षाएं रखते है। उनके मत-सम्मत को इस प्रकार कहा जा सकता है—

1. अभिभावक सवाद और सप्रेषण के लिए जटिल भाषा (जारगन) नही, सहज एवं सामान्य भाषा की माग करते हैं।
2. माता-पिता के साथ बच्चो को भी गोष्ठियो या अधिवेशन मे साथ रहने के महत्व को पहचानने का आग्रह करते है।
3. बच्चो को समझने मे सहायता देने वाली पठन-सामग्री तलाश करते हैं।
4. बच्चो से सबधित प्रतिवेदन उन्हे लिखित रूप मे मिले ऐसा वे महसूस करते हैं।
5. विशेषज्ञो के समन्वित-सवाद को प्रोत्साहित करते है।
6. प्रबन्ध और शिक्षण के विषय मे सार्थक सूचनाएं और परामर्श चाहते है।
7. बच्चो के बौद्धिक और सामाजिक व्यवहार पर पुनर्निदेशन चाहते हैं।

यह मान लेना अभिभावक परामर्श प्रशिक्षण दृष्टि से उपयोगी है कि अभिभावक समायोजन, सहयोग और सरोकार के लिए विशेष वैयक्तिक परामर्श-व्यूहो की अपेक्षा करते है। यदि हम अभिभावक-परामर्श की व्यूह रचनाओ पर विचार करे तो उसको सूचनात्मक, मनोचिकित्सक तथा अभिभावक-प्रशिक्षण के तीन शीर्षको मे बाट सकते है।

अ—1 सूचनात्मक व्यूह रचनाए विभिन्न प्रकार के विकलांगों की विशेषताओ का ज्ञान अभिभावको को सूचना के स्तर पर दिया जा सकता है। सूचनाओ की विषयवस्तु मे सामान्य पारिभाषिक शब्दावली साक्षरात्मकता, निर्देशात्मकता, दृश्य प्रत्यक्ष ज्ञान तथा श्रव्य प्रत्यक्ष ज्ञान की समस्याए, अग-संचालन कौशल आदि को भी रखा जाना लाभकारी है। बाल-विकास और पालन-पोषण के तरीके भी समझाए जा सकते है। निम्नलिखित ससाधन जुटाए जा सकते है—

1. सहायक पाठ्य-सामग्री जो विकलाग बच्चों की अवस्था को समझने मे अभिभावक की मदद कर सकती है।
2. विकलांग बच्चो के अभिभावको को विकलाग बच्चो की चुनौतियो का सामना करने की सामर्थ्य प्रदान करने का सुझाव दे।
3. स्थानीय सस्थाओ और सगठनो की जानकारी जहा से अभिभावक स्वय सम्पर्क करे, सहायता प्राप्त कर सकते हैं।
4. विशेष शिक्षा और कानून सबधी जानकारी दे।
5. जनमत तैयार करने और कानूनी व्यवस्था के लिए प्रयास की दिशाए।
6. अन्य सेवाओ की जानकारी दें।

अ—2 मनोचिकित्सक व्यूह-रचना : मनोचिकित्सक युक्तियो का सक्षिप्त उल्लेख कर देना भी जरूरी है। इस दिशा मे परिवार शक्ति और बालक की समस्या को भलीभाति परखने-पहचानने की जरूरत पर बल दिया जाता है। अब्राहम्स और कैशलो ने सात व्यूहों की बात इस प्रकार कही है—

1 **शैक्षिक हस्तक्षेप** : जिस बच्चे की किसी प्रकार भावात्मक समस्या नहीं है और जिसका परि-

वार भी सामान्यतया सुखी है उसे केवल शैक्षिक हस्तक्षेप से विकसित किया जा सकता है।

2 **वैयक्तिक रोगोपचार** · जिन बच्चो के अभिभावक अयोग्य हैं और उन्होने बच्चो को छोड दिया है उन बच्चो को वैयक्तिक रोगोपचार की जरूरत होती है।

3 **अभिभावक सामूहिक परामर्श** अभिभावक सामूहिक परामर्श के आयोजन करने की भी जरूरत है जिससे विचार-विमर्श के दौरान विकलागो की सामान्य समस्याओ पर सामूहिक चर्चा हो सके।

4. **वैयक्तिक रोगोपचार और व्यक्ति-शिक्षण** · उन बच्चो के लिए जिनके अभिभावको तक पहुचा नही जा सकता उनका वैयक्तिक रोगोपचार और व्यक्ति-शिक्षण अपेक्षित है।

5 **परिवार का रोगोपचार** . बच्चे और अभिभावक के लाभ के लिए पूरे परिवार को परामर्श देना लाभकारी होता है। विशेषज्ञो की टीम परिवार का रोगोपचार करती है।

6. **एक विशेषज्ञ द्वारा रोगोपचार** . इससे बच्चे, अभिभावक और परिवार को बहुत लाभ मिलता है। परिवार विशेषज्ञो की होड का शिकार नही होने पाता।

संयुक्त परिवार रोगोपचार

जिस परिवार के लोग स्वय समस्या-समाधान के लिए प्रयत्नशील है उनकी सहायता मे विशेषज्ञो के रोगोपचार को सयुक्त परिवार रोगोपचार कहा जाता है।

अ—3 अभिभावक-प्रशिक्षण . इस प्रशिक्षण के दौरान अभिभावक यह सीखते हैं कि किस प्रकार विकलांग बच्चो की शिक्षा आदि के विषय मे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करे तथा अपने बच्चो का प्रबध कैसे करे ?

प्रशिक्षण के दो प्रकार सम्भव है—

1. सचार, 2. सरोकार/भागीदारी।

सचार-युक्ति के अतर्गत अभिभावक और बच्चे के बीच प्रत्यक्ष बातचीत होती है। सरोकार या भागीदारी के तहत विशेषज्ञो का मत है कि इसमे बाल-अभिभावक सबध को धनात्मक विकास मिलता है। अभिभावक प्रशिक्षण को प्रभावी बनाने के लिए समस्या-स्वीकृति को भी आधार बनाया जा सकता है। इसका एक लाभ यह होता है कि घर का वातावरण अभिभावक निर्देशित न होकर बाल-निर्देशित हो जाता है।

घर-आधारित सेवाएं और कार्यकलाप

बहुत से कार्यकलाप ऐसे है जिनके द्वारा अभिभावक अपने बच्चो के सामाजिक और बौद्धिक उत्कर्ष रचा सकते है। अभिभावक अनुदेश गृह-प्रबन्ध तथा अभिभावक-शिक्षण की दृष्टि से ये लाभकारी माने जाते है। इन कार्यकलापो का निश्चित परिस्थिति-विशेष मे परिवार के ससाधनो मे विशेषताओ के आधार पर किया जाना बेहतर रहता है। अभिभावको मे प्रेक्षण कौशल के विकास की आवश्यकता है। इससे एक तो अभिभावक विकलाग बच्चे के असामान्य/सामान्य व्यवहार के विवरण रख सकता है, दूसरे अन्य विशेषज्ञो को इनकी जानकारी दे सकता है।

गृह-प्रबंध

विकलाग बच्चा घर मे प्रबध की दृष्टि से कई समस्याए उत्पन्न करता है। बच्चों को घर के काम मे आशिक जिम्मेदारी देकर भी बेहतर नतीजे देखे गए है। सजा का तरीका अच्छा नही माना जाता। अत· जरूरत इस बात की है कि गृह-प्रबध को वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और लाभकारी बनाया जाए।

अभिभावक-शिक्षण

अभिभावक को शिक्षण-कार्य मे कई कठिनाइयां आती हैं। पहले तो प्रत्येक अभिभावक का शिक्षित और साक्षर होना अनिवार्य है। विशेष शिक्षण ज्ञान के अभाव में अभिभावक का शिक्षक होना लाभ के खाते मे हानि ही भर देता है। इस दिशा मे लाभकारी मध्य-मार्ग यह है कि विशेष शिक्षक के निर्देशित कार्य को करें तथा केवल बच्चे के पालन-पोषण और परिवार-शिक्षा के सामान्य विषय को ही औपचारिक शिक्षा का हिस्सा बनाए।

इस विषय मे अभिभावक और शिक्षक की हिस्सेदारी प्रेरणादायक होती है। परस्पर सहयोग स्थापना, समस्या समाधान मे युगल नीति-नियोजन, बच्चो के लिए समर्पित प्रयास के विकास की आवश्यकता है। परस्पर सहयोग को सहज सम्पर्क का साधन बनाने की जरूरत है। अभिभावको की कमजोरी, अज्ञान और शिक्षा स्तर आदि का ध्यान रखते हुए उनके हिस्से पर विचार करना चाहिए। अन्यथा संवाद दुखांत हो जाता है। अभिभावक, शिक्षक, अधिवेशन और गोष्ठियो का भी सुचारू ढग से चलाने की जरूरत है। बच्चो की प्रगति रिपोर्ट रूपरेखा पद्धतिबद्ध हो न कि बेढगी। बच्चे की क्षमता, परिवर्तन और प्रगति का स्पष्ट उल्लेख और अयोग्यताओ का उल्लेख उनके निवारणार्थ सुझावो और अभिभावक-निर्देशन कार्यक्रम से होना उचित रहता है।

निष्कर्षत: हम कह सकते है कि अभिभावको की जागरूक भागीदारी से शिक्षा मे महत्वपूर्ण परिवर्तनो को बल मिलेगा। अभिभावको का कक्षा से सरोकार शिक्षकों को, प्रभावशाली अधिगम कौशल के विकास म सहायता देता है। समूह मे निर्णय लेने की प्रक्रिया मे सम्मिलित होकर अभिभावक शिक्षा प्रशासको का बच्चो के उचित पुनर्वास मे सहायता देता है। आशा और विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अभिभावक परामर्श और प्रशिक्षण विद्यालय और घर के वातावरण को विकलागो के अनुकूल बनाने मे सहायक सिद्ध होगा।

संदर्भ

बार्श, आर० एच०, **दि पेरेन्ट टीचर पार्टनरशिप**, आरलिंगटन वा, दि कॉंसिल आफ एक्सेपशनल चिल्ड्रन, 1969.

बेकर, डब्ल्यू० सी०, **पेरेन्ट्स ऑर टीचर्स, ए चाइल्ड मेनेजमेंट प्रोग्राम**, कम्पन-111, रिसर्च प्रेस, 1971.

डेम्बइसिकी आर० जे० एवं माइजर ए० जे०, **वाट पेरेन्ट्स आफ दि लर्निग डिसएबिल्ड रीअली वान्ट फ्रोम प्रोफेशनल्स**, जर्नल आफ लर्निंग डिसएबीलिटीज, 1977, 10.

गोर्डन, टी०, **पेरेन्ट इफेक्टिवनैस ट्रेनिंग**, न्यूयार्क, पीटर एच वीडन, 1970

सिमचीज, आर० एफ०, **दि पेरेन्ट प्रोफेशनल पार्टनरशिप**, एक्सेपशनल चिल्ड्रन, 1975, 41

□□

शिक्षा पत्रकारिता का प्रमुख उद्देश्य जन सामान्य को शिक्षा की समस्याओ और समाधानों के सफल प्रयोगों से अवगत कराना है। विकलागों की शिक्षा से सबंधित गति-विधियों को भी उजागर करना इसका लक्ष्य होना चाहिए। इससे जानकारी का प्रसार होता है। विकलागों की विशेष शिक्षा सबंधी सुविधाओ तथा जन-चेतना के उद्बोधन के लिए भी शिक्षा पत्रिकारिता को समर्पित होना चाहिए।

शिक्षा पत्रकारिता तथा विकलांग

आनन्द जैन

जन संचार माध्यमो की शिक्षाधर्मी भूमिका सर्वविदित है। पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से शिक्षा सम्बन्धी जान-कारी का प्रकाशन होता रहता है। अब समय आ गया है जबकि शिक्षा पत्रकारिता का राष्ट्र मे उपयोगी योगदान स्वीकार किया जाने लगा है। विकलांगो की शिक्षा और पुनर्वास के सदर्भ मे शिक्षा-पत्रकारिता की अपेक्षाएं और आकांक्षाए और भी बढ जाती हैं। प्रस्तुत लेख मे प्रयास किया गया है कि विकलाग के सदर्भ में शिक्षा-पत्रकारिता को क्या दिशा-दृष्टि अपनानी चाहिए, क्योकि शिक्षा पत्र-कारिता समाचार-पत्रों मे प्रतिष्ठापित होने लगी है।

शिक्षा-पत्रकारिता की प्रतिष्ठा मे विम्लब और तत्सबधी विषय के कारगर न हो पाने का एक कारण हिन्दी भाषी साक्षर समाज मे पठन रुचि की प्रवृत्ति का अभाव रहा है। यहां तक कि व्यावसायिको मे भी अपने विकास और उत्कर्ष के लिए उन पत्रिकाओं के पठन का चाव नहीं पाया जाता जो कि उन्ही के ज्ञान-विस्तार के लिए प्रकाशित होती है। इसका उल्लेख इस आशय से किया जा रहा है कि व्यावसायिकों के ज्ञानवर्द्धन और ज्ञान विस्तार के लिए भी शिक्षा पत्रकारिता को धारदार बनाया जा सकता है।

शिक्षा पत्रकारिता के प्रयोजन को स्पष्ट समझ लेना चाहिए। इसका प्रमुख उद्देश्य जन सामान्य को शिक्षा की समस्याओ और समाधानो के सफल प्रयोगो से अवगत कराना है। विकलागो की शिक्षा से संबधित गतिविधियो को भी उजागर करना इसका लक्ष्य होना चाहिए। इससे जानकारी का प्रसार होता है। विकलागो की विशेष शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओ तथा जन-चेतना के उद्बोधन के लिए भी शिक्षा पत्रकारिता को समर्पित होना चाहिए। जनमत के निर्माण तथा सरकार पर दबाव डालने के उप-करण के रूप मे भी शिक्षा पत्रकारिता को विकसित करना चाहिए। कानूनी प्रावधान और नियुक्ति-आरक्षण आदि भी विकलागो की शिक्षा-सेवा के लिए आवश्यक है। अतः इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए शिक्षा पत्रकारिता के विविध आयामो को समझ लेना जरूरी है।

शिक्षा पत्रकारिता के विविध आयामो मे निम्नलिखित महत्व स्वतः स्पष्ट है।

1. समाचार-संकलन
2. संस्थागत प्रयासों का विवरण
3. व्यक्तिगत उपलब्धियो की जानकारी
4. जन-चेतना
5. अनुसधानो की सामान्य जानकारी
6. शिक्षा-सुविधाओ/समस्याओं की जानकारी
7. शिक्षा सम्बन्धी अन्य महत्वपूर्ण घटनाए/उपलब्धिया

1. समाचार-संकलन

दैनिक पत्रो तथा साप्ताहिक समाचार पत्रिकाओ मे विकलागो की शिक्षा से सम्बन्धित समाचारो और गति-विधियों को स्थान दिया जाना चाहिए। इन समाचारो का संकलन जानकारी के प्रचार-प्रसार के लिए सचित्र भी दिया जा सकता है। विकलाग-शिक्षा की गतिविधिया, समस्या आदोलन आदि भी समाचार सकलन के आधार हो सकते हैं। विकलागो की शिक्षा से सम्बन्धित सगोष्ठियों आदि के समाचार भी दिए जाने चाहिए। समाचार-चयन मे विकलांग-शिक्षा को प्राथमिकता भी दी जाए।

2. संस्थागत-प्रयासों का विवरण

यह भी सर्वविदित है कि भारत के आम नागरिक को यह जानकारी नही है कि विभिन्न प्रकार के विकलागो को शिक्षा दी जा सकती है तथा उनका पुनर्वास भी सभव है, जबकि सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्र में कई प्रयास किए जा रहे है। विभिन्न विकलांगों के राष्ट्रीय सस्थान भी स्थापित हुए है। इन सस्थानो के परिचयात्मक तथा समीक्षात्मक विवरण भी दिए जा सकते हैं। इसका एक लाभ तो यह होगा कि सस्थानो का परिचय लोगो को मिलेगा। साथ ही इन सस्थानो के विकास आदि पर भी विचार-विमर्श का अवसर मिल सकेगा। संस्थागत प्रयासो मे उन व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों को भी लिया जा सकता है जिनमे भिन्न-भिन्न वर्ग के विकलागो को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है। साथ ही उनके लिए स्वरोजगार योजनाओं को भी प्रचारित किया जा सकता है।

3. व्यक्तिगत उपलब्धियों की जानकारी

विकलांगों की शिक्षा के क्षेत्र में विकलांग महानुभावो ने विलक्षण कार्य किए है। उनके जीवन-चरित्र तथा कार्यों को भी पत्र-पत्रिकाओ मे स्थान देना चाहिए। उदाहरण के लिए अधो की शिक्षा मे महापुरुष ब्रेल के कार्यों की जानकारी और जीवन-चरित्र विकलागो की शिक्षा मे प्रेरणाप्रद रहेगा। भारत मे ही विकलाग-शिक्षा के उन्नयन मे दृष्टिहीन लाल अडवाणी का योगदान कम महत्वपूर्ण नही है। इसे उजागर करने की आवश्यकता है।

4. जन-चेतना

अज्ञान के अधकार और अधविश्वासों की दलदल मे फंसे भारतीयो को नए आलोक की आवश्यकता है। विकलाग सतान के प्रति मा-बाप का सोच और मनोवृत्ति बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। मां-बाप को गलत धारणाओ तथा अधविश्वासो से मुक्त करना विकलागो की शिक्षा में मा-बाप को नई जिम्मेदारी देना है।

इन प्रयासों मे उपयोगी कथाए और घटनाए समाचार-स्थान पा सकती हैं। विकलागो के लिए भिक्षाटन की ठेकेदारी का भण्डाफोड़ किया जा सकता है। बच्चो के अपहरण और उन्हे विकलाग बनाकर पेशेवर भिखारी बनाने वालो की खोज-खबर ली जा सकती है। निश्चय ही इससे जन-जागृति का वातावरण तैयार किया जा सकता है। व्यक्तिगत समस्याओ के लिए सामुदायिक दायित्व जागृत किया जा सकता है।

5. अनुसन्धान—सामान्य जानकारी

विकलागों की शिक्षा और सेवा-उपकरण सम्बन्धी अनुसंधानो की उपयोगिता पर आधारित समाचार-सूचनाओ का लाभ होता है। इनके शास्त्रीय उल्लेख की उपेक्षा कार्यकारी पहलुओ को शिक्षा पत्रकारिता मे सम्मिलित करने की आवश्यकता है जिसे सामान्य शिक्षक और मां-बाप भी समझ सके और उसका लाभ उठा सकें। शारीरिक विकलागो के उपकरणों की जानकारी दी जा सकती है जो उनकी शिक्षा में बहुत उपयोगी होती है। अनुसधानो को दिशा-निर्देश भी दिए जा सकते हैं जिससे भविष्य मे उपयोगी समाधान सामने आ सके।

विकलाग संतान के प्रति मां-बाप की सोच और मनोवृत्ति बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। मा-बाप को गलत धारणाओं तथा अंधविश्वासों से मुक्त करना विकलांगो की शिक्षा मे मा-बाप को नई जिम्मेदारी देना है।

विकलांगों की जनसख्या और उनके विषय मे अतिरिक्त जानकारी अभी उपलब्ध नही है। इस दिशा में वृहत्ताकार सर्वेक्षण किए जाने चाहिएं। उन प्रतिवेदनों के महत्वपूर्ण अंश शिक्षा-पत्रकारिता के तहत प्रकाशित किए जाने चाहिएं।

---

6. शिक्षा-सुविधाओं समस्याओं की जानकारी

शिक्षा सुविधाएं कहां उपलब्ध हैं? कैसे इनका लाभ उठाया जा सकता है? विकलागो को छात्रवृत्तिया मिलती हैं। स्कूल जाने का मार्ग-व्यय भी मिलता है। इन पर यदि समाचार-प्रसार का अवसर मिले तो आम आदमी को उपयोगी जानकारी मिलेगी। सुविधाओ के प्रबन्ध और

स्वीकृति मे समस्याओ का होना भी भारत मे एक अनिवार्य शर्त है। इन समस्याओ के केस-प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जा सकते हैं और प्रशासन को चुस्त बनाने के प्रयत्न किए जा सकते हैं। इस दिशा मे मिली सफलता का समाचार बनाने की जरूरत है। इन प्रयासो मे मार्गदर्शक बनने की जरूरत है न कि छिद्रान्वेषी; अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि ही हाथ लगेगी।

7. अन्य शिक्षा सम्बन्धी घटनाएं/उपलब्धियां

विकलांग विद्यार्थियो की प्रतिभा को उजागर किया जा सकता है। ऐसी घटनाओं को समाचार की भागीदारी दी जा सकती है जिनमे विकलाग शिक्षा को दिशादृष्टि मिले। उदाहरण के लिए दृष्टिहीनो को स्टेनो-टाइपिंग का प्रशिक्षण सफल रहा है। दृष्टिहीन स्टेनो-टाइपिस्ट बन सकते हैं या बन रहे हैं। इस प्रकार के सचित्र समाचार दिए जा सकते है।

इनके अतिरिक्त कुछ विषयो पर समीक्षात्मक सामग्री भी शिक्षा-पत्रकारिता के अन्तर्गत ली जा सकती है। यहा मूल्याकन प्रतिवेदनो के उल्लेख तक सीमित रहने की बात नही है बल्कि समीक्षात्मक विवरणो का परिचय देने की जरूरत है। ऐसे कुछ आवश्यक विषयो पर चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है। विषय है —

1. विकलाग महापुरुषो की जन्म-जयन्ती पर विशेष लेख
2. सर्वेक्षण-प्रतिवेदन
3. अपेक्षाओं एव आकाक्षाओ के आधार पर समस्याओ तथा उपलब्धियो का आकलन
4. विकलाग बच्चो के अधिकार-सरक्षण, आरक्षण और कानूनी प्रावधान
5. विशेष समारोह: विशेष सामग्री
6. विकलाग-शिक्षा-पुस्तको की समीक्षाए तथा बाल स्तंभ

1. विकलांग महापुरुषों की जन्म-जयन्ती पर विशेष लेख

जिस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक एव धार्मिक महापुरुषो की जन्म-जयन्तियों पर विशेष लेख प्रकाशित होते है उसी प्रकार विकलाग-महापुरुषो पर भी विशेष सामग्री प्रकाशित होनी चाहिए।

2. सर्वेक्षण-प्रतिवेदन

विकलागो की जनसख्या और उनके विषय मे अतिरिक्त जानकारी अभी उपलब्ध नहीं है। इस दिशा मे वृहत्ताकार सर्वेक्षण किए जाने चाहिए। उन प्रतिवेदनो के महत्वपूर्ण अश शिक्षा-पत्रकारिता के तहत प्रकाशित किये जाने चाहिए। इस दिशा मे कुछ प्रश्न भी रेखाकित किए जाने चाहिए जिनकी जानकारी शिक्षा सम्बन्धी नीति-नियोजन के लिए आवश्यक है। गांवो को विकलांग-शिक्षा उपलब्ध नही है। क्यो? कैसे उपलब्ध हो? नई शिक्षा नीति मे जिलास्तर पर प्रावधान की पेशकश हुई है, ब्लाक स्तर पर क्यो नही? प्रत्येक ब्लाक स्तर पर ब्लाक के अन्तर्गत विभिन्न कोटि के विकलाग बच्चो का सर्वेक्षण भी उपलब्ध रहना चाहिए। तभी विकलाग-शिक्षा की समुचित व्यवस्था संभव है।

3. अपेक्षाओं तथा आकांक्षाओं के आधार पर समस्याओं तथा उपलब्धियों का आकलन

साक्षात्कार प्रश्नावली के माध्यम से विशेष शिक्षक और शिक्षार्थियो से उनकी अपेक्षाओ और आकाक्षाओ का ब्यौरा प्राप्त किया जा सकता हैं। इनकी पूर्ति मे क्या-क्या समस्याए सामने आई हैं, उनका उल्लेख किया जा सकता है। इसके आधार पर साक्षात्कार प्रतिवेदन प्रकाशित किए जा सकते है। इसी सदर्भ मे नीति-नियोजको, प्रशासकों तथा गैर सरकारी सस्थाओ के कार्यकर्ताओ को भी साक्षात्कार प्रश्नावली का मुद्दा बनाया जा सकता है। इस प्रकार की सामग्री आम लोगो को भी दिशा देगी और निश्चय ही विकलागो की शिक्षा मे रचनात्मक सुधार की सभावनाए बढेगी।

4. विकलांग बच्चों के अधिकार-संरक्षण, आरक्षण और कानूनी प्रावधान

कहने की आवश्यकता नही कि अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष मे बाल-अधिकारों की बात विश्व भर मे गूजी थी। उन अधिकारो के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने की भी जरूरत है। विकलांग बच्चों के ये अधिकार सामान्य बच्चो

की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। इन अधिकारो के लिए जनमत तैयार करने और कानूनी व्यवस्था करने के लिए शिक्षा-पत्रकारिता को आगे आने की जरूरत है। मिसाल के तौर पर विकलागों की नि:शुल्क शिक्षा से काम नहीं चलेगा। उन्हे और अधिक आर्थिक सहायता चाहिए जिससे वे जरूरी उपकरण खरीद सके और अन्य कीमती ससाधनो का उपयोग कर सके। उनके अधिकारो की दृष्टि से ये प्रावधान कानूनी शक्ल मे होने चाहिए। इसके लिए आदोलन खडा करने तक का प्रयत्न शिक्षा-पत्रकारिता से अपेक्षित है।

यद्यपि नियुक्ति-आरक्षण, दुकान-आरक्षण आदि का विवरण शिक्षा से जुडा हुआ प्रसग नही है लेकिन इन मुद्दो को भी उठाने की जरूरत है। हो यह रहा है कि इन सुविधाओ का लाभ धनी लोग ही उठा रहे है। नगर और महानगर के नागरिक ही मीठे फल खा रहे है। इसके विस्तार की जरूरत है। इन प्रयासो को गांवों तक पहुचाने की जरूरत है।

5. विशेष समारोह : विशेष सामग्री

विकलाग शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष समारोह आयोजित होते रहते हैं। उनको प्रकाशित किया जाना चाहिए। मार्च मे अन्तराष्ट्रीय विकलांग दिवस मनाया जाता है। राजधानियों मे इस अवसर पर अनेक प्रतियोगिताए, सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा प्रदर्शनी आदि आयोजित की जाती हैं। ये विकलांगों की उपलब्धि के रूप मे स्वीकार और प्रसार की अपेक्षा रखती है। दृष्टिहीनो की विशेष शिक्षा के सौ वर्ष पूरे हो गए है। शताब्दी समारोह आयोजित हुए है और होने की संभावना है। इस प्रसग मे महत्वपूर्ण जानकारी पर आधारित विशेष सामग्री प्रकाश मे आनी चाहिए। साहित्यकार या राजनेता की शताब्दी के समाचार बराबर चलते रहते हैं। उन पर विशेष सामग्री भी प्रकाशित होती रहती है। विकलागो की शतकीय उपलब्धियों की उपेक्षा क्यो ? इसे भी शिक्षा-पत्रकारिता का प्रमुख विषय होना चाहिए।

6. विकलांग-शिक्षा पुस्तकों की समीक्षाएं एवं बाल स्तम्भ

पुस्तक समीक्षाओ मे साहित्य का बोलबाला रहता है। शास्त्र-साहित्य की समीक्षाए कम देखी जाती है। विकलाग शिक्षा से सम्बन्धित साहित्य की समीक्षाए यथाशीघ्र और प्राथमिकता के आधार पर प्रकाशित की जानी चाहिए। अग्रेजी पत्रों में तो इनकी गुजाइश काफी रही है लेकिन भारतीय भाषाओं के पत्रो मे इस किस्म की समीक्षाएं कम देखने मे आती हैं। शिक्षा पत्रकारिता पुस्तक समीक्षा के तहत विकलागों की शिक्षा पर प्रकाशित पुस्तकों को तरजीह दे सकती है। बाल-स्तभ में विकलाग बच्चो के रचना-कौशल और उपलब्धियो को स्थान दिया जाना चाहिए।

साराश मे, वे सभी गतिविधिया जिनकी चर्चा इस लेख मे नही हो पाई है, वे भी शिक्षा-पत्रकारिता का अग बने और विकलागों की शिक्षा को उपयोगी और सार्थक बनाने की दिशा मे प्रगतिशील कदम उठाने का प्रयास करे। इस क्षेत्र को उपेक्षित छोड़ देना पत्रकारिता मे नासमझी ही मानी जाएगी। इस दिशा मे सभी के सजग रहने की जरूरत है। □□

अधिगम वकलांग बालक तथा पठन-शिक्षण

डा० राजेन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव

बालक के समुचित विकास से आशय है उसके व्यक्तित्व का संतुलित विकास। व्यक्तित्व का स्वरूप बालक के शरीर, बुद्धि, भाव तथा समाज के साथ उसके समायोजन पर निर्भर करता है। इनमें से किसी भी पक्ष के असंतुलन से बालक मे विकलागता आ जाती है। जो बालक बौद्धिक रूप से सामान्य हो किन्तु उसे नई विषयवस्तु को सीखने तथा समझने मे कठिनाई का अनुभव हो, उसे अधिगम विकलाग बालक कहा जाएगा। ऐसे बालक सामान्य बुद्धि रखते हुए भी कुछ विशेष कारणवश अपने अध्ययन मे सफलता नही प्राप्त कर पाते। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे अस्वास्थ्य, संवेगात्मक अथवा सामाजिक कुसमायोजन, विषय में अभिरुचि की कमी, विषयवस्तु के समझने मे क्रमिक तथा समयानुकूल शिक्षण का अभाव, आदि। यहां हम पठन-अधिगम की दृष्टि से पिछड़े हुए बालकों की समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार करेगे।

पठन का स्वरूप

लिखे हुए अथवा छपे हुए शब्दों का उच्चारण कर देना मात्र पठन नही है। पठन को वाचन का पर्याय मान लेना उचित नहीं। वाचन शब्द का अर्थ है—शब्द, वाणी

पठन की सार्थकता समझकर पढ़ने में ही है। यह समझना ही पठित वस्तु का अर्थबोध या अर्थग्रहण करना है। इस योग्यता में अनेक कुशलताओं का योग रहता है।

अधिगम विकलांग बालकों में गहन-पठन के अभ्यास के लिए विशेष रूप से औपचारिक शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। किसी पाठ को पढाते समय भाषा संबंधी कठिनाइयो के निवारण, मौन पठन, विचार विश्लेषण, भाषा कार्य आदि क्रियाओं पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

अथवा कथन। वाचन मे शब्दो के उच्चारण की प्रधानता होती है जबकि पठन मे अर्थ ग्रहण पर बल होता है। पुस्तक पढते समय बच्चा शब्दोच्चारण मात्र न करे वरन् उसमे निहित अर्थ को भी समझे, यही हमारी अपेक्षा रहती है। पठन एक सोद्देश्य, सार्थक तथा चिन्तनप्रधान क्रिया है। इसमे सृजन तथा कल्पना दोनो का समावेश रहता है। पाठक केवल विचारो का ग्रहण ही नही करता वरन् उनकी सृष्टि भी करता है। पठन क्रिया सार्थक तभी मानी जाएगी, यदि उसका कोई उद्देश्य हो। जैसे विश्व अथवा मानव के स्वभाव को समझना; अवकाश के क्षणो मे आनंदित होना; किसी समस्या के समाधान हेतु तथ्य एकत्र करना अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति या वस्तु के निर्माण हेतु विधि की खोज करना।[1]

पठन क्रिया मे व्यस्त पाठक की दृष्टि जैसे-जैसे लिखे हुए शब्दों पर घूमती है, वैसे-वैसे वह शब्दों का प्रत्यभिज्ञान कर उनमे निहित अर्थ को ग्रहण करता जाता है। इस प्रकार वह पाठ्य सामग्री मे निहित लेखक के विचार, भाव तथा मन्तव्य को समझ कर उनका मूल्यांकन भी करता है। ऐसा करते समय उसके मन मे जो प्रतिक्रिया होती है, वह उसके पूर्व अनुभवो के कारण होती है। पढते समय वह सोचता है कि लेखक ने ऐसा क्यो कहा, इस कथन मे कितना औचित्य है, आदि। किसी पाठ को पढ़कर उसने जो अर्थ ग्रहण किया है उसे वह अपने ज्ञान-कोष मे समाहित कर लेता है जिसका आवश्यकतानुसार वह अपने जीवन मे प्रयोग करता रहता है।[2]

पठन तत्परता तथा मानसिक योग्यता

जिस प्रकार अच्छी उपज के लिए किसान अच्छे बीज बोने से पहले मिट्टी को उपजाऊ बनाता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह बालक को मानसिक रूप से पढने के लिए तैयार कर ले। पठन तात्पर्य का आशय बच्चे मे विकास की उस अवस्था से है जब वह परिपक्वन तथा अधिगम की सहायता से सरलता और शीघ्रता के साथ पढ़ना सीख सकता है। पठन-प्रक्रिया को कार्यान्वित करने के लिए अनेक योग्यताओ, कुशलताओ एव अभिरुचियो की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए बालक की दृष्टि एव श्रवण शक्ति का सक्रिय होना जिससे कि वह दो समान आकृतियो व ध्वनियो के अंतर को समझ सके, हिन्दी पढने के लिए बाए से दाएं और ऊपर से नीचे दृष्टि-सचालन करना; लिखित शब्द का उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करना; अर्थग्रहण के लिए घटनाक्रम को समझना; एकाग्रचित्त होकर विचारों को सगठित करने की योग्यता का होना आवश्यक है। पाठ्यवस्तु का मूल्याकन करने के लिए उचित-अनुचित तथा गुण-दोष परखने की क्षमता होनी चाहिए। समुचित प्रतिक्रिया तथा प्रयोग के लिए भावात्मक स्थिरता, मानसिक परिपक्वता, वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन आवश्यक है। पठन प्रारभ करते समय बालक मे इन मानसिक योग्यताओ का होना अनिवार्य है।[3]

पठन तथा मस्तिष्क दानो मे अमूर्त चिन्तन, तर्क, अर्थग्रहण समस्या का समाधान तथा सप्रत्यय अधिगम की योग्यताए समाहित रहती है। बच्चो के बुद्धिलब्ध तथा पठन उपलब्धि मे सहसबध देखने को मिलता है। मानसिक योग्यता पठन को प्रभावित ही नही करती वरन् उससे प्रभावित भी होती है। पठन सीखते समय दृश्य-श्रव्य विभेदीकरण तथा मानसिक योग्यताओ का समुचित विकास आवश्यक है।

पठनारभ योग्यताएं तथा अधिगम विकलांगता

पठन सीखना प्रारम्भ करने से पूर्व बालक में शब्दार्थ बोध, वाक्यार्थ बोध, आकृति तथा शब्द रूपों मे तुलना

करने की योग्यता, ध्वनि विभेदीकरण तथा अनुलेखन की योग्यता का विकास आवश्यक है। वही बालक पठन-कौशल मे दक्षता प्राप्त कर सकता है जो शब्द के नाम और रूप मे सम्बन्ध स्थापित कर सके, शब्द के आदि, मध्य तथा अत मे आई हुई ध्वनियो मे विभेद कर सके तथा दृष्टि प्रत्यक्षीकरण तथा गति-नियंत्रण द्वारा लिपि चिन्हो को ठीक-ठीक लिख सके। पठन-अधिगम विकलाग बालको मे प्रायः उस मानसिक तत्परता का अभाव होता है जो पठन सीखने के लिए आवश्यक हैं। वह पूर्वकथित स्थितियो पर उचित ध्यान न दे सकने के कारण पठन-कौशल सीखने मे पीछे रह जाता है। अध्यापक को इन बच्चों पर प्रारभ से ही विशिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है। उसे ऐसी क्रियाओ का सहारा लेना चाहिए जो बालक के पठन-अधिगम सम्बन्धी योग्यता को विकसित कर सके। उदाहरण के लिए कहानी सुनाकर उसकी घटनाओ के यथाक्रम वर्णन के लिए कहना, दी गई स्थिति के आधार पर भविष्य की घटनाओ का अनुमान लगाना, कहानी के मूल भाव को समझना, शब्दो को क्रमानुसार बाए से दाए देखना, वर्णों के आकार-प्रकार तथा उसकी ध्वनियो की समानता एव असमानता की पहचान, आदि।

नवीन शब्दो से परिचित कराने के लिए इन बच्चों को वास्तविक वस्तुए अथवा उनके माडल या चित्र दिखाए जा सकते है। कार्ड तथा चित्रकार्डों की सहायता से सप्रत्ययो का वर्गीकरण, सामान्यीकरण तथा तुलना करने की योग्यता विकसित की जानी चाहिए। आसपास के वातावरण मे प्राप्त वस्तु, व्यापार अथवा घटना का प्रत्यक्ष दर्शन कराया जा सकता है।

पठन एक सोद्देश्य, सार्थक तथा चिन्तनप्रधान क्रिया है। इसमे सृजन तथा कल्पना दोनों का समावेश रहता है। पाठक केवल विचारो का ग्रहण ही नहीं करता वरन् सृष्टि भी करता है। पठन क्रिया सार्थक तभी मानी जायेगी, यदि उसका कोई उद्देश्य हो।

जिस प्रकार अच्छी उपज के लिए किसान अच्छे बीज बोने से पहले मिट्टी को उपजाऊ बनाता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह बालक को मानसिक रूप से पढ़ने के लिए तैयार कर ले।

पढ़ना कैसे सिखाएं

वर्ण विधि, ध्वनि साम्य विधि, शब्द विधि, वाक्य विधि तथा कहानी विधि पढना सिखाने की प्रमुख विधियां हैं। वर्ण विधि के द्वारा बालक को पहले भाषा के सभी वर्णों का ज्ञान दिया जाता है फिर उन्हे जोड़कर शब्द और वाक्य बनाना होता है। ध्वनि साम्य विधि में समान मिलती-जुलती ध्वनियों की सहायता से नए अक्षर सिखाकर शब्द तथा वाक्य रचना कराई जाती है। शब्द विधि मे चित्रो के माध्यम से शब्द ज्ञान कराते हुए शब्द-विश्लेषण द्वारा पहले वर्णों का ज्ञान, पुन. नए शब्दो की रचना कराई जाती है। वाक्य तथा कहानी विधि मे क्रमश. वाक्य या कहानी को आधार बनाकर पहले शब्द फिर अक्षर-ज्ञान कराया जाता है।

डेकाट का मत है कि किसी विधि की उपयुक्तता बालक विशेष की योग्यता तथा आवश्यकता पर निर्भर करती है। अनुसधान से पता चला है कि विश्लेषणात्मक प्रणाली अथवा शब्द विधि से पढ़ना सीखना अधिक सरल तथा उपयोगी है। किन्तु कुछ बच्चो ने सश्लेषणात्मक प्रणाली अथवा वर्ण विधि से पढ़ना सीखा है। कोई भी एक विधि सभी बालको के लिए समान रूप से प्रभावशाली सिद्ध नही हुई। अत अधिगम विकलांग बच्चो को पठन सिखाते समय अध्यापक को ऐसी विधि अपनानी चाहिए जो उसके मानसिक स्तर तथा रुचि को देखते हुए सर्वाधिक अनुकूल हो।

अर्थग्रहण योग्यता का विकास

पठन की सार्थकता समझकर पढने मे ही है। यह समझना ही पठित वस्तु का अर्थबोध या अर्थग्रहण करना है। इस योग्यता मे अनेक कुशलताओ का योग रहता है। शब्द प्रत्यभिज्ञान तथा वाक्यार्थबोध अर्थग्रहण की आधारभूत योग्यताए हैं। इनके साथ ही पढकर मुख्य विचार ज्ञात करना, विशिष्ट विवरण का चुनाव करना, सक्षिप्तीकरण तथा सगठन करना, सामान्यीकरण करना, निर्देशन का अनुसरण करना, संभावित घटनाओं के सम्बन्ध मे अनुमान लगाना, आलोचनात्मक ढग से मूल्याकन करना आदि भी अर्थग्रहण की महत्वपूर्ण कुशलताए हैं। पठन अधिगम की दृष्टि से कमजोर बालको मे अर्थग्रहण कौशल के विकास के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक हैं। कहानियों तथा रुचिकर पाठ्य सामग्री के माध्यम से बनाए गए अर्थग्रहण सम्बन्धी अभ्यासों द्वारा इस योग्यता का विकास किया जाना चाहिए।[4]

सस्वर तथा मौन पठन

सस्वर पठन का उद्देश्य है शुद्ध उच्चारण, उचित गति तथा विराम-चिन्हों को ध्यान मे रखकर पढ़ने की योग्यता का विकास करना। भाव एव विचार के अनुरूप भाषा पढते समय उतार-चढ़ाव, सुस्वरता तथा प्रभावोत्पादकता की सृष्टि करना आवश्यक है। इसके माध्यम से शब्दो तथा वाक्यों को उचित बलाघात, स्वराघात, अनुतान तथा सहिता के साथ पढने की योग्यता का विकास किया जाना चाहिए।

पठन अधिगम विकलांग बालक के सस्वर पठन में शुद्ध तथा स्पष्ट उच्चारण पर विशेष बल देना चाहिए। प्राय मिलती-जुलती ध्वनियो के उच्चारण में अशुद्धि हो जाती है। जैसे—ए-ऐ, ओ-औ, स-श, व-ब, घ-घ, ड-ड, ढ-ढ़, आदि। इन अशुद्धियों के सुधार के लिए अध्यापक को उच्चारणोपयोगी अवयवो का ज्ञान होना आवश्यक है।

मौन पठन का उद्देश्य पाठ्य-सामग्री मे निहित विचारो को आत्मसात करना तथा पठन गति की वृद्धि करना है। इसके द्वारा पाठक विस्तार और गहराई के साथ अर्थग्रहण करता हुआ चिन्तन, मनन एव तर्कशक्ति का विकास करता

है। अवकाश के समय मनोरजक सामग्री को पढकर आनन्द लेने मे मौन पठन बहुत सहायक होता है। पुस्त-कालय अथवा सार्वजनिक स्थानो पर जहा जोर-जोर से पढना वर्जित होता है, मौन पठन का व्यावहारिक महत्व और भी बढ जाता है। पठन की दृष्टि से पिछड़े हुए बच्चे अर्थग्रहण के लिए मौन पठन की अपेक्षा सस्वर पठन का ही सहारा लेते हैं। यह भी सभव है कि मौन पठन के कौशल मे प्रवीण बालक का बौद्धिक विकास अपेक्षाकृत अधिक होता हो। फिर भी सस्वर पठन मे कुशलता प्राप्त कर लेने के बाद ही मौन पठन कराया जाना चाहिए।

गहन पठन तथा विस्तृत पठन

गहन पठन को गहन अध्ययन भी कहते है। इसके अन्दर पाठक भाषा और विचार, शैली और भाव अथवा रस, छद, अलकार आदि का विश्लेषण करता है। वह भाषा मे प्रयुक्त शब्दों, पदो एव वाक्याशो की रचना, अर्थ, प्रयोग आदि को समझता है। विचार अथवा भाव का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। घटनाओ के औचित्य तथा लेखक के मन्तव्य का मूल्याकन करता है। अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया मे गहरे प्रवेश कर वह अपनी स्वतत्र विचारधारा का निर्माण करता है।

विस्तृत अध्ययन को व्यापक अध्ययन अथवा द्रुत अध्ययन भी कहते है। इसका उद्देश्य ज्ञान परिधि को बढाना, पठन रुचि का विकास करना तथा द्रुत पठन की कला मे निपुण बनाना है। भाषा ज्ञान को सक्रिय और व्यावहारिक रूप देने के लिए विस्तृत पठन का अभ्यास आवश्यक है। इसके द्वारा पाठक मौन पठन मे अधिका-धिक लीन होता है जिसके फलस्वरूप उसमे स्वाध्याय की प्रवृत्ति का विकास होता है।

अधिगम विकलाग बालको मे गहन पठन के अभ्यास के लिए विशेष रूप से औपचारिक शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। किसी पाठ को पढाते समय भाषा सम्बन्धी कठिनाइयो के निवारण, मौन पठन, विचार विश्लेषण, भाषा कार्य आदि क्रियाओ पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। विस्तृत पठन के लिए इतना औपचारिक शिक्षण आवश्यक नही। यहां निर्देशित पठन का सहारा लिया जा सकता है। अध्यापक को चाहिए कि वह कक्षा मे छात्रो को कुछ पाठ्य बिन्दुओ का निर्देश कर दे जिनका ध्यान रखकर छात्र किसी विशेष पाठ को घर पर पढे। इस प्रकार जहा एक ओर वह स्वच्छद होकर पाठ को अपनी गति और रुचि के अनुरूप पढ़ेगा, वहीं अध्यापक द्वारा दिए गए बिन्दुओ को भी ध्यान मे रखेगा। पठन की यह प्रणाली अधिगम विकलाग बालक मे स्वावलबन की भावना का विकास करने मे सहायक होती है।

पठन अभिरुचि

बालको की पठन अभिरुचि का पता लगाने के लिए देश-विदेश मे अनेक अनुसधान किए गए है। इनके आधार पर ज्ञात हुआ है कि बच्चो की अभिरुचिया उनके भौगो-लिक वातावरण, सास्कृतिक परिवेश, उपलब्ध पाठ्य-सामग्री तथा प्रचलित शिक्षण विधि के अनुरूप भिन्न-भिन्न होती हैं। बालक की आयु, लिंग, तथा सामाजिक आर्थिक स्थिति भी उसके पठन अभिरुचि के निर्धारण मे सहायक होते है। प्राय. सभी बच्चे कथा साहित्य मे अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेते है। हास्यप्रद, साहसिक, उत्सुकतावर्धक, रहस्यपूर्ण, रोमाचक पाठ्य-सामग्री, पशुओ और बाल जीवन सबधी कहानियो तथा जीवन साहित्य मे बालक और बालिकाओ दोनों की रुचि होती है। चुटकले, व्यंग्य विनोद तथा चलचित्र से सबधित विषय भी दोनो के आक-र्षण केन्द्र होते हैं। सरल तथा स्वाभाविक भाषा मे लिखी गई कहानियां, उपन्यास, कविताए आदि पढ़ने मे छात्र अधिक रुचि लेते है।[5]

अधिगम विकलाग बालको की पठन अभिरुचि के विकास मे अध्यापक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जो अध्यापक स्वत. पठन-प्रेमी होगा, वह यह कार्य इन बालको मे स्वाभाविक रूप से सम्पन्न कर सकेगा। बालको को ऐसी पत्रिकाएं तथा पुस्तके दी जानी चाहिए जो उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुरूप हों। हमारे यहा विभिन्न आयु-वर्ग, योग्यता तथा अभिरुचि के अनुकूल बाल साहित्य की सृष्टि नही हो पाती जिसके फलस्वरूप बच्चों को अभीष्ट पाठ्य-सामग्री समयानुसार प्राप्त नही होती। अध्यापक तथा माता-पिता को यह निर्णय करने मे कठिनाई होती है कि बच्चो को पढाने के लिए कैसी सामग्री दी जाए। प्राय: प्रौढ़ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल साहित्य को ही बच्चो

पर थोप देता है। अधिक विकलाग बालको की अभिरुचियो का पता लगाकर उसके अनुरूप बाल साहित्य के निर्माण की सर्वाधिक आवश्यकता है।

पठन अभ्यास

पठन अभ्यास अथवा पढ़ने की आदत मे व्यक्तिगत भेद देखा जाता है। अर्थ ग्रहण के लिए एक बालक मौन पठन का सहारा लेता है तो दूसरा सस्वर पठन का। एक व्यक्ति पढने के लिए शात और एकात स्थान खोजता है तो दूसरा कही भी किसी भी वातावरण मे पढने लगता है। कोई बैठकर पढ़ना पसद करता है तो कोई लेटकर, कोई तेज प्रकाश मे पढ़ता है तो कोई खिडकी दरवाजे बन्द करके मध्यम प्रकाश मे। पुस्तक पढते समय कुछ लोग महत्वपूर्ण पंक्तियों को रेखाकित करते चलते हैं। कोई बालक ऐसा न कर केवल पाठ्य-बिन्दुओ को परिच्छेद के सम्मुख नोट करते जाते हैं। तीसरी कोटि के छात्र पुस्तक मे कुछ लिखना ही पसन्द नही करते, उन्हे पुस्तक पढ़ते समय जो बात याद आती है अलग से कापी मे लिखते जाते हैं। कुछ बालक एक बार मे ही पढ कर अर्थ ग्रहण कर लेते हैं दूसरे कई बार पढने के बाद भी ऐसा नहीं कर पाते। कोई बालक पाठ को पढ़ने के बाद मन मे उसकी पुनरावृत्ति करता है तो कोई उसका साराश कापी मे लिखता है। अधिकतर छात्र केवल पढ़ते जाते है, न पुनरावृत्ति करते हैं और न साराश लिखते हैं। कोई साहित्य की पुस्तकें अधिक पढता है तो कोई विज्ञान की। कोई सरल तथा रोचक पुस्तकें पढ़ना पसद करता है तो कोई गूढ़ और विचार प्रधान। निष्कर्ष यह कि हर व्यक्ति के पढने का अपना अलग ही ढग होता है। पठन के वे सभी अभ्यास

अच्छे माने जाएगे जो अर्थ ग्रहण मे सहायक तथा पठन के उद्देश्य प्राप्ति मे सहायक होते है ।

बालक के पठन अभ्यास को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक हैं—भौतिक परिस्थितिया, व्यक्तिगत कारक तथा पाठ्य-विषय ।[6] भौतिक परिस्थिति का सम्बन्ध पढने के लिए निर्दिष्ट स्थान तथा वातावरण से है । छोटे मकान मे बड़े परिवार के बीच पठन क्रिया का सफल निर्वाह कठिन हो जाता है । ऐसे घरों मे कभी बच्चे शोर करते है तो कभी रेडियो बजता है । कभी मेहमानो की भीड तो कभी परिवार के सदस्यों का वार्तालाप बालक के एकाग्र-चित्त होकर पढने मे बाधक होता है । इसी प्रकार चिंतित और निराश बालक एकाग्रचित्त होकर नही पढ सकता । खेलने के समय यदि बालक को पढने के लिए विवश किया जाय अथवा टी. वी. में पिक्चर न देखकर पढाई करने के लिए मजबूर बालक भला कभी पढ़ सकता है ?

पाठ्यवस्तु मे निहित अतर्वस्तु तथा दत्तकार्य का स्वरूप भी बालक की अध्ययन प्रणाली को प्रभावित कर सकता है । जो विषय बालक की दृष्टि मे जितना सार्थक' सोद्देश्य तथा सुरुचिपूर्ण होगा उसके पठन मे वह उतना ही एकाग्रचित्त होगा । इसी प्रकार पठन सम्बन्धी दत्तकार्य यदि छात्र की रुचि तथा योग्यता के अनुरूप हुआ तो उसे सम्पन्न करने मे वह अधिक सक्रियता एव तत्परता दिखा-एगा । अध्यापक का व्यक्तित्व तथा विषय के प्रस्तुतिकरण मे उत्साह और तल्लीनता भी छात्रो मे पठन रुचि तथा सक्रियता की सृष्टि करने मे सहायक होता है । प्रिय अध्या-पक द्वारा पढ़ाए गए विषय मे बालक रुचि लेने लगता है तथा उसके अर्थ ग्रहण मे उसे सरलता होती है। अधिगम विकलाग बालको के लिए उन सभी निर्धारक तत्वों का विशेष महत्व है ।[7]

पठन-सूत्र

पठन विशेषज्ञो ने अध्ययन प्रधान पठन को सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिए एक सूत्र[8] की अनुशंसा की है जिसके अनुसार किसी पाठ्य-सामग्री को हृदयगम करने की प्रक्रिया मे पाच सोपान होते है—सर्वेक्षण, प्रश्न, पठन, समीक्षा, आवृत्ति। सर्वेक्षण के अतर्गत पाठ्य-सामग्री पर एक विहगम दृष्टि डालकर लेखक का मन्तव्य पठन का उद्देश्य तथा ठीक पठन विधि का निर्धारण किया जाता है। पुन: पाठक ऐसे प्रश्नो की सृष्टि करता है जिनका उत्तर इस पाठ्य सामग्री को सरसरी तौर पर देखकर प्राप्त किया जा सके। तत्पश्चात् निर्दिष्ट उद्देश्य को ध्यान मे रखकर पठन क्रिया सम्पन्न की जाती है। गृहीत अर्थ की समीक्षा करने के बाद बालक पठन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान, कौशल अथवा योग्यता की पुनरावृत्ति इस दृष्टि से करता है कि इसका भविष्य मे प्रयोग कर सके।[9]

अधिगम विकलांग बालको को पुस्तक पढाने का उचित अभ्यास प्रारभिक स्तर से ही कराना चाहिए। इससे उनमे पठन की अच्छी आदतो का निर्माण होगा। पाठ को पढ़ते समय ऊपर बताए गए सूत्र के पांचो सोपानो का पालन करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इन बालकों में पठन का अभ्यास प्रतिदिन नियमित रूप से किया जाना चाहिए। पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी समय-समय पर पढी जानी चाहिए। परिमाण और गुण दोनो ही दृष्टियों से छात्रों के पठन में सतुलन उत्पन्न करना अध्यापक तथा माता-पिता का पुनीत कर्त्तव्य है। □□

सन्दर्भ

1. ग्रे, डब्ल्यू. एस. **द टीचिंग आफ रीडिंग एंड राइटिंग**, यूनेस्को, 1956.

2 श्रीवास्तव, राजेन्द्र प्रसाद, **हिन्दी शिक्षण**, बी-147, अमर कालोनी, नई दिल्ली, 1986.

3. डाउनिग एड ठैकरे, **रीडिंग रेडीनेस**, यूनिवर्सिटी आफ लंदन प्रेस, 1971.

4. फ्लड, जेम्स, **प्रमोटिंग रीडिंग काम्प्रेहेन्शन**, आई. आर. ए., 1984.

5. एन. सी. ई. आर. टी. **टीचिंग रीडिंग—ए चैलेंज**, 1984.

6. मेलनिक एंड मेरिट, **रीडिंग करीक्यूलम**, लदन यूनिवर्सिटी, 1972.

7. टेन्सले, ए. ई., **रीडिंग एण्ड रेमेडियल रीडिंग**, रटलेज एंड केगन पाल, लंदन, 1967.

8. एस क्यू. ३ आर, **सर्वे, क्वेश्चन, रीडिंग, रिसाइट.**

9. श्रीवास्तव आर. पी., **टीचिंग आफ रीडिंग**, बाहरी पब्लिकेशंस, 1979.

समन्वित शिक्षा के संदर्भ में भेंट वार्ता

डॉ० जयपाल तरंग

राष्ट्रीय शिक्षा नीति की क्रियान्वयन-योजना मे विकलांग बच्चों की शिक्षा को गंभीरता से लिया गया है। विकलागो की शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियो का सामान्य समुदाय के साथ समान सहभागी के रूप मे समन्वयन करके उन्हे सामान्य वृद्धि के लिए तैयार करना तथा उनमें जीवन को हिम्मत और विश्वास के साथ जीने की क्षमता का विकास करना है। इस दिशा मे निम्नलिखित ठोस कदम उठाए जाएगे—

1. जहा तक व्यावहारिक होगा शारीरिक रूप से विकलाग तथा अन्य मानसिक रूप से शिक्षणीय विकलाग बच्चों की शिक्षा व्यवस्था अन्य सामान्य बच्चो के साथ की जाएगी।
2. अत्यधिक विकलाग बच्चो के लिए जिला स्तर पर छात्रावास सहित विशेष विद्यालयो की यथासंभव स्थापना की जाएगी।
3. विकलागों के लिए व्यावसायिक-प्रशिक्षण के पर्याप्त प्रबध किए जायेंगे।
4. शिक्षक-प्रशिक्षण को विकलाग बच्चों की विशेष कठिनाइयो को ध्यान मे रखकर विशेष रूप से प्राथमिक कक्षाओ के लिए अभिस्वीकृत किया जायेगा।
5. विकलाग शिक्षा के क्षेत्र मे स्वैच्छिक प्रयत्नो को हर मुमकिन तरीके से प्रोत्साहित किया जाएगा।

इसी सदर्भ मे मानव संसाधन मत्रालय ने विकलागो की समन्वित शिक्षा के विषय में एक स्कीम प्रस्तुत एव वितरित की है। इस स्कीम के विभिन्न पहलुओ पर प्रश्नोत्तरी साक्षात्कार से सामान्य जानकारी के मुद्दे उठाए गए हैं। भेंट वार्ता हुई है ऐसे व्यक्ति से जो इस स्कीम से जुड़े हैं। वे हैं डा० नन्द किशोर जांगीरा।

डा० एन० के० जागीरा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के अध्यापक शिक्षा विभाग के अन्तर्गत 'विशेष शिक्षा' के प्रभारी आचार्य हैं। समन्वित शिक्षा के प्रशिक्षण एव क्रियान्वयन व्यूह रचनाओ से आपका अधिकारी सरोकार रहा है। मानव ससाधन मत्रालय के शिक्षा विभाग मे विकलांग शिक्षा विशेषज्ञ के नाते नीति-

मानव संसाधन मंत्रालय ने विकलांगों की समन्वित शिक्षा के विषय में एक स्कीम प्रस्तुत एवं वितरित की है। इस स्कीम के विभिन्न पहलुओ पर प्रश्नोत्तरी साक्षात्कार से सामान्य जानकारी के मुद्दे उठाए गए है। भेंट वार्ता हुई है ऐसे व्यक्ति से जो इस स्कीम से जुड़े हैं। वे है डा० नन्द किशोर जागीरा।

नियोजन तथा मूल्याकन आदि विषयो से जुड़े हैं। अधिकारी विद्वान होने के अलावा विकलांगो की विशेष शिक्षा मे उनकी विशेष रुचि है तथा विकलांगो की शिक्षा-सफलता के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करते रहे हैं। भेंटवार्ता के प्रश्न और उत्तर बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत हैं।

प्रश्न : मानव ससाधन मत्रालय द्वारा वितरित विकलांगों की समन्वित शिक्षा की स्कीम मे क्या सभी प्रकार के विकलांगों को सामान्य विद्यालय मे रखने की व्यवस्था है ?

उत्तर : स्पष्ट उत्तर 'नहीं' है। सामान्य बच्चों के साथ विकलांगों के लिए शिक्षा-प्रबन्ध और शिक्षा-पाठ्यक्रम को सफलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत सामान्य विकलागो (Mildly handicapped) को रखा गया है। अति विकलागो के लिए विशिष्ट विद्यालय का प्रावधान है। चाक्षुष विकलाग, मूक बधिर, मानसिक विकलाग तथा शारीरिक विकलागों को समन्वित शिक्षा मे स्थान दिया गया है।

प्रश्न : भारतीयो बच्चो मे अधिगम विकलागता भी कम नही है। इस विकलाग-वर्ग को समन्वित शिक्षा मे क्यो शामिल नही किया गया है ?

उत्तर : समन्वित शिक्षा में यथाशीघ्र इस वर्ग को शामिल किए जाने के प्रयत्न हो रहे है। उपर्युक्त वर्गों के विकलागों की पहचान और परख पहले से ही हो रही थी। अत उन्हे समन्वित शिक्षा मे स्थान मिल गया। अधिगम विकलागो की परख-पहचान पर अभी कार्य शुरू हुआ है। इसलिए इस दिशा में 'विलम्ब' कहा जा सकता है।

प्रश्न : आपने कई अवसरो पर कहा है कि विकलाग शिक्षा को हमारे देश मे समाज कल्याण कार्य ही माना गया है। आज भी समाज कल्याण विभाग के अंतर्गत विकलांगो के विशिष्ट विद्यालय चल रहे है। क्या विकलागो की शिक्षा मानव संसाधन मंत्रालय के शिक्षा विभाग के आधीन हो गई है ?

उत्तर : विकलांगो की शिक्षा पूर्णरूपेण शिक्षा विभाग को हस्तांतरित नही हुई। विशेष विद्यालय अब भी समाज कल्याण विभाग के आधीन है। यह महसूस किया जा रहा है कि इस दिशा मे कुछ तर्कसंगत कदम उठाए जाएं। इस ओर प्रयास हो रहा है। केवल समन्वित शिक्षा को ही शिक्षा विभाग ने अपने आधीन लिया है।

प्रश्न : आपने कई अवसरो पर यह भी कहा है कि मानव ससाधन मत्रालय की विकलांगों के लिए समन्वित शिक्षा की स्कीम के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी राज्य सरकारों को सौंपी गई है। किन-किन राज्यो मे यह स्कीम शुरू हो गई है ?

इस समय प्रशिक्षण कई स्तरो पर विभिन्न अवधियों से चल रहे हैं। उनका कोई मानकीकृत स्वरूप और अवधि निश्चित नही है। प्रशिक्षण के मानकीकरण का कार्य शुरु हो गया है।

समन्वित शिक्षा भी सामान्य शिक्षार्थियों के लिए स्वीकृत पाठ्यक्रम के आधार पर दी जाती है। अधिकांशत: सामान्य कक्षा मे सामान्य शिक्षको द्वारा शिक्षण होता है।

उत्तर : जिन राज्यो मे यह स्कीम शुरू हो गई है, वे है— बिहार, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, महाराष्ट्र, तमिलनाडू, केरल, कर्नाटक तथा सघ-क्षेत्र दिल्ली व अडमान निकोबार।

प्रश्न : समन्वित शिक्षा स्कीम में प्रत्येक राज्य मे इसके मूल्यांकन कराने का भी प्रावधान है। क्या इन राज्यो मे समन्वित शिक्षा का मूल्याकन प्रारम्भ हुआ है ?

उत्तर : सभी राज्यो तथा सघ शासित क्षेत्रो मे मूल्याकन कार्य शुरू नही हुआ है। हा, महाराष्ट्र राज्य ने टाटा इस्टीट्यूट आफ स्पेशल साइस द्वारा मूल्याकन कराया है। सघ शासित क्षेत्र दिल्ली मे काउसिल फॉर सोशल डिवलपमेट (समाज कल्याण मंत्रालय) द्वारा मूल्याकन हुआ है। राजस्थान राज्य ने मूल्याकन की व्यवस्था स्वय की है।

प्रश्न : मूल्यांकन प्रतिवेदनो के आधार पर उनकी प्रमुख निष्पत्तियो को बताने की कृपा करेंगे।

उत्तर : उपर्युक्त मूल्याकन प्रतिवेदनों के आधार पर चार प्रमुख निष्पत्तिया उल्लेखनीय है।

(1) प्रशिक्षण की अपर्याप्त सुविधा तथा प्रशिक्षित शिक्षकों तथा अन्य क्षेत्रकर्मियो की कमी।

(2) सामान्य विद्यालयो के प्रधानाचार्य तथा सामान्य शिक्षको का ओरिएन्टेशन तथा

समन्वित शिक्षा मे उनकी भागीदारी का अभाव है।

(3) समन्वित शिक्षा मे विकलाग विद्यार्थियो के लिए विशेष शिक्षण-सामग्री तथा शिक्षा-साधनो का अति अभाव है।

(4) समन्वित शिक्षा के सफल सचालन एवं क्रियान्वयन के लिए विभिन्न विभागीय सेवाओ का समन्वयन नही हो पाया है।

प्रश्न : यदि इन मूल्याकन प्रदत्त निष्पत्तियो पर ध्यान दे तो प्रमुखत प्रशिक्षण का अभाव रेखाकित होता है। पूर्व प्रशिक्षण हो अथवा सेवाकालीन प्रशिक्षण इस दिशा मे क्या ठोस कदम उठाए जा रहे है ?

उत्तर : तरग जी, जैसा कि आप जानते हैं इस समय प्रशिक्षण कई स्तरो पर विभिन्न अवधियो के चल रहे है। उनका कोई मानकीकृत स्वरूप और अवधि निश्चित नही है। प्रशिक्षण के मानकीकरण का कार्य शुरू हो गया है। समाज कल्याण मत्रालय के आधीन एक पुनर्वास परामर्श समिति (rehabilitation council) का गठन हुआ है। इस समिति मे शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोविश्लेषण एवं मनोविज्ञान, पुनर्वास आदि विषय-क्षेत्रो के विशेषज्ञ कार्यरत हैं। यथा-शीघ्र विकलागो के चार वर्गों—चाक्षुष विकलाग, मूक-बधिर, शिक्षणीय मदबुद्धि तथा शारीरिक विकलागों के लिए विशेष शिक्षकों तथा अन्य सेवा-कर्मियों के लिए प्रशिक्षण का मानकीकृत स्वरूप एव अवधि निश्चित हो जाएगी। इससे प्रशिक्षण का अभाव और प्रशिक्षित व्यक्तियो की कमी की समस्या भी हल हो जाएगी।

प्रश्न : मूल्यांकन के विषय में एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने त्रैमासिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की है तथा समन्वित शिक्षा के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आपकी सस्था ने मूल्याकन की दिशा मे कोई कदम क्यो नही उठाया ?

उत्तर प्रश्न महत्वपूर्ण है। राज्यो एवं संघ शासित क्षेत्र के मूल्याकन का विवरण देते समय यह सूचना कदाचित ओझल हो गई। हमारी संस्था अर्थात् राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् मे विशेष शिक्षा अनुभाग राष्ट्रीय स्तर पर 'केस-स्टडी' करा रहा है। इस अध्ययन के प्रमुखत. दो उद्देश्य है—प्रमुखत. समन्वित शिक्षा के अतर्गत व्यक्ति-सबधो का अध्ययन करना अर्थात् सामान्य-विकलाग बच्चे, सामान्य-विशेष शिक्षक अभिभावक शिक्षक आदि के सम्बन्धो का गहन अध्ययन अभि-प्रेत है। दूसरे उन तत्वों का पता लगाना है जो समन्वित शिक्षा मे साधक अथवा बाधक होते हैं। तदन्तर साधक तत्वों को अपनाने और बाधक तत्वो से मुक्ति के मार्ग खोजे जा सकते हैं।

प्रश्न आपकी सस्था का विशेष शिक्षा अनुभाग समन्वित शिक्षा के अतर्गत विभिन्न विकलागो के लिए शिक्षण-सामग्री का भी निर्माण कर रहा है। इस शिक्षण सामग्री के निर्माण मे पाठ्यक्रम-विश्लेषण में क्या दृष्टि रही है ?

उत्तर यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योकि समन्वित शिक्षा भी सामान्य शिक्षार्थियों के लिए स्वीकृत पाठ्यक्रम के आधार पर दी जाती है। अधिकांशत: सामान्य कक्षा मे सामान्य शिक्षको द्वारा शिक्षण होता है। इस कक्षा में भी विकलागो के लिए उनकी अपेक्षा और प्रकृति के अनुरूप संशोधित परिवर्द्धित अथवा भिन्न सहायक सामग्री की आव-श्यकता होती है। इसलिए हमने पाठ्यक्रम का तीन शिक्षण-बिंदुओ के आधार पर विश्लेषण किया है—1. सामान्य शिक्षण-सामग्री जो उनके लिए वैसी ही कक्षा मे प्रयोग की जा सकती है। 2. अतिरिक्त शिक्षण-सामग्री (विशेष शिक्षण-किट) जिसे सामान्य कक्षा मे सामान्य शिक्षक प्रयोग मे ला सकता है और 3. विशेष-सामग्री जिसका उपयोग या प्रयोग सामान्य कक्षाओ मे नही किया जा सकता बल्कि जिसे विशेष शिक्षक या ससाधन शिक्षक अलग से उपयोग मे लाएगा। इन तीन शिक्षण-बिंदुओ पर आधारित दृष्टि पाठ्यक्रम के विश्लेषण मे रही है। तदन्तर सामग्री-निर्माण का कार्य हुआ है।

प्रश्न : आपने किन-किन विकलाग वर्गों के लिए सामग्री निर्माण का कार्य पूर्ण कर लिया है ?

उत्तर . चाक्षुप विकलागो के लिए 'समाज-विज्ञान का किट' तैयार है। मूक-बधिर के लिए 'भाषा-विकास' की सामग्री का निर्माण हो चुका है। शिक्षणीय मदबुद्धि के लिए सामग्री-निर्माण प्रारभ करने वाले हैं। शारीरिक विकलागो को विशेष शिक्षण सामग्री की आवश्यकता होती ही नहीं है।

प्रश्न प्रशिक्षण का कार्य तो आपके अनुभाग द्वारा चलाया ही जा रहा है। प्रशिक्षण को अधिक धारदार बनाने की दिशा मे भी आपने कौन से अन्य कदम उठाए है ?

उत्तर . पूर्व-प्रशिक्षण तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण के लिए सामाजिक चेतना विषय पर केपसूल तैयार किए गए हैं। समन्वित शिक्षा-प्रबध पर कार्य हुआ है। कुछ विडियो फिल्म भी तैयार की गई है जिनका प्रयोग नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत शिक्षको के प्रशिक्षण के दौरान हो रहा है।

प्रश्न : समन्वित शिक्षा की स्कीम मे ससाधन कक्ष का भी उल्लेख है। विकलागो के लिए उपकरणो तथा विशेष शिक्षण-साधनों की क्या कोई सूची भी तैयार की गई है ?

उत्तर : हा, चाक्षुष विकलाग तथा मूक-बधिर विकलागो के लिए संसाधन कक्ष के उपकरण एव सामग्री की सूची तैयार की गई है। इसका लाभ सभी विद्यालय उठा सकते हैं।

प्रश्न · समन्वित शिक्षा अभी शिशुता में है, फिर भी इस क्षेत्र मे अनुसंधान की उपादेयता से इकार नहीं किया जा सकता। इस क्षेत्र में अनुसधान-कार्य भी हुए हैं। अनुसधान के विषय मे आपकी सस्था क्या कर रही है ?

उत्तर : हमारी सस्था के अलावा विश्वविद्यालय के विभाग भी अनुसधान कराते रहे है। समन्वित शिक्षा की लाभकारी जानकारी इन अनुसधानो से मिल सकती है। हमारी सस्था ने विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागो—मनोविज्ञान, शिक्षा, समाज-विज्ञान एव समाज कार्य आदि मे जो अनुसंधान हुए है (मास्टर डिग्री तथा पी-एच० डी० के अनुसधान) उनका सर्वेक्षण पूर्ण कर लिया है। यथाशीघ्र यह प्रकाशित होने वाला है। इसके अतिरिक्त हमारी सस्था का विशेष शिक्षा अनुभाग 'अनुसधान ओरियेन्टेशन एव विकास' का कार्यक्रम अपने हाथ मे ले रहा है। प्रबुद्ध अनुसंधान कर्त्ताओ को अनुसधान की प्रेरणा देना, अनुसधान प्रारूप तैयार कराना और अनुसधान के लिए धन अथवा अनुदान प्राप्त कराना इन कार्यक्रम के प्रमुख लक्ष्य हैं। कदाचित हम जून 1987 से इस अनुसधान कार्य को आरम्भ कर देंगे। तीसरे सहयोगी अनुसधान के लिए भी हमारी सस्था कार्य प्रारम्भ करेगी। इससे समन्वित शिक्षा-अनुसधान को गति मिलेगी।

प्रश्न और अब अन्त मे एक प्रश्न और। अनुसधान कार्यों के प्रतिवेदन प्राय: इतने पारिभाषिक होते है कि सामान्य शिक्षक तथा अन्य सेवाकर्मी के पल्ले नहीं पड़ते। अनुसधान की आवश्यक जानकारी प्रत्येक क्षेत्रकर्मी को मिले इस दिशा मे आप क्या कुछ करने जा रहे हैं ?

उत्तर · यह बात सही है कि अनुसधान का लाभ क्षेत्रकर्मी प्रतिवेदन की जटिलता के कारण नही उठा पा रहे। हम प्रयास करना चाहेंगे कि उन अनुसधानों के आधार पर निहितार्थ को क्षेत्रकर्मियो तक पहुचाने के लिए कुछ हैंडबुक तैयार करवाए और वितरित करें।

आपका आभार व्यक्त करते हुए मैं इस विचार के आचारबद्ध होने की कामना करता हू। बहुत-बहुत धन्यवाद !

□□

अधिगम विकलांग पठन-शिक्षण —एक प्रयोग

कुमारी इतरत
राजेश कुमारी

अधिगम विकलाग बच्चो की जाच-परीक्षण और शिक्षण के दौरान अधिगम विकलागो की पठन-समस्याओ के अध्ययन और शिक्षण के लिए एक प्रयोग-योजना बनाई गई है। इस प्रयोग-योजना का विवरण प्रस्तुत लेख का प्रयोजन है।

पठन-बोध संप्राप्ति में विकलांग बच्चों का पिछड़ापन स्पष्ट विदित होता है। प्रयोग-योजना में दिए गए उपाय इस पिछड़ेपन को दूर करने में सहायक हो सकते है।

अधिगम विकलांग बच्चे जिन क्षेत्रो मे संप्राप्ति का ह्रास प्रकट करते हैं उनमे पठन बहुत महत्वपूर्ण है। अधिगम विकलागो की शिक्षा मे विशेष शिक्षक के लिए पठन-शिक्षण जरूरी हो जाता है। कहने की आवश्यकता नही कि अधिगम विकलाग बच्चो में पठन-ह्रास के सामान्य लक्षण नही दिखाई देते बल्कि वे इतने वैयक्तिक होते हैं कि पठन की समस्या मे कोई दो अधिगम विकलांग बच्चे भी प्राय. समान नही होते। अधिगम विकलांग बच्चों की पठन समस्याओ की जाच या उनका त्रुटि-विश्लेषण कोई कठिन कार्य नही है। जटिलता तब खड़ी होती है जब समस्याओ और त्रुटियो के आधार पर निदान-विश्लेषण किया जाता है। कई बार निदान-विश्लेषण से भी उपचार शिक्षण को सही दिशा नहीं मिलती क्योंकि निदान वस्तु सप्राप्ति पर आधारित होता है, जिससे अधिगम प्रक्रिया की गडबडी का पता नहीं चलता। साथ ही यहा यह उल्लेख कर देना भी उचित प्रतीत होता है कि उस गड़बडी के ज्ञान के अलावा अधिगम प्रक्रिया के लिए वांछित कौशल और योग्यता का क्रम निर्धारण भी आवश्यक माना जाता है क्योकि उन कौशलो और योग्यताओ के आधार पर शिक्षण-सामग्री और शिक्षण युक्तियों की रचना संभव है।

अधिगम विकलाग बच्चों की जाच-परीक्षण और शिक्षण के दौरान अधिगम विकलागो की पठन-समस्याओ के अध्ययन और शिक्षण के लिए एक प्रयोग-योजना बनाई गई है। इस प्रयोग-योजना का विवरण प्रस्तुत लेख का प्रयोजन है।

इस प्रयोग के निदेशक डॉ० जयपाल तरग ने उपकरण परीक्षण निर्माण का शिक्षण तथा शिक्षण युक्तियो की रचना मे पूर्ण योगदान दिया।

कक्षा पांच के दो अधिगम विकलांग बच्चो को पठन-समस्या अध्ययन के लिए चुना गया। ये दोनो बच्चे जामिया मिडिल स्कूल मे समन्वित शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। गणित, वर्तनी, लेखन और पठन मे इनके लिए विशेष शिक्षा की व्यवस्था है। विशेष शिक्षक इन बच्चों पर कक्षा पाच के लिए, प्रस्तावित पठन सामग्री का उपयोग करते है। प्राय एक पाठ को पांच पाठो में बाटकर पढ़ाते है, लेकिन इनकी पठन सप्राप्ति पर कोई उत्साहवर्धक परिणाम दृष्टिगोचर नही होता।

भारत मे भारतीय भाषाओ को लेकर पठन-स्तर निर्धारण करने वाले परीक्षण-पत्र नही है। उर्दू भाषा के संदर्भ मे इनका और भी अभाव है। अत प्रस्तुत प्रयोग के पूर्व परीक्षण के लिए तथा वैयक्तिक शिक्षण युक्तियो का उपलब्धि आधार निश्चित करने के लिए एक परीक्षण पद्धति अपनानी पडी। इसकी रूपरेखा और अन्तिम स्वरूप का निर्णय कक्षा पाच के उर्दू अध्यापक, स्कूल के विशेष शिक्षक तथा प्रयोग निदेशक के परामर्श से लिया गया। इसी समन्वित दल ने कक्षा पाच के दो ऐसे सामान्य विद्यार्थियो का भी चुनाव किया जो पठन-समस्या से मुक्त स्वीकार किए गए थे। इस चुनाव का आशय अधिगम
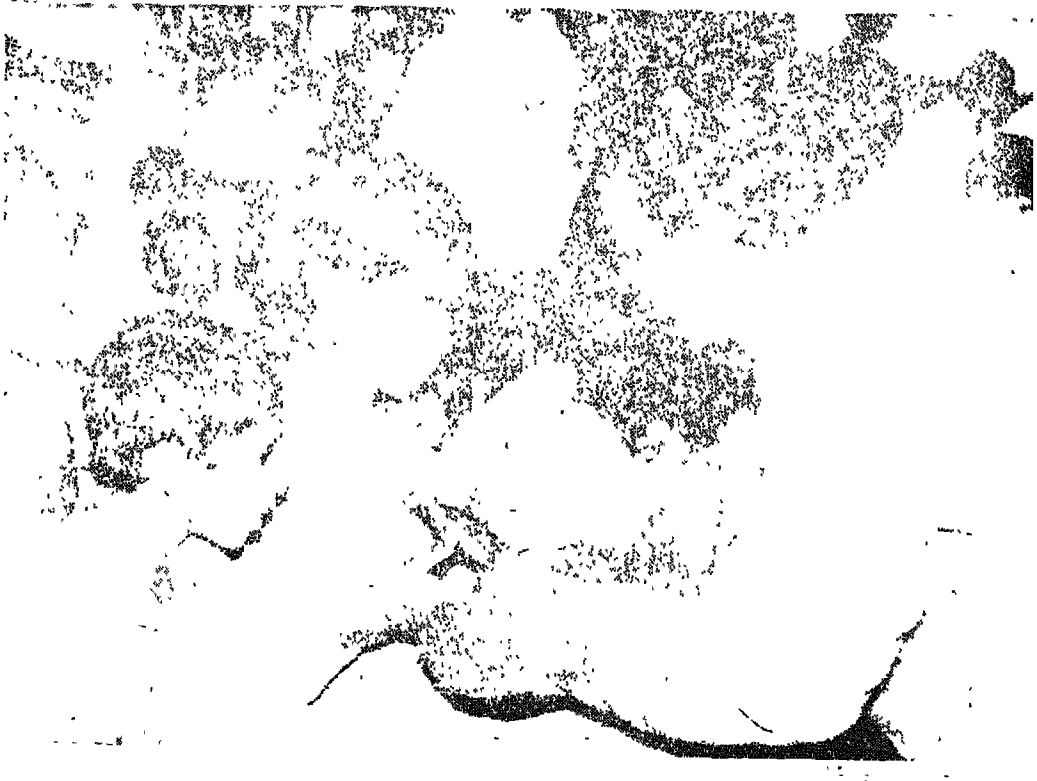
विकलाग बच्चो को तुलनात्मक रूप मे जांच करने और शिक्षण युक्तियो के निर्धारण के लिए रखा गया । अधिगम विकलाग बच्चो की सामान्य जानकारी प्रस्तुत है ।

विकलाग—1—रिजवाना (बालिका)
आयु —13 वर्ष, कक्षा—पाच
स्कूल —जामिया मिडिल स्कूल
(जामिया नगर, नई दिल्ली)
पिता —राजकीय मिडिल स्कूल में शिक्षक
माता —सामान्य घरेलू औरत
परिवार के अन्य सदस्य—पाच बहनें एक भाई ।
दो बडी बहनें ।
प्रयोग विशेष शिक्षक—कुमारी इतरत
विशेष सहयोग —राजेश कुमारी

विकलांग—2 —इरफान उल्ला (बालक)
आयु —12 वर्ष
कक्षा —पांच
स्कूल —जामिया मिडिल स्कूल
(जामिया नगर, नई दिल्ली)
पिता —अधिकारी, दिल्ली राज्य सेवा
माता —सामान्य घरेलू औरत
परिवार के सदस्य —दो बहने और चार भाई ।
प्रयोग विशेष शिक्षक —कुमारी इतरत
विशेष सहयोग —रफत परवीन

सामान्य बच्चों की जानकारी

सामान्य—एक—शेहला (बालिका)
आयु —10 वर्ष
कक्षा —पाच
स्कूल — जामिया मिडिल स्कूल
— (जामिया नगर, नगर दिल्ली)
अन्य जानकारी—आवश्यक नही ।

सामान्य—दो — सिकन्दर मिर्जा (बालक)
आयु —10 वर्ष
कक्षा —पाच
स्कूल —जामिया मिडिल स्कूल
(जामिया नगर, नई दिल्ली)
अन्य जानकारी—आवश्यक नही ।

इन चार बच्चो के चुनाव के बाद परीक्षण तैयार किया गया, जिसके तीन सप्राप्ति मूल्याकन बिन्दु थे ·

1 मुखर पठन-गति
2. मुखर पठन की समस्याए
—उच्चारण
—अनुतान
3. पठन-बोध

इन तीनो मूल्याकन बिन्दुओं पर आधारित परीक्षण तैयार करने के लिए सबसे पहले एक पठन-अश विकलाग एक तथा सामान्य एक के लिए तथा दूसरा पठन-अश विकलाग दो तथा सामान्य दो के लिए निर्धारित किए गए । इसका निर्णय उर्दू शिक्षक, विशेष शिक्षक तथा प्रयोग-निर्देशक द्वारा तय किया गया । यह अश प्रस्तावित उर्दू की पाठ्य-पुस्तक से वर्णन सम्पूर्णता के आधार पर लिया गया । पठन-गति परीक्षण मे परीक्षार्थियो को निर्देश दिया गया था कि एक बार मौन पाठ कर ले । मौन पाठ के बाद मुखर-पाठ करे । परीक्षण प्रयोग के प्रारंभ और अत के समय की अवधि का स्टॉप-वाच की सहायता से समय नोट किया गया । सहयोगी सहायक ने उच्चारण की अशुद्धियो और अनुतान की त्रुटियो को रेखांकित किया । पठन-अश की तीन प्रतिया परीक्षणार्थी प्रयोग-प्रबन्धक और सहयोगी के पास थी । परीक्षण वैयक्तिक आधार पर दिए गए । पठन-अश एक, विकलाग एक तथा सामान्य एक को दिए गए । तथा पठन-अंश दो विकलाग दो तथा सामान्य दो को दिए गए । प्रत्येक अश पर आठ-आठ प्रश्न मौखिक रूप में परीक्षणार्थियों से पूछे गए थे । प्रश्न समझ में आने पर बच्चो के आग्रह पर दोहराये गए थे । यहा तक कि विकलाग एक और दो को चार-चार बार सरल करके प्रश्न पूछे गए । उनके मौखिक उत्तर टेप किए गए और समन्वित दल के निर्णय के अनुसार प्रश्नों को सही और गलत ठहराया गया ।

संप्राप्ति का ब्यौरा

पठन-गति संप्राप्ति

सारणी 1 मे पठन-गति सप्राप्ति का ब्यौरा दिया गया है।

पठन गति मे अधिगम विकलाग बच्चे सामान्य के अपेक्षा बहुत अधिक पिछड़े हुए है। इस गति का आधा पद लिया गया था। लेकिन अधिगम विकलागो का निदानात्मक अध्ययन भी किया गया तो पाया कि वे सिलेबिल के अनुसार नही पढ़ते बल्कि वर्णो के हिज्जे करके पढ़ते हैं। इससे भी उनकी पठन गति धीमी रहती है। आखो की गति भी धीमी पाई गई।

मुखर पठन योग्यता मे विकलाग एक तथा सामान्य एक मे 18% तक अतर है। 18% त्रुटियां विकलाग एक मे विद्यमान है। त्रुटिया उच्चारणगत हैं और अनुतानगत हैं जिसका विश्लेषण निदान और उपचार अपेक्षित है।

पठन-बोध सप्राप्ति मे विकलाग बच्चो का पिछडापन स्पष्ट विदित होता है। विकलाग सख्या एक को एक चौथाई पठन अंश की सप्राप्ति हुई जबकि विकलाग सख्या दो को एक तिहाई पठन अश की सप्राप्ति हुई।

सामान्य बच्चो मे एक को अधिकांश पठन अश की सप्राप्ति हुई जबकि दो को पूर्ण सप्राप्ति हुई। संप्राप्ति के अभाव का भी त्रुटि विश्लेषण किया गया। त्रुटि विश्लेषण के बाद निदान अध्ययन किया गया। उपचार-शिक्षण

सारणी 1

अधिगम विकलांग तथा सामान्य बच्चों की पठन गति-शब्द प्रति मिनट के अनुसार

अधिगम विकलांग संख्या	संप्राप्ति	सामान्य संख्या	संप्राप्ति
एक	16.54	एक	84.65
दो	18.66	दो	80.00

सारणी 2

मुखर पठन की योग्यता वस्तु प्रतिशत में प्रस्तुत है

विकलांग संख्या	संप्राप्ति	सामान्य संख्या	संप्राप्ति
एक	82%	एक	100%
दो	·02%	दो	100%

सारणी 3

विकलांग तथा सामान्य बच्चो की पठन-बोध संप्राप्ति प्रतिशत में

विकलांग संख्या	संप्राप्ति	सामान्य संख्या	संप्राप्ति
एक	25%	एक	87.5
दो	37.5	दो	100

युक्तियो पर अभी कार्य चल रहा है। निदान की आवश्यक जानकारी इस प्रकार है—

1. विकलांग बच्चे स्थान-घटना की सूचना प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।
2. विकलांग बच्चे नाम, तिथि और घटना की सूचना प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।
3. विकलाग बच्चे सामान्य सूचना को अभिव्यक्त करने की योग्यता रखते हैं।
4. विकलांग बच्चे कार्य-कारण सम्बन्धों को बता पाने में अयोग्य हैं।
5. विकलाग बच्चे पठित सामग्री के आधार पर नतीजा निकालने में अयोग्य हैं।
6. विकलाग बच्चे सार-लेखन मे अयोग्य हैं।

4, 5 तथा 6 के अन्तर्गत वर्णित अयोग्यता के निदान के लिए अभी और कार्य करना पड़ेगा ताकि इन अयोग्यताओं के अधिगम विकारो का पता लगाया जा सके।

वैयक्तिक शिक्षण युक्तियों का निर्माण

प्रस्तुत प्रयोग के अन्तर्गत 'पठन-गति' को वैयक्तिक शिक्षण युक्तियों के निर्माण के लिए स्वीकार किया गया। पठन-गति का पिछड़ापन ज्यादा गौरतलब था। पठन के यात्रिक पक्ष मे आखो की गति का प्रशिक्षण जरूरी होता है। पठन-गति के अभाव के तीन कारण विशेष तौर पर नोट किये गये। प्रथम, बच्चों की आंखो की गति भी मंद चाल वाली मिली। दूसरे, अक्षरों को मिलाकर पढने मे भी कठिनाई पाई गई। तीसरे, आखे जिस शब्द को देखती उसी को उच्चरित करने के बाद अगले शब्द पर जाती थी। इससे अनुतान भी बिगडता और गति भी कम होती।

अत: विकलाग बच्चों के लिए इन्ही तीनो शिक्षण-प्रशिक्षण बिन्दुओ पर आधारित युक्तियो का निर्माण किया गया। सबसे पहले उर्दू पढने के लिए दाएं से बाएं आखों को जल्दी-जल्दी घुमाने का प्रशिक्षण दिया गया। यह अभ्यास तीन प्रकार की ग्राफिक युक्तियो से दिया गया।
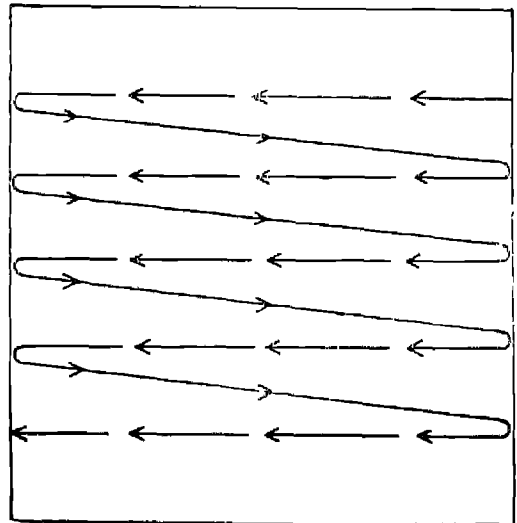
आकृति 1 . तीर के निशान से आंखों की गति का विकास

विकलाग बच्चो से कहा गया कि वे दाहिनी ओर से बायी ओर और फिर उसके नीचे तीर के निशान के साथ तेजी से देखते जाए। बच्चो को यह अभ्यास दस-दस मिनट के अतराल से पाच-पांच बार कराया गया। सामान्य प्रेक्षण के आधार पर यह निश्चित किया गया कि आख गति में वृद्धि हुई है।

अभ्यास-चरण प्रथम

आकृति 2 मे पाच रेखाओं मे बिंदु और पाइटर के तीर के निशान दिए गए है। विशेष शिक्षक ने अपनी अभ्यास गति के आधार पर धीमी गति से तीव्र गति का अभ्यास कराया। बच्चों को पाइंटर के साथ बिन्दुओं पर
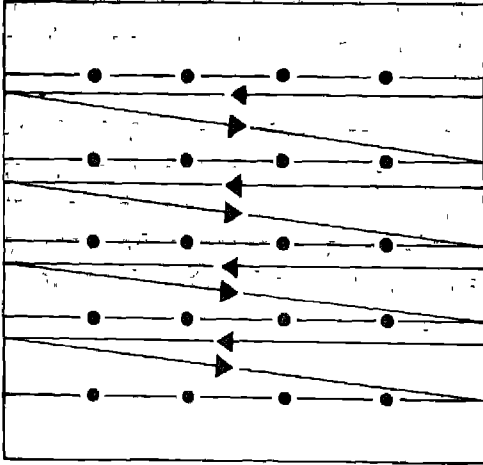
आकृति 2 : पाइटर के साथ रेखाओ पर बिन्दुओं के सहारे आंख ग.त अभ्यास

दृष्टि चलानी होती थी। इसका अभ्यास आकृति एक की तरह ही लिया गया। सामान्य प्रेक्षण के आधार पर यह निश्चित किया गया कि आख की गति मे वृद्धि हुई है।

अभ्यास-चरण द्वितीय

आकृति-2 पर एक अभ्यास बच्चो से स्वय कराया गया। पेंसिल कटर को बिन्दुओ वाली रेखा पर तेजी से दाहिनी ओर से बायी ओर ले जाने का अभ्यास कराते थे। इस कार्य में अभिभावकों की भी सहायता ली गई।
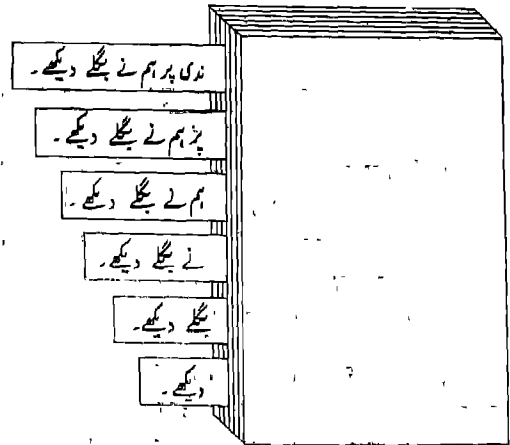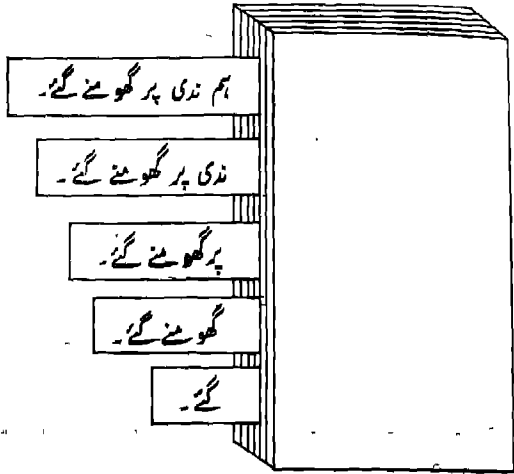
ہم ندی پر گھومنے گئے۔
ندی پر گھومنے گئے۔
پر گھومنے گئے۔
گھومنے گئے۔
گئے۔

ندی پر ہم نے بگلے دیکھے۔
پر ہم نے بگلے دیکھے۔
ہم نے بگلے دیکھے۔
نے بگلے دیکھے۔
بگلے دیکھے۔
دیکھے۔

आकृति 3

अभ्यास-चरण तृतीय

ाकलाग बच्चो को 'शब्द' (पद) को सिले- पढने का अभ्यास कराया गया। जैसे दमी। आमद 'नी'=आमदनी। इससे पढने लाने और शीघ्र पढने के प्रयास पर बल ह अभ्यास भी पूर्ववत चला।

चतुर्थ : देखें अगला पढ़ें पहला शब्द

ार पैड पर दो शब्दो, तीन शब्दो और चार य वाक्य लिखे गए। एक कागज से उन्हें इस ता था कि पढा गया शब्द शुरू होते ही वह पढते समय बच्चा अगले शब्द को देखना शुरू कर दे। पहला शब्द पढ़े और दूसरा शब्द देखे। पठन गति विकास की शिक्षण-युक्ति का प्रयोग किया गया।

यह अभ्यास भी दस-दस मिनट के अतराल से कराया गया था। इस अभ्यास को इतने समय जारी रखा गया जितने मे दोनो बच्चो को इसकी मश्क न हो गई कि वह पहला पढ़े और अगला शब्द देखे। प्रेक्षण के लिए दर्पण का प्रयोग भी किया गया जिससे प्रयोक्ता आखो की गति को समझता चले और वृद्धि का आकलन करता रहे।

तीन सप्ताह मे एक घटा प्रतिदिन के हिसाब से इन युक्तियों को चलाया गया। आखो की थकन की शिकायत पर अभ्यास के दौरान विश्राम दे दिया जाता था। तीन सप्ताह के बाद दोनो विकलाग बच्चों को एक सामान्य
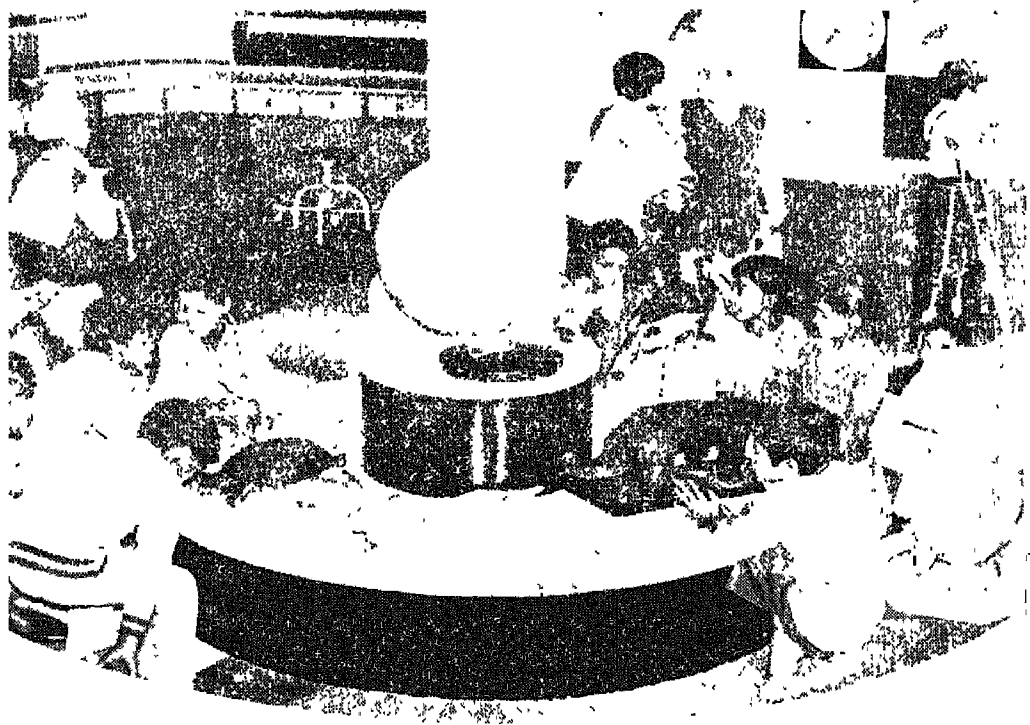
पठन-अंश उनकी पाठ्य-पुस्तक से दिया गया। यह निर्णय भी समन्वित दल ने किया था।

दोनो बच्चो को एक बार मौन पाठ के लिए निर्देश दिया गया। उसके बाद मुखर पाठ शुरू कराया गया। दोनो बच्चों को अलग-अलग घटों मे पाठ कराया गया। आरम्भ और अन्त की अवधि को स्टॉप-वॉच की मदद से नोट किया गया, जिसका ब्यौरा सारणी-4 में अंकित है।

सारणी-4

पठन गति प्रति मिनट शब्दों में

विकलांग	सं० प्राप्ति
एक	48
दो	50

दोनो अधिगम विकलाग बच्चों की पठन-गति में लगभग तीन गुना लाभ प्राप्त हुआ। इसी प्रकार यदि अभ्यास देते रहेंगे तो इनका प्रतिशत 80 के करीब लाया जा सकता है। किसी प्रकार के सांख्यकी विश्लेषण की जरूरत नहीं है। गति विकास स्वय स्पष्ट है।

निष्कर्ष

1. अधिगम विकलाग बच्चों की पठन गति बढ़ाने के लिए आखो की गति का विकास अभ्यास लिपि की आवश्यकता के अनुरूप चलाने से लाभ होता है।
2. अधिगम विकलाग बच्चों को पेंसिल कटर आदि के अभ्यास से आखो की गति को बढ़ाने मे मदद मिलती है।
3. अधिगम विकलांग बच्चो को विशेष शिक्षक द्वारा पाइंटर की मदद से आखो की गति बढाने मे लाभ होता है।
4. स्वयंसेवी अभ्यास मे अभिभावको की सहायता से आंखो की गति मे तीव्रता आती है।
5. 'देखो अगला बोलो पहला' शब्द अभ्यास से विकलांग बच्चो की पठन गति बढ़ती है। □□

सन्दर्भ

1 हाल हैन, डी. पी. एंड कॉफ मैन जे. एम., **इन्ट्रोडक्शन टू लर्निग डिसएबीलीटीज, ए साएको बिहेवियरल अप्रोच**, प्रिन्टिस हाल इन्क, इगिलवुड क्लिफ्स 1976.

2. सुतारिया, एस. डी., **स्पेसिफिक लर्निग डिसएबिलीटीज, नेचर एण्ड नीड**, चार्ल्स सी. टोम्स, पब्लिशर्स, स्प्रिग फील्ड, 1985.

3. डॉ० तरग, जयपाल, **अधिगम विकलांग बच्चों की शिक्षण-व्यूह-रचना**, भारतीय आधुनिक शिक्षा, त्रैमासिक पत्रिका, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली 110016.

4. डा० तरग, जयपाल, **विकलांग बच्चों की पठन समस्याए, त्रुटि विश्लेषण, निदान एव उपचार**, विभागीय प्रस्तुति—जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली.

पुस्तक-समीक्षा

भारतीय शिक्षा की नई दिशा

डा० के० के० वशिष्ठ एव
डा० डी० एल० शर्मा
(इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस)
वितरक—लायल बुक डिपो, मेरठ
पृष्ठ सख्या · 110; मूल्य : 25 00 रुपए

समीक्ष्य पुस्तक 'भारतीय शिक्षा की नई दिशा' में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 एवं क्रियान्वयन कार्यक्रम के आधार पर रचित सामग्री प्रस्तुत की गई है। यह सामग्री ग्यारह अध्यायो में विभाजित करके सग्रहीत है। वस्तुत इस पुस्तक मे शिक्षा नीति तथा तत्सम्बन्धी क्रियान्वयन के प्रत्येक पक्ष पर जानकारी प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं। ये प्रयास सूचना-सम्प्रेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण और भारतीय शिक्षा के भविष्य को समझने की दृष्टि से मार्ग-दर्शक कहे जा सकते है।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अन्तर्गत प्रस्तावना के साथ-साथ शिक्षा की प्रकृति एवं भूमिका का विवेचन हुआ है। न्याय, स्वतन्त्रता, विश्वस्त समानता तथा भ्रातृत्व जैसे राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा को एक सशक्त माध्यम स्वीकार किया गया है। इस दिशा मे अनेक प्रयासो की जानकारी सूचनाओ के माध्यम से दी गई है। इसी प्रसंग मे अगस्त 1985 में प्रकाशित "चैलेंज ऑफ एजूकेशन—ए पॉलिसी परस्पेक्टिव" का विवरण भी दिया गया है। इसके प्रकाशन के उपरांत देश भर मे शिक्षा नीति पर भरपूर बहस हुई और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 पर ससद ने स्वीकृति की मोहर लगा दी। शिक्षा नीति का शीर्षकनुमा ब्यौरा भी इस अध्याय मे उपलब्ध है। क्रियान्वयन की व्यूहरचना के लिए कार्यदलो का उल्लेख भी किया गया है जिसके आधार पर निहितार्थों की व्याख्या और क्रियान्वयन की प्रस्तुति हुई है। शिक्षा की प्रकृति एवं भूमिका के विषय मे निम्न उद्धरण दृष्टव्य है—

"शिक्षा अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरो एव क्षेत्रो के लिए मानव शक्ति का विकास करती है। साथ ही यह राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का मूलमत्र, शोध एव अभिवृद्धि है। अत· शिक्षा वर्तमान एवं भविष्य के लिए उत्तम निवेश है।"

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत दो पृष्ठ की अपर्याप्त सामग्री मे राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढाचे का सक्षिप्त विवरण सार्थक सहभागित्व के साथ दिया गया है। समानता के लिए शिक्षा के प्रसग मे महिलाओ की समानता के लिए अनुसूचित जातियो/जनजातियो तथा पिछडे वर्ग के शिक्षा अल्पसंख्यको की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा व पूर्व बाल्यावस्था शिक्षा मे स्वैच्छिक प्रयत्न, छात्रवृत्ति योजनाए, विकलागो की शिक्षा आदि पर प्रावधान तथा क्रियान्वयन व्यूह-रचनाओ की स्पष्ट और पर्याप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है।

'विभिन्न अवस्थाओ पर शिक्षा का पुनर्गठन' के अन्तर्गत पूर्व-बाल्यावस्था-देखभाल एव शिक्षा, समन्वित बाल विकास सेवाए, दिवस रक्षा केन्द्र तथा प्रशिक्षण की क्रियान्वयन की व्याख्या की गई है। प्राथमिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा और आपरेशन ब्लैक बोर्ड की व्याख्या, प्रावधान एव कार्यान्वयन की व्यूह रचनाओ पर प्रकाश डाला गया है। नवोदय विद्यालय के लक्ष्य और क्रियान्वयन कार्यक्रम का ब्यौरा दिया गया है। शिक्षा के व्यावसायीकरण का प्रारूप और क्रियान्वयन भलीभाति समझाया गया है। अध्यापक-प्रशिक्षण की व्याख्या प्रस्तुत की गई

है। खुला विश्वविद्यालय तथा दूरगामी अधिगम का क्रियान्वयन कार्यक्रम स्पष्ट किया गया है। उपाधियों को रोजगार और जनशक्ति नियोजन से असम्बद्ध करने का स्पष्टीकरण दिया गया है। अनुसधान एवं विकास पर भी सामग्री प्रस्तुत की गई है। तकनीकी एव प्रबधकीय शिक्षा का ब्यौरा भी पेश किया गया है।

शिक्षा प्रणाली को किस प्रकार क्रियाशील बनाना है, इसका पूर्ण विवरण समीक्ष्य पुस्तक मे उपलब्ध है। शिक्षा की विषयवस्तु एव प्रक्रिया का अभिनवीकरण प्रत्येक स्तर के आधार पर व्यक्त किया गया है। शिक्षक तथा उसका प्रशिक्षण किस प्रकार प्रभावी बनाया जा सकता है, और तत्सबधी समस्याओ एव सभावनाओ का सार प्रस्तुत गया किया है। शिक्षा प्रबन्ध के विषय मे क्रियान्वयन-कार्यक्रम राष्ट्रीय स्तर, राज्य स्तर तथा स्थानीय स्तर के सदर्भ मे दिया गया है।

ससाधन, समीक्षा और भविष्य के अन्तर्गत तीनो बिन्दुओ पर आधारित साराशपरक सामग्री दी गई है। अन्त मे "राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986—एक झलक" वस्तुतः झलक ही है। अर्थात् इसकी प्रस्तुति सार-टिप्पणी मे हुई है।

समीक्ष्य पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी के साथ अंग्रेजी मे भी दिया गया है। निश्चय ही इससे पाठक को पठन-सुविधा मिलती है। शिक्षा के विषय पर हिन्दी भाषा को उपयोगी बनाने का प्रयास भी इस पुस्तक मे हुआ है। सदर्भ-सूची देने मे प्रथम साक्ष्य का परिचय भी मिल जाता है। विवरण से कई स्थल ऐसे प्रतीत होते है, जहा व्याख्या मे कोई न कोई कसर रह गई है इसका आभास होता है। वस्तुत यह लेखको के प्रयास की कमी नही है बल्कि मूल नीति के क्रियान्वयन मे कई बाते फिसल गई है। इस पुस्तक में किसी भी पक्ष पर समीक्षात्मक टिप्पणी या विमर्श प्रस्तुत नही किया गया। सामान्यतः यह शिक्षा नीति-क्रियान्वयन का विवरण मात्र ही है।

—**डा० मानसिंह वर्मा**
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ

समाचार संपादन और पृष्ठ सज्जा

डा० रमेश कुमार जैन
दी यूनिवर्सल बुक डिपो, राजा पार्क, जयपुर
पृष्ठ संख्या : 268; मूल्य : 75.00 रुपए

राष्ट्र के विकास मे प्रत्येक अध्ययन-क्षेत्र का अपना योगदान रहता है। पत्रकारिता विकास की गति को तीव्र करने मे आलोक भी उडेलती है और अधेरी तथा अधी गलियों को भी दिखाती चलती है। कहने का अभिप्राय यह है कि आजकल प्रसार के माध्यमों मे पत्रकारिता ने भी अपना अध्ययन-क्षेत्र प्रतिष्ठित कर लिया है। इतना ही नहीं पत्रकारिता की शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रमों की सार्थक शुरुआत हो गई है। विशेष योग्यता के भी अनेक उप-विषय पत्रकारिता को शास्त्र का दर्जा दिला चुके है। इस अध्ययन-क्षेत्र की मूलभूत सामग्री तथा सदर्भ ग्रथो की भाषा अधिकांशत अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाए है। भारतीय भाषाओं मे सामग्री और शास्त्र का अभाव है। धीरे-धीरे इस दिशा में प्रयत्न हो रहे है। हिन्दी भाषा में भी पत्रकारिता विषयक ज्ञानवर्द्धक सामग्री का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है। समीक्ष्य पुस्तक भी इसी कोटि का प्रकाशन है।

प्रकाशक का यह कथन सत्य ही है कि "भारत मे पत्र-कारिता विगत कुछ वर्षों मे एक उद्योग के रूप में उभर कर आ रही है। अत. आज पत्रकारिता के वैज्ञानिक रीति से अध्ययन-अध्यापन तथा इसके अवयवों के परिचय की महती आवश्यकता है।" प्रस्तुत पुस्तक "समाचार-सपादन और पृष्ठ सज्जा" मे परिशिष्ट, चार्ट तथा चित्रों को छोड कर सोलह अध्यायो मे पत्रकारिता के अनेक महत्वपूर्ण अवयवो की जानकारी प्रदान की गई है। एक ओर जहां समाचार सपादन और पृष्ठ सज्जा के सैद्धांतिक और तक-नीकी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है वही उनपर व्यावहारिक आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया गया है।

समाचार की परिभाषा प्रस्तुत करने में लेखक ने अनेक विद्वान आचार्यों के मत सम्मत दिए हैं। लेखक ने समाचार के तत्व, तात्कालिकता, निकटता, आकार, महत्व और विचित्रता का विशद वर्णन किया है। समाचार चयन

और सपादन के महत्वपूर्ण बिन्दुओ को विमर्श का आधार बनाया है, तथ्य चयन से लेकर प्रिंट आर्डर तक के प्रत्येक तकनीकी और तथ्यपरक प्रस्तुति को विचार का विषय बनाया है। यह ज्ञानवर्द्धक सामग्री सम्पादक की निर्णय-क्षमता को विकसित करने मे सहायक रहेगी।

सम्पादकीय विभाग के अन्तर्गत प्रबध-अनुशासन-सगठन को प्रभावी बनाने के मसलो को उठाया गया है। सम्पादक के अतिरिक्त व्यग्य चित्रकार, पुस्तकालय अध्यक्ष, गैर पत्रकार, प्रबध कर्मचारी तथा मुद्रणालय कर्मचारी के विषय मे उपयोगी व्याख्या दी गई है। उपसम्पादक के सदर्भ मे कार्य और उत्तरदायित्व के साथ समाचार-सपादन के समय ध्यान रखने योग्य बातों का गहराई से विवेचन किया गया है। उपसम्पादक के भौतिक तथा बौद्धिक उपकरणो की चर्चा की गई है। कापी सम्पादन के उद्देश्य तथा उपसम्पादक के गुणो का सविस्तार वर्णन किया गया है।

"समाचार प्रस्तुतिकरण एव पृष्ठ सज्जा" के अतर्गत समाचार-पत्र की भाषा, शीर्षक के औचित्य, लीड की समस्या आदि का विवरण उदाहरणो की सहायता से प्रकट किया है। ले-आउट का विवरण साजसज्जा के मूलभूत सिद्धान्तो के सदर्भ मे दिया गया है। शीर्षक पर एक अध्याय मे विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। आवरण कथा एव स्तभ, प्रैस फोटोग्राफी, कार्टून, सदर्भ पत्रकारिता, पत्राचार आचार-सहिता, रेडियो समाचार, दूरदर्शन समाचार, प्रेस कानून, प्रूफ संशोधन तथा प्रेस शब्द सूची-विषय पर अलग-अलग अध्यायों मे विचार किया गया है। इन सभी की विवेचना मे पत्रकारिता के व्यावसायिक ज्ञान का परिचय मिलता है।

पत्रकारिता के विविध आयामो के प्रकाशन मे शिक्षा पत्रकारिता के सदर्भ छूट गए है या यो कहिए समाचार-पत्रो मे शिक्षा पत्रकारिता का कमजोर पक्ष है। पत्रकारिता के अतिरिक्त प्रत्येक शिक्षक को इस पुस्तक से कई लाभ सभव है। पाठ्यक्रमी क्रियाओ, परियोजनाओ तथा अनुसधानपरक क्रियाओं के अतर्गत हस्तलिखित पत्रिका प्रकाशन, भीति पत्रिका प्रकाशन तथा अन्य किसी विषय पर संकलन आदि तैयार करने-कराने के संबंध मे पत्रकारिता के तकनीकी तथा बौद्धिक अवयवों की जानकारी से प्रेरणाप्रद ज्ञानार्जन तथा शिक्षण व्यूह-रचनाओ से सृजनात्मक लाभ उठाया जा सकता है। इससे समाचार-शिक्षा के कार्यक्रम चलाने में भी विद्यालय को सहायता मिल सकती है।

डा० अविनाश चन्द्र शर्मा
अध्यक्ष, शिक्षा विभाग
जैन कालिज, बडौत, मेरठ

बाल स्वास्थ्य और बाल शिक्षा
सत्यपाल रुहेला
प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मत्रालय
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001
पृष्ठ सख्या : 132; मूल्य 13.00 रुपए

प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने बाल स्वास्थ्य और बाल शिक्षा के विभिन्न पहलुओ पर विचार प्रकट किए हैं। 1979 मे अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष मनाया गया। इस वर्ष से ही बालक के अधिकारो की चर्चा शुरू हुई। 'बाल अधिकार' शीर्षक अध्याय में यूनिसेफ द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का उल्लेख किया गया है जिससे भारत मे बालको की खराब और चिन्ताजनक स्थिति का पता चलता है। बाल-जनसंख्या के अनेक संदर्भों मे आंकड़े उद्धृत किए गए है जिससे बालकों की अनेक समस्याओ का उद्‌घाटन हुआ है। इन तथ्यो के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि विश्व भर मे विकासशील और निर्धन देशो मे बालको की दशा बहुत खराब है। अत लेखक का यह मानना उचित ही है कि 'बालको के अधिकार की बात सोचना और उनके प्रति अपने दायित्वो को निभाना बहुत ही आवश्यक हो जाता है।' इसी सदर्भ मे सयुक्त राष्ट्र सघ के बाल अधिकार घोषणा-पत्र के दसो विवरण प्रस्तुत किए गए है।

बाल स्वास्थ्य पर भारतीय समाज के अधविश्वास और परम्पराओं का भी कुप्रभाव पडता है। दूसरे अध्याय मे लेखक ने विवाह सबधी कुप्रथाओ का वर्णन किया है। जन्म सम्बन्धी अनुचित मूल्यों और तरीको का विवरण दिया है। परिवारो मे पूर्वशालीय बच्चो की देखभाल के विषय मे खराबियो को रेखांकित किया है। तीसरे अध्याय का विषय बालको का पोषण और भोजन है। इस अध्याय मे गर्भवती माता के पोषण और भोजन पर महत्व-

पूर्ण जानकारी दी गई है। नवजात शिशु के आहार की जानकारी प्रश्नोत्तरी शैली मे प्रस्तुत की गई है। शिशुओं के पोषण-आहार का तालिकाबद्ध वर्णन बाल विकास एव वृद्धि के संदर्भ मे स्पष्ट किया गया है।

'बालको की बीमारी और बचाव' अध्याय मे जन-संख्या शिक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्यो और आंकड़ो का उल्लेख किया है। बाल विकास और वृद्धि के सदर्भ मे बीमारी, बचाव आदि के अनेक पक्षो पर प्रकाश डाला गया है। शालाओं मे बैठने और व्यायाम करने के विषय मे भी आवश्यक बातो का उल्लेख किया गया है।

'विकलाग बालक' अध्याय में विकलागता के प्रमुख कारणों का उल्लेख यूनिसेफ के हवाले से किया गया है। इसके अतिरिक्त विकलाग बालको की समस्याओ का छ. भागो मे विभाजित करके स्पष्ट किया गया है। सयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा घोषित विकलागों के अधिकारो का सविस्तार विवेचन किया गया है। विकलागता की रोक-थाम पर भी सक्षिप्त टिप्पणी की गई है।

बालक की प्रवृत्ति के बारे मे आधुनिक विचारो का उल्लेख किया गया है। बालक के विकास की अवस्थाओ का स्पष्टीकरण भी इमी प्रसग में हुआ है। बाल शिक्षा के मूलभूत विचार बिन्दुओ की व्याख्या बाल शिक्षा के अधि-कारी विद्वानो के हवाले से प्रस्तुत हुई है। दार्शनिक प्लेटो से लेकर महात्मा गाधी तक अनेक विचारको के मत अभि-व्यक्त किए गए हैं। लेखक ने सप्रमाण बालको मे आदतों, मूल्यो, रुचियों और क्रियात्मकता के विकास पर प्रकाश डाला है। इस प्रसग मे कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर के विचारो को तरजीह दी गई है। इमके अलावा बालको का मनोरजन और उनकी शिक्षा के विषय मे पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गई है। कहानी-संगीत के सामान्य कथन के उपरात सैतालीम शिशु कविताए तथा बालगीत भी सकलित किए गए हैं। कविताओ और गीतो मे वस्तु पर बल है अत लय और सोच की कसर भी दिखाई देती है। पहेली, खेलकूद, नृत्य, चित्रकारी तथा अन्य सृजनात्मक क्रियाओ का भी वर्णन उपयोगी और दिशादर्शक किस्म का है।

समीक्ष्य पुस्तक मे उद्धरणों, तथ्यों और आकडो के नीरस यथार्थ को रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा आचार्यों के चित्र तथा चित्र-अभिव्यक्ति से भी प्रस्तुति महत्वपूर्ण बन गई है। प्रवाह वहन मे शास्त्रीय बोझ भी बना हुआ है। यह पुस्तक बाल स्वास्थ्य और बाल शिक्षा से जुडे नीति नियोजकों से लेकर क्षेत्र कर्मियो तक के लिए उपयोगी है।

—सुनीता
'वेस्पाक'
एस० 602, स्कूल ब्लाक
शकरपुर, दिल्ली-110092

लेखक एक पुस्तकें आठ : परिचयात्मक विवरण

सरदार जगतसिह ने अनेक प्रकार के समस्याग्रस्त बच्चो पर विविध प्रकार के प्रयोग किए है। सिद्धात की अपेक्षा व्यवहार पर उनका विशेष बल रहा है। ज्ञान-विज्ञान की नीरस वस्तु को वार्ता शैली मे प्रस्तुत करने की कला उन्हे खूब आती है। प्रस्तुत पत्रिका मे उनकी आठ पुस्तको का परिचयात्मक विवरण इस आशय से दिया जा रहा है कि हिन्दी भाषी शिक्षा-शास्त्री तथा विकलागो की विशेष शिक्षा से सबद्ध लोग इनका लाभ उठा सकें। इन पुस्तकों का एक ही प्रकाशक है ' प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-110006। 'बालक की समस्याएं' पुस्तक का मूल्य चालीस रुपये है। अन्य सात पुस्तको का मूल्य तीस रुपये प्रति पुस्तक है।

1. बालक की समस्याए पृष्ठ संख्या 195

इस पुस्तक मे असामान्य बालक की प्रकृति और उसकी असामान्य गतिविधियों पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। उनके निदान और उपचार के विषय मे आव-श्यक सुझाव भी दिए गए है।

2. विकलांग बालक पृष्ठ सख्या 212

इस पुस्तक में विकलागता की समस्या को उजागर किया है। इसमे विकलागो के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख है। विकलागो को सघर्षमय जीवन जीने और मनोबल को ऊचा रखने के उपाय भी सुझाए हैं।

3. मद-बुद्धि बालक पृष्ठ सख्या 184

इस पुस्तक का विवेच्य विषय मद-बुद्धि बालक है। उसके विकास और विकार की व्याख्या के साथ परिवार के लोगो के लिए भी परामर्श सकेत दिए है। मद-बुद्धि बच्चों की प्रमुख सस्थाओ का अता-पता भी दिया है।

4. समस्याग्रस्त बालक पृष्ठ सख्या 168

समस्याग्रस्त बालक परिवार और समाज को लिए एक भारी समस्या होता है। उसकी समस्याओं को समाधान की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। मनोविज्ञान के तरीको का भी सार्थक उल्लेख हुआ है।

5. बच्चे क्यों बिगड़ते हैं पृष्ठ सख्या 215

लेखक ने अपने मनोवैज्ञानिक प्रयोगो तथा सर्वेक्षण-सम्पर्क द्वारा बच्चो के बिगडने के अनेक तत्त्वो की जानकारी और अनुभव प्राप्त किया है। उसी के आधार पर उन तत्त्वो का विवेचन उपलब्ध है जिनके कारण बच्चे बिगड जाते है। कारण-निवारण भी साथ-साथ सुझाया गया है।

6. बालक की क्षमता बढ़ाए पृष्ठ संख्या 136

बच्चों के बौद्धिक विकास के लिए उपयोगी और मनोरजक खेलों का विवरण इस पुस्तक मे दिया गया है। कम खर्च, कम समय और सरल ढग से इन खेलो की व्यवस्था की जा सकती है। ये खेल घर और विद्यालय—दोनो जगह खेले जा सकते है।

7. बालक और अनुशासन पृष्ठ संख्या 146

शिक्षा में विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता प्राय चर्चा का विषय बनी रहती है। इस प्रसग मे अनेक उपविषयो पर महत्वपूर्ण और उपयोगी सामग्री जुटाई गई है। इसका लाभ शिक्षक और अभिभावक दोनों उठा सकते है।

8 बालक और अभिभावक पृष्ठ सख्या 195

इस पुस्तक मे बालक की परख और पहचान, पोषण और अधिगम विषय पर उपयोगी सामग्री प्रदान की गई है। बालक को सिखाने योग्य कुछ लाभदायक बाते भी प्रस्तुत की गई है। सुव्यवस्थित परिवार का परिचय और बच्चो के विकास मे अभिभावकों की भागीदारी को स्थापित किया गया है।

कुल मिलाकर आठों पुस्तके बालक की शिक्षा और विकलांगो की मनोवैज्ञानिक एव शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ के समाधान की दिशा मे उपयोगी प्रकाशित प्रयास है।

डा० जयपाल तरंग

□□

भारतीय आधुनिक शिक्षा
त्रैमासिक प्रकाशन
वर्ष : पंचम
अंक : द्वितीय
अक्तूबर 1987

इस अंक के आकर्षण

स्थायी स्तंभ

इस अंक के रचनाकार

☐ डा० (श्रीमती) लक्ष्मी मिश्रा	प्रोफेसर, डा० हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003 (म० प्र०)
☐ श्रीमती कृष्णा माहेश्वरी	: द्वारा श्री एम० एल० माहेश्वरी, रिटायर्ड प्रिंसिपल, ब्राह्मण पुरी, अलीगढ़ (उ० प्र०) पिन-202001
☐ डा० कृष्ण कान्त अवस्थी	: 964, सिरबारा रोड, सुल्तानपुरी अवध (उ० प्र०) पिन-228001
☐ डा० सुभाषचन्द्र अग्रवाल	: शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, (उ० प्र०) पिन-211002
☐ श्रीमती उषा नैय्यर	. समन्वय अधिकारी, सेवा प्रचार विभाग, विद्या भवन शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)
☐ श्री सुरेन्द्र मोहन नैय्यर	: समन्वय अधिकारी, सेवा प्रचार विभाग, विद्या भवन शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)
☐ डा० मंजीत सैन गुप्त	: रीडर, व्यावसायीकरण शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली
☐ डा० मथुरेश्वर पारीक	. सहायक प्रोफेसर, पत्राचार अध्ययन सस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
☐ श्री बृजेन्द्र सिंह	: उप जिला शारीरिक शिक्षा अधिकारी, करौली, सवाई माधोपुर, राजस्थान
☐ प्रो० बैजनाथ शर्मा	. लोकमान्य तिलक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, डबोक, उदयपुर, राजस्थान, पिन-313022
☐ श्री हरीशंकर शर्मा	: व्याख्याता, राष्ट्रीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, बसेडी, धौलपुर (राजस्थान)
☐ डा० जमनालाल बायती	: सहायक प्रोफेसर, राजकीय स्नातकोत्तर शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर, राजस्थान पिन-334001

भारतीय आधुनिक शिक्षा

अक्तूबर 1987

सम्पादकीय

गांधी जी से दूर

प्रत्येक वर्ष इस महीने गाधी जी के कुछ विचारो को दुहराने और नये प्रकार से उनका उत्साहपूर्वक क्रियान्वयन करने का दृढ निश्चय करके हर भारतीय अपना कर्त्तव्य निभाता है। इसके अतिरिक्त श्रृद्धांजलि अर्पण की विधि हमने न सोची है और न हमे आती है। इसी प्रकार गांधी जी के कुछ चुने हुए विचारो को जिन्हे हम तोड मरोड कर अपनी सुविधानुसार जब शिक्षा जगत मे प्रस्तुत करते है, तब हमे लगता है कि हम अपने कर्त्तव्य का सर्वश्रेष्ठ पालन कर रहे हैं।

वैसे भी कटु सत्य किसी को प्रिय नही और भारतीय परम्परा सत्य के साथ "कटु" के विशेषण को तो बिलकुल ही पसंद नही करती। इसलिए बिना कटुता के सत्य पेश करने की जिम्मेवारी हम अपने ऊपर ले लेते है। आज की शिक्षा पद्धति से गांधी जी जैसे आदमी का सम्बन्ध जोड़ना बडा अटपटा लगता है। यदि कोई प्रश्न पूछ बैठे "आज की शिक्षा व्यवस्था मे गाधी जी के विचारों का समावेश कहा दिखाई पड़ता है?" तो मात्र यही उत्तर होगा "कही नही"। शिक्षा जगत में गाधी जी लगभग अनुपयोगी हो चुके है और शीघ्र ही लोग यह भी भूल जायेंगे कि एक समय था जब गाधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार काफी क्रातिवादी माने जाते थे।

क्या हुआ जो इस युग पुरुष के शैक्षिक विचार हमारे लिये अब इतने अमाननीय हो गए है? दो तीन बाते जिनका जिक्र केवल समाज शास्त्र के विद्यार्थी ही करते हैं जिन्दगी के सत्य को ऐसे बिखेर गई जैसे कोई झझावात एक अस्फुट बली को उजाड दे। गांधी जी का भारत गाव का भारत था। इनके निवासी निर्धनता में जीवन-यापन करते थे। शिक्षा उनके लिए सपना थी और यहां तक कि

वे लोग उसका मूल्य भी नही जानते थे। शोषित, भासित, अज्ञान-ग्रस्त भारतवासी के भाग्य का निर्माण विदेशी शासक अपने ढग से कर रहा था। उस शासक के पास इन ग्रामीणो को शिक्षा के नाम पर देने के लिए कुछ नही था। नगरो मे जीवन का बिखराव अपने सामती ढग से हो रहा था।

गाधी जी की शिक्षा मूलरूप से ग्रामीणो को स्वावलम्बी बनाने की शिक्षा थी। वह उन मूक लोगो के लिये अपने अधिकार पहचानने की एक प्रक्रिया थी। चूकि इस शिक्षा का भार विदेशी शासक की सरकार पर नही पड़ने वाला था इसलिए इसके प्रसार-प्रचार मे कोई कठिनाई भी नही थी। गाधी जी के चेले इस शिक्षा को लोगो तक पहुचा सकते थे। यह पृष्ठभूमि इस पद्धति को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

गाधी जी के चेले स्वय शासक हो गये। शहरो का विकास हो गया। गाव आज प्राय. उजड़ रहे है। इसलिए इस शिक्षा का आज जो मूल्य होना चाहिए था वही हो रहा है। क्या यह बात सच है कि गाधी जी के विचार हमसे आकाश-गगा से भी अधिक दूर हैं ?

राजेन्द्रपाल सिह

दूरवर्ती शिक्षा के साधन—पत्राचार

□ डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी मिश्रा

कोठारी प्रतिवेदन के अनुसार पत्राचार शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियो को विश्वविद्यालयीय उपाधि दिलाना मात्र नहीं होना चाहिए। पत्राचार कोर्स उन व्यक्तियों के लिए भी होना चाहिए जो कृषि, उद्योग तथा अन्य व्यवसायों में लगे है तथा अपने व्यावसायिक ज्ञान में वृद्धि करना चाहते हैं। इससे दो लाभ होंगे। एक तो इससे कार्यकर्ताओं की पदोन्नति शीघ्र हो सकती है दूसरे उत्पादन में भी वृद्धि हो सकती है।

आज के युग मे दूरवर्ती शिक्षा (डिस्टेंस एजूकेशन) के महत्व के सम्बन्ध मे दो मत नही है। विश्व के सभी विकसित, अथवा विकासशील देश किसी न किसी प्रकार ज्ञान के प्रसार एव प्रचार के लिए दूरवर्ती शिक्षा को अपना रहे है। ज्ञान के विस्फोटन तथा उससे भी अधिक जनसंख्या के विस्फोटन के कारण विकासशील देशो के लिए दूरवर्ती शिक्षा एक अनिवार्यता बन गई है। वैसे भी शिक्षा प्रदान करने के औपचारिक साधन, शिक्षा की बढ़ती हुई माग को पूर्ण करने मे अपने को असमर्थ पा रहे है, चाहे वे सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस तथा जापान जैसे समृद्ध तथा विकसित देश हो अथवा एशिया एवं अफ्रीका के विकासशील देश।

नवाचार की खोजो मे अग्रणी विकसित देशों ने ही प्रथम दूरवर्ती शिक्षा की अवधारणा को जन्म दिया। तथा इस अवधारणा के क्रियान्वयन के लिए जिस साधन को सर्वप्रथम उपयोग मे लाया गया वह था पत्राचार। इसीलिए दूरवर्ती शिक्षा आरम्भ मे पत्राचार शिक्षा के नाम से ही जानी जाने लगी। यह पत्राचार शिक्षा उन लोगो के लिए प्रारभ की गई जो औपचारिक शिक्षा संस्थाओ मे प्रवेश लेने मे असमर्थ थे—समय के अभाव के कारण, पूर्ण कालिक नौकरी पेशे में लगे होने के कारण, औपचारिक शिक्षा महगी होने के कारण, विकलागता के कारण अथवा अपनी रुचि का विषय उसी स्थान मे उपलब्ध न होने के कारण। ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के उद्देश्य,

अपने व्यवसाय मे उन्नति करने के उद्देश्य अथवा समय का सदुपयोग करने के उद्देश्य की पूर्ति भी पत्राचार शिक्षा द्वारा अधिक सुलभता से सभव हो सकती है। दूरवर्ती शिक्षा के साधन के रूप मे आरभ से पत्राचार शिक्षा का प्रसार सम्भवत: इसलिए भी हुआ क्योकि तब तक शैक्षिक तकनीकी इतनी विकसित नही हुई थी अथवा शिक्षा में टेक्नालॉजी का प्रयोग नही हो रहा था।

यो तो पत्राचार शिक्षा का आरम्भ तभी से माना जा सकता है जब से विश्व मे डाक सेवा आरभ हुई। डाक द्वारा संदेश भेजने के साथ-साथ जब माता-पिता ने दूर स्थित बच्चो को कुछ सलाह या निर्देश देना प्रारम्भ किया तभी से एक नई अवधारणा ने जन्म ले लिया जो बाद मे पत्राचार शिक्षा के रूप मे परिवर्तित हो गई। अपने देश के प्रथम प्रधानमत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने जेल से अपनी पुत्री इदिरा प्रियदर्शिनी (श्रीमती इदिरा गाधी) को जो पत्र भेजे एव बाद मे जो पुस्तक रूप से प्रकाशित हुए तथा जिनमे ज्ञान का भडार निहित है, उन्हे पत्राचार शिक्षा ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

1850 मे यूरोप मे पत्राचार शिक्षा की शुरूआत हो गई थी। इग्लैड के शिक्षा विशेषज्ञ इस दिशा मे विचार करने मे लगे थे कि यदि सभी व्यक्तियो को शिक्षा सस्थाओ मे लाना सभव न हो तो क्यो न शिक्षा उन तक ले जाई जाये।

सयुक्तराज्य अमेरिका मे पत्राचार शिक्षा का आरभ 1870 के लगभग माना जाता है। औद्योगिक क्राति, जिसके फलस्वरूप शिक्षा तथा प्रशिक्षण की बढ़ती हुई माग तथा स्त्रियो मे उत्पन्न होने वाली जागरूकता के दबाव के कारण वहा औपचारिक शिक्षा के साधन अत्यत सीमित प्रतीत होने लगे। वैसे भी प्रजातत्र के समुचित परिचालन के लिए सभी के लिए शिक्षा एक अनिवार्यता थी। इसलिए पत्राचार शिक्षा की व्यवस्था की जाने लगी। अन्ना टिकनर नामक महिला के प्रयासो के फलस्वरूप अमेरिका मे शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य पत्रों का आदान प्रदान आरभ हुआ। इसकी मुख्य बात थी प्रतिमाह पत्राचार जिसमे पढने के लिए सामग्री का निदेशन तथा मूल्यांकन हुआ करता था। 1891 मे वहा पेन्सिलवानिया में अन्तर्राष्ट्रीय पत्राचार विद्यालय की स्थापना हुई तथा इसी वर्ष विसकान्सिन विश्वविद्यालय मे विश्वविद्यालय विस्तार पत्राचार अध्ययन कोर्स के लिए एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। 1892 मे शिकागो विश्वविद्यालय मे पत्राचार शिक्षण विभाग स्थापित किया गया। इग्लैड में 1894 में सर्वप्रथम शिक्षक प्रशिक्षण के लिए छ विद्यार्थियो को पत्राचार के द्वारा शिक्षा दी गई। इस प्रयास की सफलता से प्रोत्साहित होकर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे डाक शिक्षण सस्थान की स्थापना की गई। 1917 की क्रांति के पश्चात् सोवियत सघ मे विद्यालयो तथा महाविद्यालयो मे स्थानो की अत्यन्त कमी हो गई। औपचारिक शिक्षा सस्थाओ के विस्तार के लिए आवश्यक वृहद धनराशि की समस्या को हल करने के लिए ऐसे उपाय खोजने का प्रयास किया गया जिसमे इतना व्यय आवश्यक न हो। इसके परिणामस्वरूप पत्राचार शिक्षण पर बल दिया गया। इसी प्रकार विश्व के अन्य देशो मे पत्राचार की उपयोगिता को दृष्टि मे रखते हुए विभिन्न पत्राचार सस्थाओ को आरम्भ किया गया।

भारत में भी औपचारिक शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक धनराशि एक समस्या थी। अत: अन्य देशो मे प्रचलित पत्राचार शिक्षा की ओर यहा के शिक्षा विशेषज्ञो का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके फलस्वरूप 1962 में सर्वप्रथम उच्च शिक्षा के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय मे पत्राचार कोर्स का आरंभ किया गया।

1966 में कोठारी आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन मे अमेरिका, स्वीडन, रूस, जापान तथा आस्ट्रेलिया जैसे देशों मे पत्राचार शिक्षा के प्रसार के महत्व तथा उसकी सफलता को स्वीकार करते हुए तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के पत्राचार कोर्स के अनुभव से प्रोत्साहित होकर इसके पूर्ण उपयोग की सस्तुति की। तत्पश्चात् देश के अनेक विश्वविद्यालयो ने पत्राचार शिक्षा के विभाग स्थापित किए। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा मडलों ने भी इटरमीडिएट परीक्षा के लिए पत्राचार कोर्स आरभ किए।

पत्राचार की अवधारणा

पत्राचार शिक्षा मे अपेक्षित है कि शिक्षण पत्रो के माध्यम से किया जाये। विद्यार्थियों की कठिनाइयो और समस्याओं को केवल पत्रो के माध्यम से ही हल किया

जाये । किन्तु जैसा कि कोठारी आयोग के प्रतिवेदन मे कहा गया है, पत्राचार शिक्षा केवल पत्राचार मात्र या लिखित निर्देशन एवं अभ्यास मात्र नही है । इसका एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि भले ही थोड़े समय के लिए हो, शिक्षक एव विद्यार्थी को आपस मे मिलना चाहिए । विशेष रूप से आयोजित इस सम्पर्क कार्यक्रम मे व्याख्यान, सेमिनार तथा सामूहिक वादविवादो की व्यवस्था होनी चाहिए । विज्ञान तथा टेक्नालॉजी के विद्यार्थियो के लिए छुट्टियो मे अथवा सप्ताहान्त मे प्रयोगशालाओ तथा कार्य-शालाओ मे आने जाने का प्रावधान होना चाहिए । पत्राचार कोर्स में पजीकृत एक ही स्थान अथवा मोहल्ले मे रहने वाले विद्यार्थी आपस मे अध्ययन समूह/क्लब निर्मित कर सकते हैं । इन स्वाध्यायी विद्यार्थियो को किसी स्थानीय शिक्षा सस्था से सम्बन्धित किया जा सकता है जिससे कि वे वहा के पुस्तकालय का उपयोग कर सके, विस्तार व्याख्यानो को सुन सकें तथा शैक्षिक चलचित्रो को देख सकें ।

कोठारी प्रतिवेदन के अनुसार पत्राचार शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियो को विश्वविद्यालयीय उपाधि दिलाना मात्र नही होना चाहिए । पत्राचार कोर्स उन व्यक्तियो के लिए भी होना चाहिए जो कृषि, उद्योग तथा अन्य व्यवसायो मे लगे है तथा अपने व्यावसायिक ज्ञान मे वृद्धि करना चाहते है । इससे दो लाभ होगे । एक तो इससे कार्यकर्ताओ की पदोन्नति शीघ्र हो सकती है दूसरे उत्पादन मे वृद्धि हो सकती है । इसके अतिरिक्त पत्राचार के माध्यम से बागवानी, भवन निर्माण अभियांत्रिकी, व्यवसाय प्रबन्धन, सर्वेक्षण, व्यवसायिक कलाओ, रेडियो टेलीविजन की देखरेख, पोशाक निर्माण, होटल व्यवसाय, फोटोग्राफी आदि अनेक व्यवसायो की भी शिक्षा दी जा सकती है । पत्राचार शिक्षा उन व्यक्तियो को भी दी जा सकती है जो सास्कृतिक एवं सौन्दर्य बोध से सम्बन्धित विषयो जैसे भाषाओ, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान आदि के अध्ययन के द्वारा अपने जीवन का संवर्धन करना चाहते है । वर्तमान मे कई विश्वविद्यालय पत्राचार के माध्यम से मुख्य रूप से सामान्य उपाधि कोर्स चला रहे हैं । कुछ अन्य संस्थान विभिन्न प्रकार के कोर्स भी चला रहे है जैसे व्यवसाय प्रबन्धन, पत्रकारिता, कम्प्यूटरप्रोग्राम, विज्ञापन, आतरिक सज्जा, पाक विज्ञान, फोटोग्राफी आदि । अवश्य ही भविष्य मे इस माध्यम की बहुत सभावनाए है ।

लाभ

पत्राचार शिक्षा के अनेक लाभ है पहला तो यह है कि आरंभिक व्यय के पश्चात्, विद्यार्थियो की सख्या कितनी भी बढे उतना व्यय नही बढता जितना कि औपचारिक विद्यालय खोलने मे भवन, उपकरण, पुस्तकालय, शिक्षक आदि के लिए व्यय करना पड़ता है । सदियो तक पराधीन रहने वाले अपने देश मे प्रगति के अन्य आयामो के लिए साधन जुटाने के साथ-साथ शिक्षा की बढती हुई माग के अनुसार औपचारिक सस्थाओ के लिए धन जुटाना तो और भी कठिन है । दूसरे, सभी औपचारिक विद्यालयो मे उच्च कोटि के अथवा योग्य अध्यापक नही होते, जब कि पत्राचार के माध्यम से योग्य अध्यापको द्वारा तैयार की गई विषय वस्तु सभी विद्यार्थियो तक पहुचाई जा सकती है । तीसरे नौकरी अथवा व्यवसाय मे लगा व्यक्ति अध्यापन कर सकता है जो कि सामान्य विद्यालयो मे संभव नही । न उसे प्रतिदिन कही जाने की आवश्यकता है न उपस्थिति की समस्या होती है । बल्कि अवकाश का सदुपयोग होता है । वैसे भी हमारे देश मे जहां लगभग 48 प्रतिशत व्यक्ति निर्धनता सीमा से नीचे है, यह सभव नहीं कि प्रत्येक विद्यार्थी माता-पिता पर बोझ बन कर अध्ययन करता रहे । पत्राचार के माध्यम से वह धनोपार्जन के साथ अध्ययन भी कर सकता है ।

भारत मे बहुत से क्षेत्र पिछडे हुए है, ग्रामीण क्षेत्र है, पहाडी क्षेत्र है, रेगिस्तानी क्षेत्र है, छोटे शहर है जहां उच्च शिक्षा उपलब्ध नही हो सकती—ऐसे स्थानों के बच्चो, पुरुषों एव महिलाओ के लिए पत्राचार शिक्षा वरदान सिद्ध हो सकती है । एक अन्य लाभ यह है कि अपने व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान मे वृद्धि करके कोई भी व्यक्ति पदोन्नति पा सकता है तथा उत्पादन मे वृद्धि कर सकता है जो कि उसके स्वय के लाभ के साथ देश के हित मे भी है ।

औपचारिक विद्यालयो के पक्ष मे एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि शिक्षक और विद्यार्थी के प्रत्यक्ष सम्पर्क से विद्यार्थी को जो प्रेरणा प्राप्त होती है वह पत्राचार के द्वारा संभव नहीं । किन्तु यदि कुछ अपवादो को छोड़

दिया जाये, तो वर्तमान विद्यालयों/महाविद्यालयों मे विद्यार्थियों की अत्यधिक भीड के कारण, शिक्षक विद्यार्थी मे घनिष्ट सम्पर्क नही के बराबर होता है। प्रेरणा प्राप्त होना तो दूर की बात है। बल्कि अनुशासनहीनता को बढावा मिलता है जिसका कि पत्राचार शिक्षा मे कोई प्रश्न ही नही उठता। वस्तुत. यह कहना उपयुक्त होगा कि विद्यालयो और महाविद्यालयो में बढती हुई अनुशासनहीनता, अराजकता एव निम्नस्तरता को देखते हुए उनकी संख्या कम कर देनी चाहिए तथा प्रवेश के नियम कड़े कर देने चाहिएं। यह कोई छिपा तथ्य नही है कि विद्या के मदिर आज राजनीति एव रणनीति के अखाड़े बन गए हैं जहा सही शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य कार्य हो रहे है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अच्छे विद्यालयो मे योग्य एवं सीमित विद्यार्थियो को प्रवेश दिया जाये तथा बाकी इच्छुक विद्यार्थियो को पत्राचार के माध्यम से स्वाध्यायी छात्र के रूप मे परीक्षा देने का अवसर दिया जाये। इससे एक ओर तो विद्यालयो की भीड कम होगी दूसरी ओर राजनीतिज्ञ एव असस्कारी शिक्षको के कुप्रभाव से मुक्ति पाई जा सकेगी।

पत्राचार शिक्षण कम से कम उन विद्यालय कही जाने वाली सभी सुविधाओ से रहित शिक्षा की दुकानों से अच्छा है जो शिक्षा के नाम पर बडी फीस लेते है, अयोग्य शिक्षकों से केवल परीक्षा मे आने वाले सम्भावित प्रश्नो के उत्तर पढवाते है तथा नकल करवाते हैं। इनमे स्वाध्याय की भी प्रेरणा नही मिलती। बल्कि पत्राचार शिक्षा द्वारा इन शिक्षा की दुकानो की सख्या कम की जा सकेगी जो आज एक व्यवसाय के रूप में अत्यत प्रचलित हो गई है।

वर्तमान मे जो पत्राचार कार्यक्रम चलाए जा रहे है उनके सम्बन्ध मे बहुधा यह शिकायत सुनने मे आती है कि उनका व्यवस्थापन सही नही है, विद्यार्थियो को समय से पाठ्य सामग्री उपलब्ध नही होती, बहुधा पाठ्य सामग्री निम्न स्तर की होती है, पत्रो का उत्तर देर से आता है तथा मूल्याकन मे त्रुटियां होती हैं। किन्तु ये दोष असाध्य नहीं है। यदि पत्राचार शिक्षा का प्रसार करना है तो पत्राचार के प्रबन्ध के लिए उन्मुखीकरण या प्रशिक्षण कार्यक्रम आरम्भ करना होगा जैसा कि अन्य देशो मे हो रहा है।

एक अन्य समस्या व्यक्तिगत सम्पर्क के सम्बन्ध मे रहती है। प्रत्येक स्थान पर शिक्षक एवं विद्यार्थियो का प्रत्यक्ष सम्पर्क करवाना सम्भव नही हो पाता। भारत के कुछ ऐसे प्रदेशो, जैसे अरुणाचल प्रदेश, आसाम, मेघालय अथवा अडमान नीकोबार आदि के विद्यार्थी यदि पत्राचार शिक्षा विभागो मे नामाकन कराते हैं तो उनके लिए भी सम्पर्क कार्यक्रम आयोजित करना कठिन होता है। परन्तु विद्यार्थियो के लिए वर्ष मे कम से कम एक बार मुख्य विषय शिक्षको से सम्पर्क कार्यक्रम आयोजित अवश्य किया जा सकता है यदि इसके लिए दृढ निश्चय किया जाये तथा विद्यार्थियो को अपने स्थान से कुछ दूर के केन्द्रीय स्थान तक आने को प्रेरित किया जाये। अत. यदि सही तरीके से व्यवस्था की जाये तो पत्राचार शिक्षा अपने देश मे सामान्य शिक्षा एव विशेष शिक्षा के प्रसार का अत्यन्त उपयोगी साधन सिद्ध हो सकती है। □□

शैक्षिक पत्रकारिता

□ श्रीमती कृष्णा माहेश्वरी

कुछ लोगों का मानना है कि बालक के कक्षाकक्ष में सीखने सम्बन्धी गतिविधिया ही शैक्षिक पत्रकारिता की विषय-वस्तु बन सकती है। जो भी हो, यह तो निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि शैक्षिक पत्रकारिता विषय विकसित हो रहा है एवं पर्याप्त सम्भावनाएं उजागर हो रही है। प्रश्न उठता है कि शैक्षिक पत्रकारिता विज्ञान है या कला या दोनों !

पिछले 18-20 वर्षों से "शैक्षिक पत्रकारिता" शब्द जन-साधारण मे रुचि का विषय बनता जा रहा है। शैक्षिक पत्रकारिता विषय मे क्या पाठ्य-वस्तु जोडी जाये तथा क्या नहीं, अर्थात् इस विषय की पाठ्य-वस्तु क्या हो ? इस विषय पर आज भी इस क्षेत्र के विद्वान् एकमत नही है। अधिकांश लोगो का मानना है कि शैक्षिक पत्रकारिता मे बालक के अधिगम को प्रभावित करने वाली प्रत्येक बात सम्मिलित की जानी चाहिए। बालक को घर से विद्यालय ले जाने वाली बस व्यवस्था से लेकर संध्या में घर लौटने के बीच होने वाले सभी क्रिया-कलाप, कक्षा अधिगम, खेल व्यवस्था, गृह कार्य, केफेटेरिया, शिक्षकों की नियुक्ति, उनके व्यावसायिक कार्यक्रम, भवन का रख-रखाव, प्रयोगशाला आदि सभी कार्य व्यवहार सम्बन्धी गतिविधिया शैक्षिक पत्रकारिता में सम्मिलित की जाती हैं। कुछ लोगो का मानना है कि बालक के कक्षा-कक्ष मे सीखने सम्बन्धी गतिविधियां ही शैक्षिक पत्रकारिता की वियष-वस्तु बन सकती है। जो भी हो, यह तो निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि शैक्षिक पत्रकारिता विषय विकसित हो रहा है एवं पर्याप्त सम्भावनाए उजागर हो रही हैं। प्रश्न उठता है कि शैक्षिक पत्रकारिता विज्ञान है या कला या दोनो ? शैक्षिक पत्रकारिता को इस अर्थ मे कला कहा जा सकता है कि वह मौलिकता, सृजनात्मकता, नवीनता एवं अन्वेषण की समर्थक ही नही वरन् पोषक है, जनक है। प्रतिवेदन तैयार करना, आख्या लिखना, सम्पादन करना, प्रूफ पढना तथा पृष्ठ सज्जा आदि कार्यों के सम्पन्न करने मे कला की ही प्रमुखता रहती है। शैक्षिक पत्रकारिता का कार्य शिक्षा के सम्बन्ध मे जन साधारण को सही सूचनाए देना है तथा इसी दृष्टि से सामान्य

नागरिकों को शिक्षित करना है। इस दृष्टि से भी शैक्षिक पत्रकारिता को कला ही कहा जाना चाहिए। पर एक अन्यार्थ मे इसे विज्ञान भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रतिवेदन तैयार करना एक तकनीकी-पूर्ण कार्य है तथा तैयार करते समय उन सोपानो या चरणों का पालन किया ही जाना चाहिए—मोटे रूप मे किसी कार्य को विधिवत सम्पन्न करना ही विज्ञान है। अत: आग्रह रहता है कि प्रतिवेदन तैयार करने का अध्यापन भी विधिवत हो, विधिवत वर्णन हो और यदि सम्भव दिखे तो, विधिवत सुधार का क्षेत्र खोजा जाये। एक अच्छा तथा कुशल शैक्षिक पत्रकार वह है जो पत्रकार के लिए मौलिक आवश्यकताओ मे उत्प्रेरणा तथा सृजनात्मकता भी जोड़ ले।

एक समय था जब पत्रकारो को जन्म-जात पैदा होने वाला माना जाता था, पर आज समय बदल गया है और इस मान्यता को भी सम्मान से नही देखा जाता है। आज औपचारिक शिक्षा के माध्यम से पत्रकारो के लिए आवश्यक गुणों का विकास किया जाने लगा है। व्यवहार में देखा जाता है कि किसी आख्या को लेकर तैयार करते समय ज्ञान तथा कौशल की कमी या निर्योग्यता पाने पर सहसा मुह से निकल पड़ता है कि इस कार्य की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए। ट्रेनिंग की बात करने के पीछे यह धारणा दृढ होती जा रही है कि प्रत्येक समस्या प्रशिक्षण से हल की जा सकती है। किसी समस्या के निवारण के लिए, बहुत सम्भव है कि सभी विकल्प ज्ञान में या जानकारी मे न आ पाये, ऐसी स्थिति मे सर्वाधिक सही विकल्प चुनने का या चुनकर उसके अनुसार कार्य करने का प्रश्न ही नही उठता। इस दृष्टि से अच्छा यह होगा कि शैक्षिक पत्रकारिता की ट्रेनिंग मे क्या समाविष्ट न किया जाये, इसका निश्चय पहले करना चाहिए। यदि यह निश्चित हो जाये तो शेष सभी विषय या प्रकरण उसमे सम्मिलित किये जाने चाहिएं।

यह डर अवश्य है कि शैक्षिक पत्रकारिता की ट्रेनिंग को वांछित और आवश्यकतानुसार महत्व न दिया जा सके। यदि अत्यधिक सजगता एव सावधानी के साथ इसका पाठ्यक्रम तैयार किया जाये तो पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था करनी होगी। अत्यधिक खर्चों के कारण कहीं ट्रेनिंग कार्यक्रम ही रद्द न हो जाये—इन दोनों ध्रुवों के बीच सन्तुलन आवश्यक है। कई बार लघु अवधि का या सामान्य कार्यक्रम होने पर उनका वित्तीय भार सापेक्षतया अधिक हो सकता है। इसके दूसरी ओर कई बार अधिक व्यय करके भी मानव संसाधनो का उपयुक्त विकास नही किया जा सकता। अच्छा होगा कि चरम सीमा की दोनों ही स्थितियो से बचा जा सके। पाठ्यक्रम मे विषय या प्रकरण कम रखने के बजाय अधिक-से-अधिक सामग्री समाविष्ट करने की प्रवृत्ति अब तक रही है। सम्भवत: इसके पीछे धारणा यह है कि पत्रकारिता की शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी कुछ नही जानते है। अत. उन्हे अधिक-से-अधिक पढाया जाये, सूचनाऐ दी जाये, जानकारी दी जाये तथा उन्हे कुशल बनाया जाये।

शैक्षिक पत्रकारिता की शिक्षा के लिए दो प्रकार की योजनाओ पर विचार किया जा सकता है.

(अ) प्रशिक्षु (ट्रेनी) को कार्य के अनुसार तैयार करना।

(आ) प्रशिक्षु के गुणो, विशेषताओ के अनुसार कार्य मे संशोधन, सुधार एव परिवर्द्धन करना।

व्यावसायिक मनोविज्ञान के अनुसार ऊपर वर्णित दर्शन के प्रकाश में शैक्षिक पत्रकारिता के क्षेत्र मे अधोलिखित कार्यक्रम सुझाए जा सकते हैं :

प्रशिक्षु को कार्य के अनुसार तैयार करने के लिए—

- व्यावसायिक निर्देशन/मार्ग-दर्शन
- उपयुक्त कार्मिक/सेवी वर्गीय का चयन
- व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा
- विकास कार्य की रूप-रेखा पर ध्यान एव प्रयत्न केन्द्रित किये जाने चाहिए।

कार्य को प्रशिक्षु के अनुसार संयोजित करने के लिए—

- कार्य सम्पन्न करने की विशिष्ट विधि का विकास
- कार्य करने का प्रारूप या ढाचा
- उत्साह-वर्द्धक कार्य की दशाएं/स्थितिया तथा
- उपयुक्त पुरस्कार की व्यवस्था पर ध्यान एवं प्रयत्न केन्द्रित किये जाने चाहिए।

शैक्षिक पत्रकारिता के क्षेत्र मे उपयुक्त विकल्प का चयन करते समय पर्याप्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है। ऊपर दिये दो विकल्पों मे से सर्वाधिक अच्छे विकल्प का चयन करने के लिए वर्तमान स्थितियो मे माग और पूर्ति का (अर्थ शास्त्र का) सम्प्रत्यय उपयुक्त मार्ग-दर्शन कर सकता है—

विकल्प (अ) प्रशिक्षु को कार्य के अनुसार तैयार करना कार्य की प्रकृति या सम्पादित किया जाने वाला कार्य, उससे जुडे अवबोध एव कौशल—

1. चयन व प्रशिक्षण का महत्व।
2. प्रशिक्षण पाठ्य-वस्तु की मात्रा, विस्तार एव गहनता।
3. प्रशिक्षण कार्यक्रम का विस्तार एवं गहनता।
4. निर्देशन/मार्ग-दर्शन की व्यवस्था।
5. कार्य सम्बन्धी चैक लिस्ट (पडताल सूची), प्रश्नावली, शिड्यूल, चित्र, ग्राफ, व्यग्य-चित्र, गणितीय तालिकाए आदि के प्रयोगो पर बल।
6. मूल्याकन एव इसके आधार पर सशोधन।

विकल्प (आ) प्रशिक्षु के गुणो, योग्यताओ के अनुसार कार्य में परिवर्तन—

—कार्य की प्रकृति या सम्पादित किया जाने वाला कार्य।

—कार्य की दशाओ/स्थितियो मे व्यवस्थापकीय परिवर्तन।

1. सगठन/प्रबन्ध।
2. सूचना सम्प्रेषण।
3. कार्य विधि।
4. व्यवहृत उत्प्रेरणा के रूप।
5. मूल्यांकन एव इसके आलोक मे सशोधन।

कौन-सा विकल्प प्रभावी होगा— यह मुख्यत. कार्य की प्रकृति तथा उसके निष्पादन की विधि पर निर्भर करता है। कुछ तत्व दोनों मे समान रूप से प्रभावी हो सकते है। पहली समस्या ही यह आती है कि प्रशिक्षण की समस्या वास्तव मे चयन, प्रशिक्षण पाठ्यक्रम तथा कार्य-विधि की समस्या है। शैक्षिक पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रशिक्षण का कार्यक्रम मुख्यत इस तथ्य पर निर्भर करता है कि शैक्षिक पत्रिकाए निकालने के लिए किन-किन कौशलो की जरूरत रहती है। इन कौशलो को सामान्यत. दो वर्गों मे बाटा जा सकता है, जो इस प्रकार है

1. पत्रकारिता कला
2. पत्रकारिता विज्ञान

पत्रकारिता कला

प्रतिवेदन तैयार करना, आख्या तैयार करना, सम्पादन करना, प्रूफ पढना तथा पृष्ठ सज्जा की दृष्टि से मौलिकता, सृजनात्मकता, नवीनता तथा अन्वेषण वृत्ति का विकास करना, आदि।

पत्रकारिता विज्ञान

सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को पद सोपान के क्रम मे बाटना, तार्किक क्रम-बद्धता लाना, प्रतिवेदन लिखने की तकनीक तथा विधि का विकास करना, आदि।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि सगठन की ओर देखते हुए शैक्षिक पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य तथा मानवीय सम्बन्धों को एक विधि या व्यवस्था माना जाये। यह निश्चय करना आवश्यक है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न घटक एक-दूसरे के साथ सर्वाधिक अच्छे सम्बन्धों का विकास कर लेते है। पारस्परिक सम्बन्धो की इस प्रक्रिया मे विभिन्न क्षेत्र निम्नानुसार बनाये जा सकते है—

प्रशिक्षु घटक

—प्रशिक्षु की योग्यताओ, रुचियो, आवश्यकताओ तथा अभिवृत्तियो आदि की दृष्टि से विचार तैयार किया जाए।

—ऐसे व्यक्ति जो शिक्षा के क्षेत्र मे प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए हैं पर पत्रकारिता के क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का औपचारिक या अनौपचारिक प्रशिक्षण

प्राप्त नही हैं, और शैक्षिक पत्रिकाओ के सम्पादन आदि का कार्यभार सम्भाले हुए है ।

—दूसरे वे लोग है जो पत्रकारिता के क्षेत्र मे सम्पादन का औपचारिक नियमित प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए है पर उनकी शैक्षिक पृष्ठभूमि नही है और शैक्षिक पत्रिकाओ का सम्पादन-संचालन कर रहे है ।

—लेखक, जो इन पत्रिकाओ को लेखकीय शिक्षा सम्बन्धी योगदान देते हैं ।

—शैक्षिक पत्रिका के उत्पादन से जुड़े अन्य तकनीकी कर्मचारी जिन्हे अपने क्षेत्रो का विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त नही है ।

कार्य घटक

इस घटक के क्षेत्र मे प्रारूप, लेखन, आकार, साज-सज्जा आदि की दृष्टि से विचार किया जा सकता है—

कार्य	कार्य निष्पादन के लिए आवश्यक कौशल
प्रतिवेदन तैयार करना .	भाषा की शुद्धता, यथार्थता, सक्षिप्तता, व्याकरण सम्मत लेखन, साहसी कार्य, समाचारो के प्रति जागरूकता, आदि सम्बन्धी कौशल तथा उपयुक्त गति ।
लेखन :	सही सम्प्रेपण के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति, निष्पक्ष एवं स्वाभाविक रूप से सहज लेखन ।
सम्पादन ·	निष्पक्षता, विभागीयकरण तथा मानकीकरण
प्रूफ पढना ·	अशुद्धता की प्रकृति का ज्ञान, शुद्धता का महत्व, जोडने-घटाने—बदलने की विधि/तरीका एव उनसे परिचय ।
पृष्ठ सज्जा आदि :	नियोजन, छपने के समय तक प्राप्त समाचारो को समाविष्ट करना, आवरण पृष्ठ को आकर्षक बनाना ।
उत्पादन :	डमी तैयार करना, उपयुक्त मुद्रण, सिलाई, कटाई, आवरण पृष्ठ का भिन्न कागज, उत्पादन सामग्री को पाठको तक पहुचाना आदि ।

विषय-वस्तु घटक

इस क्षेत्र पर ढांचे, स्वरूप, प्रारूप, तकनीक एव पाठको की आवश्यकता की दृष्टि से विचार किया जा सकता है .

- शिक्षा सम्बन्धी सामान्य पाठ्यवस्तु तथा कौशल जो शैक्षिक पत्रिकाओ के सम्पादको के लिए आवश्यक हो ।
- शिक्षा से जुडे उन कार्मिको के लिए जो पत्रिकाओ मे काम करते है, पत्रकारिता सम्बन्धी उपयोगी एव सामान्य विषय-वस्तु तथा कौशल ।
- शैक्षिक पत्रिकाओ के लिये लिखने वाले लेखको के लिए "लिखने की कला" एव विषयो सम्बन्धी जानकारी सहित सामान्य पाठ्य-वस्तु तथा कौशल ।

प्रशिक्षक घटक

—प्रशिक्षक का जीवन दर्शन, समाज के प्रति अभिवृत्ति ।

--प्रशिक्षण का तरीका/की विधि

ऊपर दिये पत्रकारिता सम्बन्धी विभिन्न घटको के प्रकाश मे सम्पूर्ण प्रणाली मे शैक्षिक पत्रकारिता मे आलोचनात्मक तत्व, घटको की प्रकृति, उनकी अन्तर्निर्भरता, विभिन्न उपविभाग, समायोजन की विधि का विवेचन, अनुपयुक्तताओ एव अनियमितताओं की पहचान आदि समाविष्ट है । अन्त मे विधि पर आश्रित व्यवस्था मे पत्रकारिता के क्षेत्र में पत्रकार एव सम्पादक अपने को पृथक रखते हुए शोध छात्र तथा प्रकाशक की समस्याओ को जानने के लिए, उपयुक्त विधि का चयन करते है ।

प्रशिक्षण की अपरिहार्यता

पत्रकारिता सम्बन्धी प्रशिक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित करने के लिए ऊपर बताये सभी घटको का परीक्षण जरूरी है तथा इसके लिए यही उपयुक्त विधि है :

उदाहरणार्थ—सीमित घटको का, इन्हीं आधारो पर, विश्लेषण निम्नानुसार प्रस्तुत है—

प्रशिक्षु घटक	कार्य घटक	कौशल	पाठ्य-वस्तु
शिक्षा मे प्रशिक्षण प्राप्त पर पत्रकारिता मे प्रशिक्षण रहित	प्रतिवेदन तैयार करना	शुद्धता, संक्षिप्तता, गति एव कौशल, साहसी कार्य, सूझ-बूझ एव समाचार के प्रति सजग।	पत्रकारिता का सामान्य अनिवार्य पाठ्यक्रम, विषय-वस्तु एव कौशलो का विकास।

ऊपर उल्लिखित विश्लेषण यह समझने मे सहायता करेगा कि—

1. क्या औपचारिक प्रशिक्षण वास्तव मे कोई लाभ पहुचाता है ?

2. क्या प्रशिक्षण कार्यक्रम को शिक्षण विशिष्टता तथा नैदानिक विधियों या इसी प्रकार के अन्य तत्वों पर केन्द्रित किया जाना चाहिए ?

उपयुक्त योजना द्वारा प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता-पूर्ति

पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रशिक्षण कार्यक्रमो की दो भिन्न-भिन्न योजनाए सुझाई जा सकती है .

1. कार्य मे प्रवेश के बाद अर्थात् अन्त सेवा प्रशिक्षण।
2. सेवा मे प्रवेश से पूर्व प्रशिक्षण।

इन दोनो प्रकार के कार्यक्रमो का अन्तर यू समझाया जा सकता है।

अन्त-सेवा प्रशिक्षण	सेवा में प्रवेश से पूर्व प्रशिक्षण
1. कार्य का पूर्व से परिचय अत. सहज एव सरल।	पेचीदा कार्य—सूचनाए, विधि तथा निर्णय प्रक्रिया की तात्कालिक मार्गों से ये पेचीदगिया/उलझने और बढना।
2. तुलनात्मक रूप से कार्य मे लगे रहने के स्थायित्व की आशा, न्यूनाधिक रूप से परिवर्तन या नवाचार की सम्भावना।	निरन्तर द्रुत गति से विकसित होते ज्ञान तथा कौशलो के पुनर्वर्गीकरण से लगातार परिवर्तन।
3. कार्य मे लगे व्यक्तियो को न्यूनतम योग्यताओ तक लाने के लिए सस्थान को समय तथा मूल्य रूपी भार वहन नही करना पड़ता है।	व्यक्तियो को प्रशिक्षित करने के लिये समय तथा मूल्य चुकाना पडता है, उपकरणो के रख-रखाव की तथा चोटी की दक्षता/कौशल की आवश्यकता होती है।
4 कार्य को प्रशिक्षुओ की आवश्यकताओ के अनुसार बनाया जाता है।	प्रशिक्षु को कार्य की अपेक्षाओ के अनुसार तैयार किया जाता है। कई बार भारी कठिनाइयां आती हैं क्योंकि कार्य के निष्पादन के लिए आवश्यक गुण व्यक्तियो या प्रशिक्षुओं मे नही पाये जाते।
5. सामान्य तौर पर औपचारिक रूप से कार्य करते हुए उत्प्रेरणा या अभिवृत्ति संबधी पाई जाने वाली समस्यायें हल कर ली जाती हैं।	प्रवेश से पूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रम मे उत्प्रेरणा या अभिवृत्ति सम्बन्धी कठिनाइया हल नही की जा सकती।
6. नई सचालन प्रणाली की कार्य मे आवश्यकता अनुभव नही की जाती।	नई सचालन प्रणाली की कार्य मे अपेक्षा की जाती है तथा उनका क्रमश. विकास चलता रहता है।

शैक्षिक पत्रकारिता के क्षेत्र मे कौन-सी योजना अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है या उपयुक्त रहती है—इसका निर्णय करना आसान कार्य नहीं है। शैक्षिक पत्रकारिता सम्बन्धी प्रशिक्षण देने वाले अधिकारियो को स्पष्ट तथा निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि—

1. प्रशिक्षण के समग्र उद्देश्यो का ज्ञान (प्रशिक्षण के उपागों के उद्देश्यो सहित)।
2. प्रशिक्षण के तात्कालिक उद्देश्यो का ज्ञान।
3. प्रशिक्षण की पाठ्य-वस्तु।
4. प्रशिक्षण की कार्य विधि—औपचारिक, अनौपचारिक।
5. प्रशिक्षुओ की मनोदशा—अभिवृत्ति, कार्य-मूल्य (जॉब वेल्यू) आदि वैयक्तिक घटक।
6. व्यावहारिक प्रशिक्षण की सुनियोजित योजना।

इन सब से अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रशिक्षण की व्यवस्था अन्त/पूर्व सेवा से इस कार्य मे लगे कर्मचारियों के लिए है या पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले—इस क्षेत्र से अनभिज्ञ—नये प्रत्याशियो के लिए है, पर विचार कर लेना अधिकारियो के लिये लाभप्रद रहेगा।

निष्कर्ष

सार रूप मे यही कहा जा सकता है कि प्रशिक्षण पाठ्य-वस्तु का शीतल मस्तिष्क से निश्चय किया जाए। प्रशिक्षण पाठ्यक्रम मे क्या-क्या विषय/प्रकरण या पाठ्य-वस्तु जोड़ी जाए तथा क्या पाठ्य-वस्तु नहीं जोडी जाए। यदि नही जोडी जाए तो क्यो नही? इसका स्पष्टीकरण कर लेना योजनाधिकारियो के लिए प्रथम स्थान पर अति महत्वपूर्ण है। इन सब बातों का स्पष्टीकरण प्रशिक्षण के उद्देश्यो पर निर्भर करेगा। इसलिए उद्देश्यो का निर्धारण सर्वप्रथम खुले मस्तिष्क से आलोचनात्मक दृष्टि अपनाते हुए किया जाना चाहिए। अच्छा होगा, प्रशिक्षण की दो योजनाए तैयार की जाये जिससे आवश्यकता पड़ने पर विकल्प के रूप मे दूसरी योजना अनुसार भी कार्य शुरू किया जा सके तथा उस समय नई योजना बनाने मे लगाये जाने वाले समय की बचत हो सके। □□

प्राचीन मध्यकालीन भारत में शिक्षा

☐ डॉ० कृष्णकान्त अवस्थी

गुरूकुलों मे आज के समान परीक्षा प्रणाली न थी। गुरू प्रतिदिन जो कुछ पढाते थे उसे अगले दिन प्रत्येक शिष्य से सुनते थे। जो कमी रह जाती थी, उसे विद्यार्थी दिन प्रतिदिन के अभ्यास से दूर करता था। पूर्णत: सन्तुष्ट होने के बाद ही गुरू अगला पाठ पढ़ाता था। समय-समय पर ज्ञान परीक्षा के लिए छात्रो में शास्त्रार्थ होता था। वर्तमान समय में विद्यार्थीगण अपनी विद्वता की साक्षी के रूप में विश्वविद्यालय का एक दस्तावेज पेश कर देते हैं, वैदिक काल में प्रत्येक विद्वान की विद्वता उसकी जिह्वा पर नर्तन करती थी।

भारतीय शिक्षा का अतीत अन्धकार की छाया से आच्छन्न था परन्तु जीवन की कला के विकास के साथ-साथ भारतीय सभ्यता की गोधूलि दिखाई पडने लगी थी। हडप्पा और सिन्धु आदि स्थानों मे पुरातत्व सम्बन्धी खुदाइयो मे जो भग्नावशेष मिले हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से सदियो पूर्व सिन्धु की घाटी मे आलोडित लहरे सभ्यता के सक्रिय स्वरूप की अभिव्यजना करती है। इस सैन्धव सभ्यता को प्रस्तर धातु युग की सज्ञा दी जाती है।

सैन्धव-सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त सामग्रिया प्रमाणित करती हैं कि वहां का नागरिक जीवन सभ्यता और सस्कृति के उत्कर्ष पर था तथा वे लोग किसी न किसी प्रकार की लेखन शैली से अवश्य अवगत थे। परन्तु इस लिपि के अध्ययनार्थ विद्वानो के सारे प्रयत्न इस लिपि को जानने मे निरर्थक रहे। सम्भवत: इस कारण ही सैन्धव लिपि का प्रचार-प्रसार लम्बे काल तक भारत भूमि मे जीवित न रह सका। सिन्धु-घाटी की सभ्यता में ऐसे कोई स्पष्ट सकेत नही मिलते है जिससे इस काल की लिपि के स्वरूप की जानकारी प्राप्त हो सके और निजी शिक्षा के प्रसार की दिशा एव दशा का बोध हो सके।

सैन्धव कालीन सभ्यता की गोधूलि के बाद वेदकालीन सभ्यता का प्रकाश भारत मे प्रस्फुटित हुआ।

वैदिक काल में शिक्षा के विकास में निजी प्रयास

भारतीय शिक्षा जगत मे वैदिक शिक्षा को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि उस समय तक लेखन कला का विकास नही हुआ था तथापि शिक्षा के निजी प्रयासो का जो रूप दृष्टिगत होता है, वह निश्चय ही अद्वितीय कहा जा सकता है। तत्कालीन शैक्षिक सस्थाए और शिक्षा का प्रचार-प्रसार व्यक्ति केन्द्रित था। शिक्षक जिसे गुरू की सज्ञा दी गई वह ही संस्था के रूप मे कार्य करता था अर्थात् व्यक्ति ही संस्था था। प्रत्येक गुरू या ऋषि अपने पुत्रवत शिष्य को मौखिक शिक्षा प्रदान करता था। यह ज्ञान उस परिवार की वशगत निधि बनने से वैदिक युग में परिवार-स्कूलों का जन्म हुआ। विद्यार्थी गुरू के पास रहकर विद्याध्ययन करता था। गुरू विद्यार्थियो को मत्रपूत करके जीवन की शुचिता के साथ मंत्रों के माध्यम से ही शिक्षा देता था। मत्रो को कठाग्र करके वे आगे बढ़ते जाते थे।

मुकर्जी (सन् 1974) ने लिखा है कि "उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था, जिसका उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति था। विद्यालय का सचालन स्वय शिक्षक करता था। गुरू-गृह ही शिक्षालय था।"

ब्रह्मचर्य विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। गुरू-गृह पर रहकर गुरू सेवा करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य था। उपनयन संस्कार के होने पर ही विद्यार्थी जीवन का सूत्र-पात होता था। शिष्य को कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था। वेद-कालीन शिक्षा की प्रमुख विशेपता "गुरूकुल प्रणाली" थी। गुरू शिष्य के शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा के विकास का जिम्मेदार था। गुरूकुल साधारण कोलाहल से दूर प्रकृति के सुन्दर क्रोड मे स्थित थे। परन्तु ये किसी ग्राम या नगर के समीप अवश्य होते थे जिससे उनमे निवास करने वाले छात्रो की अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सके।

गुरूकुलों मे आजकल के समान परीक्षा प्रणाली न थी। गुरू प्रतिदिन जो कुछ पढ़ाते थे उसे अगले दिन प्रत्येक शिष्य से सुनते थे। जो कमी रह जाती थी, उसे विद्यार्थी दिन-प्रतिदिन के अभ्यास से दूर करता था। पूर्णत. सतुष्ट होने के बाद ही गुरू अगला पाठ पढाता था। समय-समय पर ज्ञान परीक्षा के लिए छात्रों मे शास्त्रार्थ होता था। वर्तमान समय मे विद्यार्थीगण अपनी विद्वता की साक्षी के रूप मे विश्वविद्यालय का एक दस्तावेज पेश कर देते है, वैदिक काल मे प्रत्येक विद्वान की विद्वता उसकी जिह्वा पर नर्तन करती थी।

छात्र-छात्राओं को समान रूप से ज्ञानार्जन का पूर्ण अधिकार था। अधिकतर कन्याओ के लिए यह विधान था कि वे अपने माता-पिता, ज्येष्ठ भगिनी, सास तथा पति से विद्या प्राप्त करे। आचार्यों की कन्याए स्वय अपने पिता के साथ रहकर विद्याध्ययन करती थी। गार्गी, देवयानी, मैत्रेयी आदि विदुषियो के नाम तत्कालीन गौरवपूर्ण परम्परा के उदाहरण है। धर्मग्रथो मे विश्ववाश, लोपा-मुद्रा, घोषा, वञाया इत्यादि विदुषियो के नाम उसी गौरव का गायन करते है। गुरूकुल के परिपोषण के लिए अनेकानेक नृपति गाव के गाव की राजस्व लगा देते थे। यह उन सबका गुरूकुल के लिए महान योगदान था। ऐसी बस्ती को जो राजाओ के द्वारा गुरूकुल को दी जाती थी वह ब्रह्मपुरी या अग्रहार कही जाती थी। इस प्रकार के दान को भट्ट-वृत्ति कहते थे। गुरूकुलो के अतिरिक्त अनेक तीर्थ-स्थानो तथा नगरो मे भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वान आचार्यो ने विद्या केन्द्र खोल रखे थे। कभी-कभी वे अपने गृहो मे भी ऐसे विद्या केन्द्र खोलते थे। प्राचीन नगरीय विद्या केन्द्रो मे काशी, काँची, कन्नौज, तक्षशिला आदि के नाम प्रख्यात थे।

वैदिक युग मे विद्या की सबसे महत्वपूर्ण सस्था परिषद थी। यह परिषद विशिष्ट विद्वानो की गोष्ठी थी। उसके निर्णय राजा और प्रजा दोनो को मान्य थे। परिषदो के सदस्यो की सख्या 10 से 21 तक होती थी।

मुकर्जी ने उल्लेख किया है कि "गौतम धर्म-सूत्र के अनुसार दस सदस्यो का सयोजन इस प्रकार था।"

1. चारो वेदो के पूर्ण ज्ञाता।

2. धर्म शास्त्रों के तीन पडित।

3. ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ—तीनों के एक-एक प्रतिनिधि। धीरे-धीरे योगानुकूल आवश्यकताओं से इन विद्वानों के पास अनेक छात्र विद्याध्ययन के लिए आने लगे तथा परिषदो ने सावास विश्वविद्यालयों का रूप धारण किया।

इससे सम्बन्धित मुकर्जी ने कहा है कि "परिषद मे आधुनिक विश्वविद्यालयो के सभी उपकरण वर्तमान थे ।" इन विद्या केन्द्रो मे दो मुख्य थे—एक "काशी" और दूसरा गान्धार की राजधानी "तक्षशिला"।

तक्षशिला

आल्तेकर ने तक्षशिला की स्थिति के विषय में अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है कि "यह केन्द्र रावलपिंडी से 20 मील दूर पश्चिम दिशा मे स्थित है । 700 ई० पूर्व से 500 ई० पूर्व की अवधि मे तक्षशिला शिक्षा का प्रधान केन्द्र रहा । इसकी नीव भरत ने डाली थी तथा अपने पुत्र तक्ष को यहा का शासक नियुक्त किया था ।" नामानुसार तक्षशिला नाम पडा । "यही पर जनमेजय का नागयज्ञ भी हुआ था । यहा पर अध्ययन हेतु राजगृह काशी और मिथिला जैसे सुदूर स्थानो से छात्र अध्ययनार्थ आते थे ।" जातकों से इस सम्बन्ध मे बहुत कम जानकारी मिल पाती है । वर्तमान समय के कालेज या विश्वविद्यालयो के रूप मे तक्षशिला मे कोई कालेज या विश्वविद्यालय न था । यहा अनेक प्रतिष्ठित आचार्य थे, जिनके चरणों मे बैठकर अध्ययन करने के लिए उत्तर भारत के कोने-कोने से सैकडो विद्यार्थी आते थे । आचार्य किसी केन्द्रीय शिक्षण सस्था द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम का अनुसरण नही करते थे । विद्यार्थी अपनी सुविधानुसार अध्ययन पूरा करते थे । कोई परीक्षा नही होती थी । इसीलिए कोई उपाधि नही होती थी । प्रमाण-पत्र भी वितरित नही किया जाता था । आल्तेकर ने कहा है कि . "सामान्यत एक आचार्य के पास 20 से अधिक ब्रह्मचारी शिष्य नही होते थे । तक्षशिला की खुदाइयो से भी भवन प्रकट नही हुआ जिसमें 500 विद्यार्थी अध्ययन करते रहे हों ।"

राजा प्रसेनजित, कुमार जीवक ने यही शिक्षा ली थी । वैयाकरण पाणिनि, महामति चाणक्य तथा वैद्य जीवक ने यही पर ज्ञान लाभ किया था । जातको से ज्ञात होता है कि काशी के युवराजो की शिक्षा-दीक्षा प्रायः तक्षशिला मे होती थी ।

यह उच्च शिक्षा का केन्द्र था । वेदत्रयी, अष्टादश शिल्प दर्शन और व्याकरण ही मुख्य विषय थे । धर्म, विधि, गणित, कृषि, वाणिज्य, पशु-विद्या, लौह-शिल्प, काष्ठ-शिल्प, चिकित्सा, शिल्प-शास्त्र, गारूणी विद्या, गुप्त-द्रव्योत्पादन, सगीत, नृत्य, चित्रकला और साहित्य नाग-वशीकरण आदि का ज्ञान यहा दिया जाता था । विषयो के चयन मे वर्ण-व्यवस्था बाधक न थी ।

अल्तेकर ने पुन. अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "धनाड्य छात्र शुल्क के साथ अपने भोजन और आवास का व्यय चुका देते थे । कुछ धनाड्य विद्यार्थी अपने निवास के लिए स्वतन्त्र भवनो की व्यवस्था कर लेते थे । काशी के राजकुमार जुन्ह ने ऐसा ही किया था । निर्धन विद्यार्थी जो शुल्क देने मे असमर्थ होते थे, वे दिन मे आचार्य की गृहस्थी का कार्य कर देते थे । उनके पाठ के लिए रात्रि मे विशेष व्यवस्था की जाती थी ।

5वी शताब्दी ई० पू० के प्रथम चरण मे फाहियान की यहां यात्रा के समय इस शिक्षा केन्द्र का अस्तित्व न रह गया था । ईसा की 5वी शताब्दी मे हूणों के आक्रमण तथा छोटे यू-चियो के विध्वस से यह केन्द्र नष्ट भ्रष्ट हो गया । 7वी शताब्दी मे युवाङ च्वाङ की यात्रा के समय इसका वैभव लुप्त हो चुका था । भारतीय शिक्षा के विकास मे निजी प्रयासो के रूप में इस शिक्षा-केन्द्र का योगदान अद्वितीय था ।

काशी

आल्तेकर ने अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है कि "उपनिषद् काल मे काशी आर्य-सभ्यता और धर्म के केन्द्र के रूप मे विख्यात हो चुकी थी । काशी की तुलना मे तक्षशिला का महत्व अधिक था । काशी के अनेक आचार्य तक्षशिला के स्नातक थे । परन्तु कालान्तर मे काशी का महत्व देश-देशान्तर मे फैल चुका था । कोसिय तथा तित्तिर जातको से ज्ञात होता है कि काशी के यशस्वी आचार्य तीनो वेदो और 18 शिल्पो का अध्ययन करते थे । जातक से पता चलता है कि 16 वर्ष की आयु वाले विद्यार्थी काशी मे अध्ययन के लिए उमड़ पड़ते थे ।"

बुद्ध ने सर्वप्रथम अपने धर्म का प्रचार यहीं से प्रारम्भ किया । अशोक के सरक्षण मे काशी के उपान्त मे सारनाथ का बौद्ध विहार शिक्षा का बडा प्रसिद्ध केन्द्र बन गया । इसकी प्रगति का क्रम ईसा की सातवी शताब्दी तक जारी

रहा। यहा की अनेक मजिल इमारते वैभव को बढा रही थी। 1500 भिक्षु छात्र इसमे शिक्षा प्राप्त करते थे।

केवल भविष्य पुराण मे भविष्यवाणी के रूप मे कहा गया है कि काशी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र रही होगी। शकराचार्य ने यहां के पडितो से अपने सिद्धान्तो पर यहा आकर मोहर लगवाई। ईसा की 11 वी शताब्दी मे काशी और कश्मीर शिक्षा के दो प्रमुख केन्द्र विख्यात थे। 17वी शताब्दी मे विद्या के केन्द्र के रूप मे काशी का वर्णन करते हुए बर्नियर लिखता है कि "काशी एक प्रकार का विश्वविद्यालय है किन्तु हमारे विश्वविद्यालयों की भाति यहा न तो कोई कालेज है न नियमित कक्षाए। यूनान की प्राचीन पाठशालाओं से यह मिलता-जुलता है, अध्यापक सारे नगर मे फैले है तथा घरो पर ही अध्यापन होता है। कुछ अध्यापकों के चार कुछ के छह छात्र है। सबसे प्रसिद्ध अध्यापक के 12 या 15 छात्र होगे। किन्तु इससे अधिक कदापि नही। काशी के पंडितों ने धर्मशास्त्र, व्याकरण, काव्य, न्याय और दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। निजी प्रयासो के रूप मे काशी का विवरण प्रस्तुत करना सर्वथा उचित होगा।"

बौद्ध काल में निजी शिक्षा सस्थाओं का प्रबन्ध

मुकर्जी के अनुसार—"उचित रूप से विचार किए जाने पर बौद्ध शिक्षा, प्राचीन हिन्दू या ब्राह्मणीय शिक्षा-प्रणाली का केवल एक रूप है।"

वास्तविकता यह है कि बौद्ध-शिक्षा स्वय मे भिन्न होते हुए भी यह वैदिक शिक्षा-प्रणाली पर ही आधारित है। इस काल मे शिक्षा का सस्थागत रूप मघो मे दिखाई पड़ता है।

संस्थागत शिक्षा के स्तर

शिक्षा दो स्तरों मे विभाजित की गई :

1. प्राथमिक स्तर : जातक कथाओ से ज्ञात होता है कि बौद्ध युग में प्राथमिक शिक्षा सांसारिक शिक्षा के रूप मे दी जाती थी। फाहियान ने भी सामान्य शिक्षा की चर्चा की है।

2. उच्च स्तर : आल्तेकर के शब्दो मे कहा जा सकता है कि मठो ने अपनी उच्च शिक्षा की श्रेष्ठता से जहां अध्ययन के लिए कोरिया, चीन, तिब्बत और जावा जैसे सुदूर देशो के छात्र आकर्षित किए, वही भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ऊचा उठा दिया।

चीनी यात्रियो ह्वेनसाग और आइसिंग के लेखो मे प्राथमिक शिक्षा 6 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती थी। छात्रो को छः माह तक "सिद्धिरस्तु" नामक बाल पोथी पढनी पडती थी। इस पोथी मे 12 अध्याय, वर्णमाला के 49 अक्षर और 300 से अधिक श्लोक थे। इनको याद कर लेने के पश्चात निम्नाकित पाच विद्याओ का अध्ययन करना पडता था—

1. व्याकरण
2. शिल्प स्थान-विद्या
3. चिकित्सा-विद्या
4. हेतु-विद्या
5. अध्यात्म-विद्या

इन विद्याओ की शिक्षा को न केवल बौद्ध भिक्षु, वरन गृहस्थ बौद्ध धर्मावलम्बी भी प्राप्त करने के अधिकारी थे। शिक्षा का माध्यम पाली भाषा थी, जो उस युग मे जन साधारण द्वारा बोली जाती थी। संस्कृत शास्त्रीय भाषा थी जो कि ब्राहमणों द्वारा संचालित शिक्षा सस्थाओ मे प्रचलित थी।

उच्च शिक्षा के केन्द्र भी बौद्ध मठ थे, जिनमे विविध विषयो की सम्यक और पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। अध्ययन के विविध विषय प्रमुख स्नातको के रूप मे बौद्ध-धर्म, हिन्दू धर्म, जैन धर्म, दर्शन शास्त्र, आध्यात्म-विद्या, तर्क-शास्त्र, सस्कृत, पाली, नक्षत्र-विद्या, फल-गणन विद्या, खगोल विज्ञान, औषधि विज्ञान, न्याय-शास्त्र, राज्य व्यवस्था और प्रशासन आदि थे।

जीवक ने सात वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। इसी प्रकार चरक, धन्वन्तरि आदि महान आयुर्वेदाचार्य भी इसी युग की देन है, जो निजी प्रयासो के रूप मे शैक्षिक विकास हेतु अमूल्य योगदान देते रहे।

निजी शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र

बौद्धकाल मे शिक्षा के निजी केन्द्र विभिन्न प्रकार के सगठनो के रूप मे मिलते है। इन सगठनो के तत्कालीन नामकरण इस प्रकार है :—

1 **बौद्धमठ और विहार**—जो शिक्षा के विशाल केन्द्र थे, वह शैक्षिक विकास के सोपानो को पार करते हुए विश्वविद्यालय के रूप मे परिवर्तित हो गए। वे थे—बलभी (गुजरात), विक्रमशिला (मगध), जगद्दला (बगाल), ओदन्तपुरी (मगध), मिथिला, नदिया (बगाल), नालन्दा (बिहार), अमरावती (आन्ध्र), सारनाथ (वाराणसी), जयेन्द्र विहार (कश्मीर की राजधानी के पास), चिनपति (पजाब) जालंधर के विहार, मतिपुर विहार (उ० प्र० बिजनौर), हिरण्य विहार, भद्र विहार (कन्नौज) आदि।

2. **विद्यापीठ**—ये वे सस्थाए है जो विश्वविद्यालय से प्रथम स्तर की रही है तथा उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप मे कार्यरत रहीं। यथा—सोलोत्गी देवालय विद्यापीठ, एन्नायिरम् देवालय विद्यापीठ, तिरुमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ, तिरूवोरियूर देवालय विद्यापीठ, मलकापुरम् विद्यापीठ आदि।

3 **अग्रहार गांव**—यह ऐसी शिक्षा सस्थाएं रही है जो गाव मे कार्यरत थी। गाव मे बौद्ध सघ के लोग रहते थे और विचार-चर्चा में शिक्षा एव दीक्षा दिया करते थे। थोडे दिनो के उपरान्त यह गाव शिक्षा के केन्द्र रूप मे बदल दिए गए।

4. **टोल**—चतुर्थ प्रकार की शिक्षा सस्थाएं टोल के नाम से जानी जाती हैं। ये टोल आधुनिक काल मे भी बगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश मे अधिक सख्या मे पाए जाते है। कार्नवालिस ने टोलो को काफी दान देना आरंभ किया। पहले ये टोल भी अग्रहार-गाव के रूप मे थे।

प्रमुख शिक्षा केन्द्रों का निजी प्रबन्ध

सुविख्यात केन्द्रो का सम्पूर्ण प्रबन्ध जनता, राजाओं तथा धनिकों के द्वारा किया जाता था। शासन की ओर से कोई भी सहायता नही प्राप्त होती थी। ऐसे प्रमुख केन्द्र निम्नलिखित थे .

1. **बलभी विश्वविद्यालय**—आल्तेकर ने लिखा है कि "यह विश्वविद्यालय काठियावाड के पूर्वी किनारे पर बला नामक स्थान के पास मे स्थित था। 640 ई० मे यहा लगभग 100 विहार थे, जिनमे 6000 भिक्षु पढ़ते थे। 7वी शताब्दी के मध्य मे स्थिरमति तथा गुणमति नामक प्रसिद्ध विद्वान इसी विश्वविद्यालय मे थे। बलभी के स्नातको को तत्कालीन शासन मे ऊचे पदो पर नियुक्त किया जाता था।"

यहा बौद्ध धर्म की शिक्षा के साथ-साथ व्याकरण, व्यवहार-शास्त्र, मुनीमी और साहित्य आदि लौकिक विषयों का ज्ञान दिया जाता था। यहा पर निवास करने वाले 100 करोडपति नागरिको से बलभी को पर्याप्त आर्थिक सहायता मिला करती थी। इस प्रकार निजी सगठनो द्वारा प्रबन्ध व्यवस्था चला करती थी। अरबो के आक्रमण से विश्वविद्यालय का काम कुछ समय के लिए रुक गया।

2. **विक्रमशिला विश्वविद्यालय**—केई ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "इसकी स्थापना पाल वश के सम्राट धर्मपाल ने 8वी शताब्दी मे की थी।" केई के अनुसार इस वंश के राजाओ ने 12वी शताब्दी तक सस्था को हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया। इस समय यहा 108 शिक्षक और 3000 विद्यार्थी थे। इससे सबधित 6 विद्यालय थे, जिनमे विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रशासन अध्यक्ष या कुलपति द्वारा किया जाता था। इसमे व्याकरण, तर्क, दर्शन, तन्त्र विद्या और धर्म काण्ड आदि पढ़ाये जाते थे। दीपकर श्रीज्ञान श्रेष्ठ पण्डितो मे थे। यहा विशाल पुस्तकालय था।

केई ने विभिन्न द्वारो पर कार्यरत पडितो के विषय मे उल्लेख किया है, "विद्यापीठ का प्रबन्ध छ द्वार पडितों मे बटा था। जिसके प्रधान स्वय महास्थावर ही होते थे। द्वार पंडितों का कार्य विहार मे प्रवेशार्थी छात्रो की मौखिक परीक्षा लेना था। द्वार पडित निम्नवत् नियुक्त थे .

पूर्वी द्वार—काशी के वागीश्वर कीर्ति,

पश्चिमी द्वार—आचार्य रत्नाकर शान्ति

उत्तरी द्वार—नरोप

दक्षिणी द्वार—प्रज्ञाकरमति के सरक्षण मे थे। इसके अतिरिक्त प्रथम मध्य द्वार—कश्मीर के रत्नव्रज और द्वितीय मध्य द्वार गौड के ज्ञान श्रीमित्र के आश्रय मे था।"

आल्तेकर ने पुन उल्लेख किया है "1203 ई० मे बख्तियार खिलजी ने इसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बहुत से भिक्षु तलवार के घाट उतार दिए गए। प्राचीन गौरव समाप्त हो गया।"

3. **नालन्दा विश्वविद्यालय**—दास का कथन है कि उच्च शिक्षा केन्द्रों मे सर्वप्रथम स्थान नालन्दा विश्वविद्यालय का था। यह आधुनिक ग्राम बरगा मे राजगीर (बिहार मे) से लगभग आठ मील दूर था। ह्यूनसाग के भारत आगमन के समय इसमे लगभग 5000 भिक्षु थे, जिनमें से 1000 शिक्षको के ऊपर 4000 विद्यार्थियो की शिक्षा का भार था। ह्यूनसाग के अनुसार यहा 1510 शिक्षक और 10000 छात्र थे।

द्वार पडित विश्वविद्यालय के द्वार पर बैठकर छात्रो की कड़ी मौखिक परीक्षा लेता था। नालदा मे भारत के ही नही वरन् चीन, कोरिया, मगोलिया, नेपाल, तिब्बत आदि देशो से भी विद्वान शिक्षा ग्रहण करने आते थे। नालंदा मे शिक्षा नि शुल्क थी। इसके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र आदि भी शिक्षा केन्द्र की ओर से ही विद्यार्थियों को उपलब्ध कराए जाते थे। महायान तथा बौद्ध धर्म, जैन धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शनशास्त्र, औषधि विज्ञान, वेदो-पुराणों आदि की शिक्षा दी जाती थी। यहा के विशाल पुस्तकालय मे तीन विशाल भवनो में पुस्तके रखी जाती थी, इन भवनो को क्रमश: "रत्नसागर", "रत्नोदधि" तथा "रत्नरजक" कहते थे।

यहा का शासन प्रबन्ध लोकतन्त्रीय था। सम्पूर्ण प्रबध कुलपति या अध्यक्ष द्वारा होता था। पूर्ण प्रबन्ध निजी प्रयासो पर ही आधारित था। पूर्ण वर्म्मन, यशोवर्म्मनदेव और देवपाल आदि शासक इस सस्था के उल्लेखनीय सरक्षकों में थे। निकटवर्ती गावो से खाद्य पदार्थो की पूर्ति होती थी। 200 ग्रामों के कर के माध्यम से होने वाली आय आर्थिक योगदान के लिए थी। इस प्रकार निजी संगठनों के द्वारा ही इस शिक्षा केन्द्र की पूर्ण व्यवस्था होती थी।

आल्तेकर ने लिखा है—"12वी शताब्दी के अन्त मे मुस्लिम आक्रमणकारियों मे बख्तियार खिलजी एक ऐसा निर्मम शासक था, जिसने भवन जला दिए तथा भिक्षुओ को तलवार के घाट उतार दिया। अमूल्य पुस्तकालय भी फूंक दिया गया।"

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि इस काल मे शिक्षा का स्वरूप निजी प्रयासो के सहयोग से सस्थागत हो गया था। इसमे परिवार का स्थान सघ या विहार ने ले लिया था। चिकित्सा का कार्य प्रसिद्ध वैद्य जीवक के द्वारा किया जाता था। कुछ अवाछनीय तत्वो के प्रवेश के कारण विहार सद्गुण और सद्ज्ञान का केन्द्र न रहे। फलत. ब्रह्मणीय शिक्षा पद्धति का पुनरोत्थान हुआ।

मिश्र ने लिखा है, "बौद्धो के बाद जिस नये युग का आविर्भाव हुआ, उसमे मन्दिर-महाविद्यालय, मठ, अग्रहरि और टोल अभिनव ब्राह्मण धर्म के शिक्षा केन्द्र बने। दसवी शताब्दी के बाद जो प्रसिद्ध मन्दिर महाविद्यालय बने, वे इन्नाइरम् तिरूमुक्कुदल, सालोतगी, तिरुवोराईयुर, मलकापुरम् और अन्य अनेक स्थानो पर स्थित थे।"

मध्ययुगीन वैयक्तिक शिक्षा-संस्थाएं और शिक्षा मे निजी प्रयास

ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत में मुसलमानो के आक्रमण शुरू हो गए थे। महमूद गजनवी ने भारत से अपार धनराशि लूटी और गजनी मे मदरसे तथा पुस्तकालय खोले। इसके उपरान्त मुसलमान स्थायी रूप से भारत मे शासन करने लगे तथा उन्होने अपने प्रयास से नवीन शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया। तत्कालीन भारत मे प्राचीन ब्राह्मणीय तथा बौद्ध शिक्षा का प्रचलन था। परन्तु समय-समय पर बख्तियार, अलाउद्दीन, फिरोज तथा औरंगजेब आदि शासको ने प्राचीन भारतीय सस्कृति और शिक्षा को विध्वंस करने के प्रयास किये। बख्तियार ने बौद्ध विश्वविद्यालयो को नष्ट करके उनके स्थान पर इस्लामी शिक्षा का प्रचार किया।

शाही मुस्लिम शासन की जर्जरता एव उदारता के साथ तथा धनिको के व्यक्तिगत प्रयत्नो से भारतीय शिक्षा का रूप बदलने लगा था। परिणामस्वरूप नवीन शिक्षा

प्रणाली का जन्म हुआ । बहुत से हिन्दू अरबी तथा फारसी शिक्षा के प्रकाण्ड पण्डित होकर मुसलमान शासको के दरबारों मे उच्च पदो पर आसीन होने लगे । जबकि मुसलमानी शिक्षा प्रधानत. दर्शन, चिकित्सा तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र मे हिन्दू शिक्षा से प्रभावित हुई ।

जफर ने उल्लेख किया है कि "मुसलमान शासको के निजी प्रयासो के फलस्वरूप दो प्रकार की शिक्षा सस्थाओ का सगठन हुआ ।"

1. प्रारम्भिक शिक्षा हेतु मकतब
2. उच्च शिक्षा हेतु : मदरसे

केई ने उल्लेख किया है कि "मकतब प्राथमिक और मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे । ये मकतब और मदरसे साधारणत. किसी मस्जिद से सम्बद्ध होते थे ।" इनकी स्थापना मुस्लिम शासको और धनी विद्या-प्रेमियो दोनो के द्वारा की गई थी । मकतब या मदरसे राजाओं के द्वारा संचालित और उनके राज-कोष से पोषित होते थे । इन सस्थाओ से मुसलमान छात्रो को अधिक लाभ होता था और स्वाधीनता तथा धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू छात्रो को समुचित लाभ नही मिल पाता था ।

मकतब और मदरसे वहीं खोले जाते थे जहां किसी अमीर उमराव का निवास होता था । और मुसलमानो की संख्या अधिक होती थी ।

1. **मकातिब**—प्राथमिक शिक्षा मकतबों मे दी जाती थी । "मकतब" शब्द अरबी भाषा के "कुतुब" शब्द से बना है, जिसका अर्थ है "उसने लिखा" । मकतब वह स्थान था जहा लिखना सिखाया जाता था । मकतबो की सख्या कम होने के कारण जन-साधारण के कम बालको को शिक्षा मिल पाती थी । जब मुस्लिम बालक 4 वर्ष 4 माह 4 दिन का होता था तब उस की शिक्षा "बिस्मिल्लाह" रस्म से प्रारम्भ की जाती थी । प्रारम्भिक शिक्षा मे साधारण बालको को लिखने-पढने के साथ गणित का ज्ञान कराया जाता था । नैतिक शिक्षा हेतु "गुलिस्ता" और "बोस्ता" पढाए जाते थे । पैगम्बरो की कथाएं, मुस्लिम फकीरो की कहानियो तथा फारसी कवियो की कतिपय कविताओ द्वारा अच्छे संस्कार डाले जाते थे । मकतबो मे मौखिक शिक्षा दी जाती थी । बालको को "कलमा" रटने के साथ-साथ कुरान की आयते भी कठस्थ करनी पडती थीं । इसके उपरान्त छात्रो को कागज तथा तख्ती पर लिखने का अभ्यास कराया जाता था ।

2 **मदारिस**—मकतब की शिक्षा समाप्त करने के उपरांत छात्र मदरसे मे प्रविष्ट होता था । "मदरसा" शब्द की व्युत्पत्ति अरबी भाषा के "दरस" शब्द से हुई । जिसका अर्थ है—"भाषण देना ।" इस प्रकार मदरसा वह स्थान था, जहा पर लम्बी-लम्बी तकरीरें या भाषण दिये जाते थे । उच्च शिक्षा का अध्ययन काल 10 से 12 वर्ष का था । पाठ्यक्रम दो भागों मे विभक्त था ।

(क) **लौकिक शिक्षा**—लौकिक अथवा सासारिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विद्यार्थियो को अरबी तथा फारसी भाषाओ के व्याकरण के साथ-साथ भाषाओ का साहित्य, गणित, इतिहास, भूगोल, दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, कानून, यूनानी चिकित्सा तथा कृषि आदि विषयो का ज्ञान कराया जाता था ।

(ख) **धार्मिक शिक्षा**—धार्मिक शिक्षा मे छात्रो को कुरान, मुहम्मद साहब की परम्परा, इस्लामी कानून, इस्लामी इतिहास का अध्ययन करना पडता था ।

मुस्लिम शिक्षा के निजी केन्द्रो पर मुल्लाओ और मौलवियो का प्रभाव अधिक रहता था । धनी लोग अध्यापको-मौलवियो को अपने घर पर रखकर बच्चो तथा स्त्रियो को शिक्षा दिलवाते थे । इस काल मे स्त्रियों की सामूहिक शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी । इस काल मे सैनिक शिक्षा दी जाती थी । मुसलमान शासको की राजधानी, किसी अमीर अथवा सूबेदार का निवास स्थान अथवा किसी धार्मिक महत्व रखने वाले दरगाह या खानकाह इत्यादि पर ही कोई भी नगर शिक्षा का केन्द्र बन जाया करता था ।

प्रसिद्ध विद्वान केई ने उल्लेख किया है कि "इस प्रकार मध्यकाल मे आगरा, दिल्ली, जौनपुर, लखनऊ, मालवा, लाहौर, अजमेर, बीदर, फिरोजपुर, गोलकुण्डा, हैदराबाद, गुजरात, बगाल, जालधर, मुल्तान, बीजापुर इत्यादि प्रमुख शिक्षा केन्द्र बने ।"

शिक्षा मर्मज्ञ मिश्र ने लिखा है कि "थोडा बहुत दान और राजा की इच्छा को पूर्ण करने की कुछ योजनाओ के

अलावा शिक्षा की वित्त व्यवस्था के लिए कोई राजकीय पद्धति नहीं विकसित की गयी। यह अकबर के शासन काल मे 14 करोड रुपए था, जहागीर के समय मे 17.5 करोड़ रुपए था, शाहजहां के समय 22 करोड़ और ओरंगजेब के समय 38.6 करोड रुपए हो गया और जो कि बाद मे घटकर 30 करोड़ रुपए ही रह गया।"

इस प्रकार मुस्लिम शासको और धनिको ने मुस्लिम और हिन्दुओ की शिक्षा के लिए जो कार्य किए वह विस्मृत नही किए जा सकते।

सन्दर्भ

आर० के० मुकर्जी, (1974 सस्करण), **ऐन्शियन्ट इण्डियन एजूकेशन**, दिल्ली . मोतीलाल बनारसीदास, पृ० 218, 219, 220, 222.

आत्मानन्द मिश्र, (1973 संस्करण), **भारतीय शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था**, अग्निहोत्री, प्रेम बिहारी लाल (अनु०), भोपाल . मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, पृ० 123, 157.

ए० एस० आल्तेकर, (1979-80) (सशोधित संस्करण), **प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति**, वाराणसी · मनोहर प्रकाशन, पृ० 82, 83, 84, 85, 86, 97, 99.

एफ० ई० केई०, (1978 सस्करण), **हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया**, कलकत्ता . ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ० 108, 113, 146, 147

एस० एम० जफर. (1972 सस्करण), **एजूकेशन इन मुस्लिम इन्डिया**, दिल्ली : इदराह्-आई, एडबियाट आई, पृ० 16.

संतोष कुमार दास, (1931 सस्करण), **द एजूकेशनल सिस्टम आफ द एन्शियन्ट हिन्दूज**, कलकत्ता : मित्रा प्रेस, पृ० 366

□□

छात्र नेताओं एवं सामान्य छात्रों का व्यक्तित्व*

□ डॉ० सुभाष चन्द्र अग्रवाल

सामान्य रूप से नेतृत्व का प्रश्न राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से संबंध रखता है, परन्तु उनके प्रतिदिन के व्यवहार के आधार पर वर्तमान अध्ययन में छात्र नेताओं और सामान्य विद्यार्थियों के बीच इसी प्रकार के एक व्यवहार-व्यक्तित्व की विशेषताओं में अन्तर को जानने का प्रयास किया गया है।

समूह चाहे किसी भी प्रकार का हो उसमे सदैव एक ऐसा व्यक्ति पाया जाता है जोकि दूसरों से भिन्न दिखायी पड़ता है, जो समूह का नेतृत्व करता है और जिसकी इच्छा के अनुरूप समूह के अन्य सदस्य किन्ही निश्चित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। समूह के इस सदस्य को हम नेता के रूप मे जानते हैं। प्रत्यक्ष रूप से देखने पर यह कहा जा सकता है कि नेता समूह का ऐसा सदस्य होता है जो किसी भी कार्य की अगुवाई करता है और जो इस कार्य को पूरा करने की जिम्मेदारी लेता है। नेतृत्व जन्मजात ही हो, ऐसा नही है। विगत वर्षों मे किये गये अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नेतृत्व समूह की संरचना, परिस्थितियों तथा समूह कार्यो एवं लक्षणो पर निर्भर करता है।

सामान्य रूप से नेतृत्व का प्रश्न राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से सम्बन्ध रखता है, परन्तु विशेष रूप से छात्रों के सम्बन्ध मे इस प्रश्न को उठाने के अनेक कारण है। विद्यार्थी राष्ट्र की नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि होते हैं। आगे चलकर उन्हे ही देश को नेतृत्व प्रदान करना है। वे प्रबुद्ध, जागरूक एव उत्साही होते हैं। शिक्षा ग्रहण करते समय वे राष्ट्र की प्रगति की लगभग समस्त दिशाओ से परिचय प्राप्त करते हैं। व्यक्तिगत भिन्नताओ के कारण सभी छात्र एक जैसे प्रतीत नही होते। उनके प्रतिदिन के

* वर्तमान अध्ययन हेतु आकड़ों के एकत्रीकरण के लिए लेखक अपने विभाग की छात्रा कु० रेनु अग्रवाल का आभारी है।

व्यवहार के आधार पर हम छात्र नेताओं एव सामान्य विद्यार्थियो के बीच एक अन्तर पाते हैं। उनके व्यवहार के इस अन्तर को मनोवैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा मापा जा सकता है।

वर्तमान अध्ययन मे छात्र नेताओ और सामान्य विद्यार्थियो के बीच इसी प्रकार के एक व्यवहार-व्यक्तित्व की विशेषताओ मे अन्तर को जानने का प्रयास किया गया है।

उद्देश्य

वर्तमान अध्ययन का उद्देश्य छात्र नेताओं एव सामान्य विद्यार्थियो के बीच व्यक्तित्व की विशेषताओं की तुलना करना है।

न्यादर्श एवं विधि

वर्तमान अध्ययन इलाहाबाद विश्वविद्यालय एव उसके सहयोगी 4 महाविद्यालयो मे अध्ययन कर रहे 50 छात्र नेताओ एव 50 सामान्य विद्यार्थियो पर किया गया है। छात्र नेताओ के चयन के लिए किसी औपचारिक उपकरण का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके लिए स्नातक कक्षाओ मे अध्ययन कर रहे 100 छात्र-छात्राओ पर एक सर्वेक्षण किया गया। सर्वेक्षण के दौरान उनसे यह पूछा गया कि वे ऐसे 10 छात्र-छात्राओ के नाम बताएं जिन्हें वे अपना नेता समझते है। तत्पश्चात् एक बारम्बारता सारिणी बनाई गई तथा 10 या अधिक की आवृत्ति प्राप्त करने वाले 50 छात्र नेताओ का चुनाव किया गया। इन छात्र नेताओं का चुनाव कर लेने के पश्चात् स्नातक कक्षाओ मे ही अध्ययन कर रहे 50 अन्य छात्र-छात्राओ को आकस्मिक न्यादर्शन विधि द्वारा चुना गया। इस प्रकार सांख्यिकी दृष्टि से वर्तमान अध्ययन मे 100 छात्र-छात्राओ का न्यादर्श लिया गया है।

उपकरण

छात्र नेताओ एवं सामान्य छात्रों के व्यक्तित्व की विशेषताओं की तुलना हेतु आकड़ों का सग्रह डा० एस० डी० कपूर (1982) द्वारा हिन्दी मे अनुकूलित व्यक्तित्व अनुसूची (16 पी० एफ०) का प्रयोग किया गया है। इस सूची द्वारा व्यक्तित्व के 16 कारकों अथवा लक्षणो का मापन किया जाता है। प्रत्येक कारक पर प्राप्त प्राप्तांको के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुणो को जाना जाता है।

सांख्यिकी विश्लेषण

छात्र नेताओ एव सामान्य विद्यार्थियो के लिए व्यक्तित्व के प्रत्येक कारक पर अलग-अलग मध्यमान एव प्रामाणिक विचलन ज्ञात किये गये। तब मानक त्रुटि एवं अन्तर की प्रमाणिक त्रुटि की गणना की गई और 't' परीक्षण का प्रयोग किया गया।

प्रदत्तो का प्रस्तुतीकरण एवं व्याख्या

साख्यिकी विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षो को सारणी-1 मे प्रस्तुत किया गया है। इन निष्कर्षों की व्याख्या यहा की गई है।

सारणी-1 से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के 16 कारकों मे से सिर्फ 2 कारको पर छात्र नेताओं एव सामान्य विद्यार्थियो के मध्य सार्थक अन्तर है। कारक 'F' के लिए 't' का मान 1.96 आया जो ·05 स्तर पर सार्थक है। अत यह कहा जा सकता है कि छात्र नेता अपने विचारो का पक्का होता है, दूसरों के बारे मे वह चिन्तित नही होता और उस पर विश्वास नही किया जा सकता। सामान्य तौर पर छात्र नेताओं के लिए अन्य नेताओ की भाति ये बाते भी सही उतरती हैं। यद्यपि इसकी पुष्टि के सम्बन्ध मे कोई पूर्व शोध निष्कर्ष उपलब्ध नही है। व्यक्तित्व के अन्य 14 कारको पर सामान्य विद्यार्थियो एव छात्र नेताओं के मध्य कोई अन्तर नही पाया गया।

निष्कर्ष

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1. छात्र नेताओं एव सामान्य विद्यार्थियो के बीच व्यक्तित्व के F तथा L कारक पर सार्थक अन्तर पाया जाता है।
2. व्यक्तित्व के अन्य 14 कारको (A, B, C, E,

G, H, I, M, N, O, Q_1, Q_2, Q_3, and Q_4) पर छात्र नेताओं एवं सामान्य विद्यार्थियों के बीच कोई अन्तर नही है।

सुझाव

वर्तमान अध्ययन के आधार पर निम्न सुझाव दिये जा सकते है—

1. इस अध्ययन मे महिला छात्र नेताओं एवं पुरुष छात्र नेताओ तथा महिला सामान्य विद्यार्थियो एव पुरुष सामान्य विद्यार्थियों को अलग-अलग नही लिया गया है। भावी अध्ययनो मे लिंग भेद पर ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि सामान्यत पुरुषो एव महिलाओं के व्यक्तित्व मे अन्तर पाया जाता है।
2. इस अध्ययन में सामान्य विद्यार्थियो का न्यादर्श उनकी जनसख्या के अनुपात मे छात्र नेताओ की तुलना मे काफी कम है। यह सम्भव है कि इससे इस अध्ययन के परिणाम प्रभावित हुए हो। अत: परिणामों की पुष्टि के लिए छात्र नेताओ एव सामान्य विद्यार्थियो का न्यादर्श उनकी जनसख्या के अनुपात मे लेकर एक अन्य अध्ययन किया जाना चाहिए।
3. इस अध्ययन मे छात्र नेताओ के चयन के लिए किसी भी मनोवैज्ञानिक उपकरण का प्रयोग नही किया गया है। अत यह जिज्ञासा बनी ही रहेगी कि क्या छात्र नेताओ का चयन मनोवैज्ञानिक उपकरण को प्रयुक्त किये जाने पर भी ये ही परिणाम प्राप्त होते है या उनमे कोई अन्तर आता है।

सारणी-1

छात्र नेताओं एवं सामान्य विद्यार्थियों के व्यक्तित्व की विशेषताओं की तुलना

क्रम स०	कारक	छात्र नेता N=50		सामान्य विद्यार्थी N=50		अन्तर की प्रामाणिक पुष्टि	't' मान	सार्थकता स्तर
		मध्यमान	प्र० विचलन	मध्यमान	प्र० विचलन			
1	A	5.35	1.63	5 28	1.76	34	.21	सार्थक नही
2.	B	6.44	2 01	6.84	2.27	.42	.95	,,
3.	C	8 31	2.13	8 06	1 92	.39	.64	,,
4	E	6.98	1 24	6 98	1 42	.31	.00	,,
5.	F	7.57	2.29	6.68	2.21	.45	1 96	.05
6.	G	6.68	1.69	6.86	1.82	.35	51	सार्थक नहीं
7.	H	9.25	2 17	8.82	2.02	42	1 02	,,
8.	I	5.74	1.80	6 10	1.13	.30	1 20	,,
9.	L	6.55	1 62	5 75	1.70	.33	2.39	.05
10.	M	7 24	1.66	7.02	1.46	.31	.71	सार्थक नहीं
11.	N	5.84	1.59	6.06	1 85	.35	.63	,,
12.	O	6.84	2 04	6 82	2.05	.41	05	,,
13.	Q_1	6.12	1 19	6.04	0.79	20	40	,,
14.	Q_2	6.32	1 48	6.16	1 61	.31	.52	,,
15.	Q_3	6.28	2.81	6.96	1.30	44	1.55	,,
16.	Q_4	7 00	2.09	7.02	2.35	.44	0 05	,,

संदर्भ

कमला चोपड़ा, ए कम्परेटिव स्टडी आफ दि पर्सनल्टी ट्रेट्स आफ इफेक्टिव एण्ड लैस इफैक्टिव सैकेन्डरी स्कूल टीचर्स, नेशनल जर्नल आफ एजुकेशन 6, 1, 1984, 34-39.

एफ० ई० फिडलर, ए थ्योरी आफ लीडरशिप इफेक्टिवनेस, न्यूयार्क मैक-ग्राहिल, 1967.

एस० काजमी, ए स्टडी आफ लीडरशिप इन एडोलसेन्ट गर्ल्स (14⁺ टू 16⁺), पी० एच० डी० इन एजुकेशन, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1968.

दुर्गानन्द सिन्हा, सामान्य मनोविज्ञान, वाराणसी, रूपा साइकलोजिकल सेन्टर, 1980.

□□

किशोरों में अधिगमार्थी मूल्य

□ श्रीमती उषा नैय्यर
□ सुरेन्द्र मोहन नैय्यर

आज हमारे समाज में युवा पीढी का जो निराशाजनक चित्र देखने को मिलता है उसके सन्दर्भ में किशोरों के अधिगमार्थी मूल्यो को समझना महत्वपूर्ण है। शिक्षा का प्रयोग कुछ भाषाएं तथा वैज्ञानिक विषय पढा देना मात्र नहीं होता। विद्यार्थी द्वारा कुछ विषयों में अच्छे अंक पाने से प्रयोजन सिद्ध नही होता। उसमें अपेक्षित मूल्यों का विकास जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है।

हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि शिक्षा के सभी स्तरो पर विद्यार्थियो मे उचित मूल्यो के विकास की ओर ध्यान देना आवश्यक है। हमे यह जानकर खुशी है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद इस उत्तरदायित्व की ओर अधिक ध्यान गया है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) ने इसके दार्शनिक तथा व्यावहारिक दोनों ही पहलुओ पर विचार किया था और सुधार के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे थे। किन्तु कुछ ही सस्थाओं को छोड़ बाकी मे उन पर अमल नही किया गया। अत. यह आवश्यक और अपरिहार्य हो गया है कि शिक्षा को मूल्य उन्मुख बनाने के लिए सक्रिय उपाय किए जाए।

मनुष्य के विचारो एव विश्वासो का मार्गदर्शन उसके मूल्यों द्वारा होता है। किशोरावस्था से पहले बालक को जो सस्कार मिलते हैं उनके आधार पर उसके विश्वास एवं आदर्श बनते जाते हैं और इन्हीं पर आधारित होते हैं उनके मूल्य। विद्यार्थी जीवन मे मूलत: अधिगम सम्बन्धी मूल्य महत्वपूर्ण है। परीक्षाओं मे सफलता प्राप्त करना एक बात है और अधिगमार्थी के रूप मे सचेत होना दूसरी बात है। आज हमारे समाज मे युवा पीढ़ी का जो निराशाजनक चित्र देखने को मिलता है उसके सन्दर्भ मे किशोरो के अधिगमार्थी मूल्यो को समझना महत्वपूर्ण है। शिक्षा का प्रयोग कुछ भाषाए तथा सामाजिक एव वैज्ञानिक विषय पढ़ा

देना मात्र नही होना। विद्यार्थी द्वारा कुछ विषयो मे अच्छे अक पाने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसमे अपेक्षित मूल्यो का विकास जीवन के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। एक बुद्धिमान विद्यार्थी भी अधिगमार्थी के रूप में असफल हो जाएगा यदि उसने समय की पाबदी एवं अनुशासित व्यवहार करने की आदत नही बनाई। इस दृष्टि से अधिगमार्थी मूल्यो का विद्यार्थी जीवन मे विशेष महत्व है।

1. शिक्षा आयोग (1964-66) की रिपोर्ट, शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली। पृष्ठ 23

अधिगमार्थी मूल्य

अधिगमार्थी मूल्यो से अभिप्राय ऐसे मूल्यों से है जो उच्च माध्यमिक कक्षा के छात्रों से अपेक्षित हैं तथा जिनको वे सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक एव कलाधात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण समझते है और जो उनके चिन्तन एव व्यवहारों को निदेशित करते है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. विद्यार्थियो के अधिगमार्थी मूल्यो का मापन करना।
2. विभिन्न विद्यालयों के छात्रो एवं छात्राओ के अधिगमार्थी मूल्यों की तुलना करना।

विधि

वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है।

न्यादर्श

सप्रयोजन विधि का प्रयोग किया गया। चार उच्च माध्यमिक विद्यालय 1. राजकीय छात्रा विद्यालय 2. मिशनरी छात्रा विद्यालय 3 अनुदानित छात्र विद्यालय 4 मिशनरी छात्र विद्यालय—न्यादर्श प्रत्येक विद्यालय से केवल उच्च माध्यमिक कक्षा के छात्रों का चयन किया गया। प्रत्येक विद्यालय के तीसरे विद्यार्थी न्यादर्श मे लिखे गये। कुल न्यादर्श मे 120 विद्यार्थी लिये गये।

उपकरण

स्वनिर्मित अधिगमार्थी मूल्य परीक्षा का निर्माण इन सोपानो मे किया गया, 1. सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर सूचीगत किये गये मूल्य सूची पर ग्यारह निर्णायको (शिक्षाविद् अध्यापक एव प्रशासक) के अभिमत के आधार पर अधिगमार्थी मूल्य सूची का निर्माण किया गया; 2. अधिगमार्थी मूल्य कथनों का निर्माण किया गया; 3. विशेषज्ञो के परामर्श से मूल्य कथनो का अन्तिम रूप दिया गया; 4 उत्तर व्यवस्था, कुन्जी तथा निर्देश तैयार किये गये; तथा 5. पूर्व परीक्षा द्वारा अधिगमार्थी मूल्य परीक्षा को निखारा गया।

गुटमैन-2 के अनविच्छेद विधि द्वारा विश्वसनीयता की गणना इस सूत्र के अनुसार की गई।

विभिन्न विद्यालयों के विद्यार्थियों में अधिगमार्थी मूल्य

सारणी-1 मे प्रत्येक अधिगमार्थी मूल्य के सामने विभिन्न विद्यालयो में उन विद्यार्थियो की संख्या एवं प्रतिशत दी गई है जिनमे वह मूल्य है। संख्या एव प्रतिशत की गणना 30 मे से की गई है।

अधिगम मूल्यवान : चिन्तन एवं व्यवहार

अधिगम को व्यवहार मे मूल्यवान मिशनरी विद्यालय की छात्राओ की तुलना मे राजकीय विद्यालय की अधिक छात्राए समझती है परन्तु मिशनरी विद्यालय मे अनुदानित विद्यालय से अधिक छात्र ध्यय मूल्य रखते है। चिन्तन के स्तर पर इस मूल्य मे मिशनरी विद्यालय के छात्र-छात्राओ का प्रतिशत समान है और राजकीय विद्यालय का प्रतिशत न्यूनतम एव अनुदानित विद्यालय के छात्रो का अधिकतम है।

नियमित अध्ययन

यह मूल्य राजकीय विद्यालय की छात्राओ मे अधिकतम है। अनुदानित विद्यालय के छात्र दूसरे स्थान पर है। मिशनरी विद्यालय के छात्र-छात्राओ मे विशेष अन्तर नही है जिनमे इस मूल्य पर न्यूनतम प्रतिकूल है।

सारणी-1

विभिन्न अधिगमार्थी मूल्यों पर उच्च माध्यमिक विद्यालयो के छात्रों एवं छात्राओ का प्रतिशत

अधिगमार्थी मूल्य	राजकीय विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय के छात्र		अनुदानित विद्यालय के छात्र	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
अधिगम मूल्यवान व्यवहार	23	76.7%	19	63.3%	21	70%	20	66.6%
अधिगम मूल्यवान चिन्तन	24	80%	27	90%	27	90%	28	93.3%
नियमित अध्ययन	27	90%	22	73.3%	21	70%	25	83.3%
निष्ठापूर्वक कार्य	28	93.3%	23	76 7%	17	56.6%	18	60.%
ईमानदारी का विचार	14	46.7%	25	83.3%	15	50%	8	26.7%
ईमानदरी से व्यवहार	10	33 3%	17	56.5%	16	50.3%	15	50%
विद्यालय के बाहर अनुशासन	19	63.3%	30	100%	26	86.7%	24	80%
अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध	10	33.3%	5	16.7%	11	36.7%	11	36.7%
अभिभावकों का आदर	30	100%	30	100%	28	93.3%	30	100%

सारणी-2

विभिन्न अधिगमार्थी मूल्यों पर उच्च माध्यमिक विद्यालय के छात्रों एवं छात्राओ का प्रतिशत

अधिगमार्थी मूल्य	राजकीय विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय के छात्र		अनुदानित विद्यालय के छात्र	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
सास्कृतिक धरोहर मे गौरव	24	80%	29	96.7%	29	86·7%	27	90%
कठिन परिश्रम	25	76.7%	26	86.7%	18	60%	12	40%
उत्तरदायित्व स्वीकारना एव निभाना	27	90%	29	96 7%	25	83.3%	25	83.3%
जन सेवा	27	90%	29	96.7%	24	80%	27	90%
स्वास्थ्य को मूल्यवान समझना	29	96 7%	25	83.3%	21	70%	25	7·67%
अभिभावको एव अध्यापको का आज्ञापालन	30	100%	27	90%	21	70%	26	85·7%
विद्यालय नियमो की पालना	27	90%	30	100%	27	90%	25	7·67%
समय की पाबदी	25	83.3%	20	55.7%	23	75.7%	21	70%
सहयोग की भावना	29	96·7%	29	96 7%	24	80%	24	80%
सृजनात्मकता	28	93.3%	24	80%	24	80%	28	93.3%

सारणी-3

विभिन्न अधिगमार्थी मूल्यों पर उच्च माध्यमिक विद्यालयो के छात्रों एवं छात्राओं का प्रतिशत

अधिगमार्थी मूल्य	राजकीय विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय की छात्राएं		मिशनरी विद्यालय के छात्र		अनुदानित विद्यालय के छात्र	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
लाकतान्त्रिक चिन्तन	23	76.7%	28	93.3%	20	83.7%	23	83.3%
लोकतान्त्रिक व्यवहार	13	43.3%	20	66 7%	17	55.6%	8	26.7%
देशभक्ति का विचार	28	93.3%	27	90%	23	86·7%	20	66.7%
देशभक्ति का व्यवहार	29	96.7%	28	93 3%	19	63.3%	26	36.7%
विनयशीलता सामान्य	619	63.3%	26	26·7%	24	60%	26	86·7%
विनयशीलता व्यावहारिक	22	73.3%	28	83.3%	26	26.7%	28	93.3%

निष्ठापूर्वक कार्य

यह मूल्य राजकीय विद्यालय की अधिकतम छात्राओ मे है। मिशनरी विद्यालय की छात्राए दूसरे स्थान पर एव अनुदानित विद्यालय के छात्र तीसरे पर है। मिशनरी विद्यालय के छात्रो का प्रतिशत न्यूनतम है।

ईमानदारी का विचार एवं व्यवहार

चिन्तन एव व्यवहार के स्तर मे ईमानदारी मिशनरी विद्यालय की अधिकतम छात्राओ मे है और दूसरा स्थान छात्रो का है तथा राजकीय विद्यालय की छात्राओ का तीसरा स्थान है। व्यवहार के स्तर पर अनुदानित विद्यालय मे छात्रो का भी दूसरा स्थान है। एव वैसे छात्रो की तुलना मे अधिक छात्राओ मे यह मूल्य है।

विद्यालय के बाहर अनुशासन

यह मूल्य मिशनरी विद्यालय की अधिकतम छात्राओ मे है और दूसरा स्थान छात्रो का है। अनुदानित विद्यालय के छात्र तीसरे स्थान पर है। राजकीय विद्यालय की छात्राओ का प्रतिशत न्यूनतम है।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध

मिशनरी विद्यालय की छात्राओ मे अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध का नितान्त अभाव बहुत खटकता है। अन्य विद्यालयो के लगभग एक तिहाई छात्र-छात्राओ मे यह मूल्य होना समान रूप से दयनीय परिस्थिति का द्योतक है।

अभिभावकों का आदर

राजकीय एव मिशनरी विद्यालय की छात्राओ तथा अनुदानित विद्यालय के छात्रो के शत प्रतिशत मे यह मूल्य पाया जाता है। मिशनरी विद्यालय के छात्रो का दूसरा स्थान है। भारतीय संस्कृति मे परम्परा से इस मूल्य की जडे मजबूत होना सम्भवत· इसका कारण हो सकता है।

भारत की सांस्कृतिक धरोहर में गौरव

मिशनरी विद्यालयो के छात्र-छात्राओ में अधिकतर में यह मूल्य है तथा अनुदानित विद्यालयो के छात्रो का दूसरा एव राजकीय विद्यालय की छात्राओ का तीसरा स्थान है। यह सतोष की बात है कि सभी विद्यालय के अधिकतर विद्यार्थियों मे यह मूल्य है।

कठिन परिश्रम

आश्चर्य की बात है कि अनुदानित विद्यालय वैसे तो कठिन परिश्रम के लिए जाने जाते हैं परन्तु इस अध्ययन मे इस विद्यालय के छात्रो के न्यूनतम छात्रो मे यह मूल्य है। उच्चतम स्थान मिशनरी विद्यालय के छात्रो के न्यूनतम छात्रो में यह मूल्य है। उच्चतम स्थान मिशनरी विद्यालय की छात्राओ का है और दूसरा राजकीय विद्यालय की छात्राओ का है।

उत्तरदायित्व स्वीकारना और निभाना

यह मूल्य मिशनरी विद्यालय की अधिकतम छात्राओ मे है और राजकीय विद्यालय की छात्राए दूसरे स्थान पर हैं। मिशनरी एव अनुदानित विद्यालय के छात्र तीसरे स्थान पर है। यह सतोषजनक है कि अधिकतर छात्र-छात्राओ मे यह लोकतत्र की सुदृढता के लिए आवश्यक मूल्य है।

जन सेवा

मिशनरी विद्यालय की अधिकतम छात्राए जन सेवा मे विश्वास रखती है। राजकीय विद्यालय की छात्राए एवं अनुदानित विद्यालय के छात्र दूसरे स्थान पर हैं और मिशनरी विद्यालय के छात्र तीसरे स्थान पर है।

स्वास्थ्य को मूल्यवान समझना

राजकीय विद्यालय की छात्राओ के अधिकतम मे यह मूल्य है एव मिशनरी विद्यालय की छा॰ाए दूसरे स्थान पर तथा अनुदानित विद्यालय के छात्र तीसरे स्थान पर है। मिशनरी विद्यालय के छात्रों का प्रतिशत न्यूनतम है। वैसे सभी विद्यालयो मे प्रतिशत सतोषजनक है परन्तु छात्रो की तुलना में छात्राओं मे यह मूल्य अधिक है।

अभिभावकों एवं अध्यापकों का आज्ञापालन

राजकीय विद्यालय की शत प्रतिशत छात्राओ में आज्ञापालन का मूल्य है। मिशनरी विद्यालय की छात्राए दूसरे स्थान पर हैं। जबकि छात्रो का प्रतिशत सबसे कम है। मिशनरी विद्यालय की अपेक्षा अनुदानित विद्यालय के छात्रो के अधिक प्रतिशत मे यह मूल्य है। छात्राओ में आज्ञा पालन की भावना छात्रो से अधिक है।

विद्यालय नियमों की पालना

यह मूल्य मिशनरी विद्यालय की शत प्रतिशत छात्राओ मे है जबकि छात्रो का प्रतिशत राजकीय विद्यालय की छात्राओ के समान (90 प्रतिशत) है। अनुदानित विद्यालय के छात्रो का प्रतिशत इस मूल्य पर सबसे कम है।

समय की पाबंदी

राजकीय विद्यालय की अधिकतम छात्राए समय की पाबन्दी को महत्व देती है और दूसरा स्थान मिशनरी विद्यालय के छात्रो का है। तीसरे स्थान पर अनुदानित विद्यालय के छात्र आते हैं। मिशनरी विद्यालय की छात्राओं का प्रतिशत न्यूनतम है।

सहयोग की भावना

इस मूल्य पर राजकीय एवं मिशनरी विद्यालय की छात्राओं का प्रतिशत समान है तथा अनुदानित विद्यालय एव मिशनरी विद्यालय के छात्रो का प्रतिशत भी समान है। वैसे छात्रो का प्रतिशत छात्राओं से कम है फिर भी उच्च प्रतिशत समुचित सन्तोष का कारण है।

सृजनात्मकता

सृजनात्मकता मे राजकीय विद्यालय की छात्राओ एव अनुदानित विद्यालय के छात्रो का प्रतिशत समान रूप से उच्च है। मिशनरी विद्यालय के छात्र-छात्राए दूसरे स्थान पर हैं। और उनका प्रतिशत भी समान है।

लोकतांत्रिक चिन्तन एवं व्यवहार

यह मूल चिन्तन के स्तर पर मिशनरी विद्यालय की छात्राओ मे अनुदानित विद्यालय के छात्रो से अधिक है। मिशनरी विद्यालय के छात्रो का स्थान दूसरा है तथा राजकीय विद्यालय की छात्राओ का प्रतिशत न्यूनतम है। व्यवहार मे यह मूल्य मिशनरी विद्यालय के अपेक्षाकृत अधिक छात्र-छात्राओ मे है। राजकीय विद्यालय की छात्राओ का प्रतिशत अनुदानित विद्यालय (सबसे कम) से अधिक है। इस मूल्य का प्रतिशत सभी विद्यालयों मे व्यवहार मे बहुत कम होना चिन्ता का विषय है।

देशभक्ति का विचार एवं व्यवहार

राजकीय विद्यालय एवं मिशनरी विद्यालय की छात्राओ के विचार एव व्यवहार में अधिकतर मे देशभक्ति परिलक्षित होती है। अनुदानित एव मिशनरी विद्यालय के छात्रों का प्रतिशत भी इस मूल्य पर उच्च है। व्यवहार मे मिशनरी विद्यालय के छात्रो एव चिन्तन मे अनुदानित विद्यालय के छात्रो का प्रतिशत न्यूनतम है।

विनयशीलता

विनयशीलता के सामान्य एव व्यावहारिक पक्ष पर मिशनरी विद्यालय एव अनुदानित विद्यालय के छात्रों का प्रतिशत छात्राओ से अधिक है। वैसे छात्राओ मे मिशनरी विद्यालय अनुदानित विद्यालय से आगे है। □□

शिक्षा और उत्पादक कार्य

□ डॉ० मंजीत सेन गुप्त

एक राष्ट्रीय प्रयोग के रूप में महात्मा गांधी की शिक्षा प्रणाली सशक्त शैक्षिक सकल्पना पर आधारित थी। हाथ के काम, विभिन्न क्रियाओ तथा पर्यावरण के माध्यम से गाधी जी शिक्षा को सर्वसाधारण के द्वार तक ले जाना चाहते थे। वह एक ऐसे चरित्रवान नागरिक का निर्माण करना चाहते थे जो अपने को समाज की एक अभिन्न इकाई माने तथा जो देश के सुख-दुख में समान रूप से भागीदार बने।

भारतीय शिक्षा मे उत्पादक कार्य के बीज वैदिक सस्कृति मे ही देखने को मिल जाते है। प्राचीन पद्धति के अन्तर्गत शिष्य अपने गुरु के आश्रम मे रह कर जीविका व शिक्षा के लिए नभी प्रकार के कार्यों मे हाथ बंटाता था। दूसरे शब्दो मे जीवन के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी और स्पष्टत शिक्षा व कार्य के बीच कोई विभेद नही था। हालाकि तत्कालीन समाज कार्यानुसार विभिन्न वर्गों मे विभक्त था। शिक्षा का प्रसार केवल कुछ उच्च जातियों तक ही सीमित था अत: शिक्षा के प्रकार का निर्धारण जन्मजात या वशागत हुआ करता था। इस सामाजिक वर्गीकरण का परिणाम आज भी कार्य और शिक्षा के बीच दरार के रूप मे परिलक्षित होता है। अग्रेजी शासन काल मे यह दरार और चोडी हो गई। शिक्षा का विस्तार पुस्तको के पन्नो मे सिमट कर रह गया। मूलत. भारतीय जीवन मे शिक्षा के दर्शन का कोई पृथक अस्तितत्व नही है। शिक्षा जीवन के दर्शन का ही अभिन्न अग है।

1882 से कई आयोगो तथा समितियों ने अग्रेजी सरकार का ध्यान सामान्य शिक्षा प्रणाली मे उत्पादक कार्य के अभाव की ओर दिलाया परन्तु इस दिशा मे कोई ठोस कदम नही उठाये गये। भारत मे सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने शिक्षा मे उत्पादक कार्य के समावेश को क्रियात्मक रूप प्रदान किया। आधुनिक समय मे शिक्षा आयोग (1964-66) ने बुनियादी शिक्षा में समयानुचित परिवर्तन कर कार्यानुभव तथा व्यावसायीकरण की सकल्पनाओ का सूत्रपात किया। हाल ही में घोषित राष्ट्रीय शिक्षा नीति

(1986) मे कार्यानुभव को समाजोपयोगी, उत्पादक तथा उद्देश्यपूर्ण हाथ से किये जाने वाले कार्य के रूप मे परिभाषित किया गया है, साथ ही इसे सीखने की प्रक्रिया का एक अभिन्न अग माना गया है।

कार्यशिक्षा में भारतीय प्रयोग—एक समालोचनात्मक विश्लेषण

भारतीय शिक्षा में हाथ के काम व उत्पादक कार्य के घटक का समावेश करने के लिए 1938 मे अनेक प्रयोग किये गये। 1937 के वर्धा कॉन्फ्रेंस ने गाधी जी के उस प्रस्ताव को पारित कर दिया जिसके अनुसार सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा की प्रक्रिया का केन्द्र किसी-न-किसी ग्रामीण हस्तशिल्प को होना था। परिणामस्वरूप बुनियादी शिक्षा प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। सन् 1952 मे माध्यमिक शिक्षा आयोग ने बहुउद्देश्योय प्रणाली की सिफारिश की। 1977 मे गठित ईश्वर भाई पटेल समिति ने कोठारी आयोग के कार्यानुभव को समाजोपयोगी उत्पादक कार्य के रूप प्रस्तुत किया। परन्तु इन सभी सकल्पनाओ को ध्यानपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रचेष्टाओं के फलस्वरूप कार्य शिक्षा की अभिधारणा मे उच्चस्तरीय निखार आता चला गया।

एक राष्ट्रीय प्रयोग के रूप मे महात्मा गाधी की शिक्षा प्रणाली सशक्त शैक्षिक संकल्पना पर आधारित थी। हाथ के काम, विभिन्न क्रियाओ तथा पर्यावरण के माध्यम से गांधी जी शिक्षा को सर्वसाधारण के द्वार तक ले जाना चाहते थे। वह एक ऐसे चरित्रवान नागरिक का निर्माण करना चाहते थे जो अपने को समाज की एक अभिन्न इकाई माने तथा जो देश के सुख-दुख मे समान रूप से भागीदार बने। गाधी जी क्राफ्ट या उद्योग को विद्यालय के केवल एक सलग्न भाग के रूप मे नही देखते थे, उनका तो कहना था कि प्राथमिक स्तर पर समस्त विषयो का अध्ययन इस उद्योग के माध्यम से किया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा-प्रणाली के विश्लेषण हेतु तीन प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पहला यह कि गांधी जी के बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी विचारों को अक्षरश स्वीकार कर लिया जाये। तदनुसार बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य होगा एक शांतिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति लाना जिसके द्वारा स्वय सम्पन्न, स्वायत्त ग्राम-गणराज्यो की स्थापना की जा सके। इस दृष्टि से देखने पर स्वय सम्पन्नता बुनियादी शिक्षा का मूलमत्र बन जाता है। इस विचारधारा को मानने का तात्पर्य यह भी होगा कि अध्यापन को किसी-न-किसी केन्द्रीय हस्त-उद्योग से जोडा जाये। दूसरा दृष्टिकोण शिक्षा के अकादमिक स्तर को अध्यात्मिक मान्यता देता है। इसके अनुसार शिक्षा मे उत्पादक कार्य का समावेश विद्यालय के बहुमूल्य समाज का अपव्यय है। तीसरी विचारधारा के पोषक इस प्रणाली को मुख्यतया शैक्षिक दृष्टि से देखते हैं। यह दृष्टिकोण अपेक्षतया अधिक तर्कसगत है। यह उत्पादक कार्य के माध्यम से शिक्षा देने के सिद्धान्त को शैक्षिक व मनोवैज्ञानिक के रूप से सशक्त मानता है। साथ ही यह इस प्रकार की शिक्षा की सीमाओ को भी भली प्रकार जानता है।

विगत वर्षों का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि वर्धा स्कीम एक कोरा आदर्श नहीं थी। यह वास्तव मे एक ऐसी शिक्षा योजना थी जिसका क्रियान्वयन निष्ठा और सहकारिता की भावना से ही सम्भव है। मानव ससाधनो की कमी, दर्शनात्मक पहलू का अपर्याप्त ज्ञान, स्वय सम्पन्नता व सह-सम्बन्ध के बारे मे विवाद के कारण यद्यपि इस योजना के क्रियान्वयन मे बहुत अधिक सफलता का दावा नहीं किया जा सकता तथापि स्पष्टतया इसके सैद्धान्तिक पक्ष के बारे में कोई विवाद नही है।

परवर्ती काल मे माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) की सिफारिशो के रूप अनुरूप उद्योग स्कूलों मे अनिवार्य विषय बन गया। इस विषय के पठन-पाठन का समस्त छात्रो—विशेषतया विज्ञान के छात्रो पर विशेष प्रभाव पडा। उनमे हाथ से कुछ उपयोगी कार्य करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। इन उत्पादक कार्यों व समाज सेवा सम्बन्धी परियोजनाओ मे नवीन मौलिक प्रयोगो के उपकरण भी मिलते हैं। लेकिन इतना होने पर भी उद्योग कार्य समान्य शिक्षा की मुख्यधारा से अलग-अलग ही रहा।

शारीरिक व बौद्धिक कार्यों के बीच की खाई को पाटने का एक और प्रयत्न 'कार्यानुभव' के रूप मे प्रारभ हुआ। कार्यानुभव और बुनियादी शिक्षा की सकल्पनाओ के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो के उद्देश्य

एक जैसे है, साथ ही दोनो में कुछ बुनियादी विभिन्नताए भी है। दर्शन की दृष्टि से बुनियादी शिक्षा एक पूर्णतया नवीन शिक्षा प्रणाली की ओर इगित करती है जबकि कार्यानुभव शिक्षा के केवल कुछ ही पहलुओ से सम्बन्ध रखता है। बुनियादी शिक्षा के मूल मे था स्वय सम्पन्न स्वायत्त ग्राम-जनतत्रों का निर्माण जबकि एक सुसगठित कार्यानुभव कार्यक्रम के द्वारा छात्र सीखने की प्रक्रिया मे केवल कुछ कमा सकते है। बुनियादी शिक्षा मे कोई ग्रामीण हस्त उद्योग पठन-पाठन का केन्द्र बिन्दु बन जाता है जबकि कार्यानुभव किसी केन्द्रीय हस्त उद्योग की अवधारणा को नही मानता। कार्यानुभव सह-सम्बन्ध पर भी उतना जोर नहीं देता।

कार्यानुभव के कार्यक्रम को शिक्षा प्रणाली ने बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया तथा राज्यो में बहुत से अच्छे कार्यक्रम लागू किये गये जिनमे से कुछ थे—उपयोगी वस्तुओ का निर्माण, वैज्ञानिक उपकरणो की आशु-रचना, सीखो-कमाओ योजनाए तथा वास्तविक उत्पादन कार्य-स्थलो मे कार्यानुभव, आदि।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है आगे चलकर इस कार्यक्रम की राष्ट्रीय आलोचना समिति (1977) ने एक कही अधिक व्यापक तथा लचीली सकल्पना "समाजोपयोगी उत्पादक कार्य" से प्रतिस्थापित की। इस संकल्पना द्वारा समुदाय-कार्य व समाज सेवा को भी कार्य शिक्षा के अन्तर्गत समाहित कर लिया गया। इसे स्कूली पाठ्यक्रम मे केन्द्रीय स्थान प्रदान किया गया। अन्य स्कूली विषयो मे इसका सम्बन्ध स्थापित कर विद्यालय के अध्यापकों को सहभागी बनाया गया। इस प्रकार जहा कार्यानुभव के क्रिया चयन मे उत्पादक कार्यो द्वारा वस्तुओ के निर्माण व बिक्री पर अधिक जोर दिया गया वहा समाजोपयोगी उत्पादक कार्य के क्रियान्वयन मे उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओ व समाज सेवी सम्बन्धी क्रियाओ में सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

अतः कार्य-शिक्षा की चार संकल्पनाए यथा बुनियादी शिक्षा, उद्योग व शिल्प, कार्यानुभव तथा समाजोपयोगी उत्पादक कार्य भारतीय शिक्षा के क्षितिज पर समय की दृष्टि से क्रमिक रूप में अवतरित हुए जो इस बात की ओर इगित करते हैं कि इनका प्रकट होना कोई आकस्मिक घटना नही है। वास्तव मे इन कार्यक्रमो को काम करते हुए सीखने के सिद्धान्त मे उत्तरोत्तर परिमार्जन के रूप मे देखा जा सकता है।

इन सकल्पनाओ के वास्तविक क्रियान्वयन, प्रबन्ध और सगठन का विश्लेषण करने पर निम्न बातें सामने आती है।

कार्य-शिक्षा का कार्यक्रम देश के लगभग सभी विद्यालयों मे किसी न किसी नाम से चलाया जा रहा है। जहां तक पाठ्यक्रम का सवाल है कुछ राज्यो के पास सभी कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम मौजूद है, कुछ अन्य राज्यो मे कार्य-शिक्षा केवल कुछ ही कक्षाओ तक सीमित है। कुछ पाठ्यक्रम क्रियाओ को व्यक्तिगत और सामूहिक कार्य मे विभक्त करते है जबकि कुछ अन्य इनको बुनियादी आवश्यकताओ के आधार पर छः वर्गों यथा स्वास्थ्य, भोजन, आश्रय, वस्त्र, सस्कृति व आमोद-प्रमोद तथा समाज सेवा मे विभाजित करते है। विषय सम्बन्धी क्रियाओ को भी इसमे सम्मिलित किया गया है।

पठन-पाठन सामग्री भी अनेक राज्यो मे उपलब्ध है। राष्ट्रीय स्तर पर भी नमूने के तौर पर स्त्रोत ग्रथ बनाये गये है जिनमे विभिन्न प्रकार की प्रतिनिधि क्रियाओं का वर्णन है।

चूकि इस कार्यक्रम मे समस्त अध्यापकों को सभागी होना वांछनीय है इसलिए शिक्षक प्रशिक्षण मे भी इसका समावेश किया गया है। कुछ राज्यो मे मुख्यतया उद्योग अध्यापक इस विषय को पढाते हैं। सेवारत अध्यापक साधारणतया अल्पकालीन शिविरों द्वारा प्रशिक्षित किये जाते हैं। इन सब प्रयत्नो के बावजूद आज कार्य-शिक्षा के क्षेत्र मे अच्छे प्रशिक्षित अध्यापको की नितात कमी है।

वित्त व सहायक सामग्रियो की उपलब्धि मे भी राज्यो मे भिन्नता है। यद्यपि स्थानीय परिवेश मे प्राप्त सामग्रियो का व्यापक प्रयोग किया जाता है तथापि कार्य-अभ्यास के लिए कुछ स्थायी सहायक सामग्रियों की भी आवश्यकता होती है। कुछ हद तक ये सुविधाए राज्य शिक्षा विभाग उपलब्ध कराते है। अन्य स्थानो पर कार्यक्रम की आवश्यकताओ की आशिक पूर्ति के लिए विशेष फीस का प्रावधान है। कुछ राज्यो मे विभाग द्वारा उपलब्ध राशि का एक

परिक्रमणशील कोश बनाया जाता है। एक राज्य सरकार आवश्यक कच्चा माल लेकर स्कूलो से बना हुआ माल ले लेती है। अनुभव यह बतलाता है कि क्रियाओ का चयन जितना वास्तविकताओं पर आधारित होगा तैयार माल की निकासी उतनी ही आसान होगी।

कार्य-शिक्षा के मूल्याकन पर विस्तृत चर्चाएं हुई है। इस विषय पर विशेषज्ञो व प्रशासको के विचारो मे काफी मतभेद है। एक ओर ग्रेड, अक या प्रगति-पत्र के दायरे में बाधने पर यह भी अन्य विषयों की भाति ही परीक्षा प्रधान बन जाएगा जो इस सजीव व क्रियाशील विषय को भी आत्माहीन बना देगा, दूसरी ओर मूल्याकन के अभाव मे यह अपना महत्व खो बैठेगा। कुछ राज्यो मे मूल्याकन आतरिक है जबकि कुछ मे आन्तरिक और बाह्य का मिश्रण है। साधारणतया कार्य-शिक्षा मे मूल्याकन का प्रभाव कक्षा उन्नति पर नही पडता। हालांकि कुछेक उदाहरण ऐसे भी है जहा प्रगति पत्र मे यह दर्शाया जाता हैं। जबकि एक राज्य ऐसा भी है जो कार्य शिक्षा के क्षेत्र मे अनुकरणीय कार्य कर रहा है परन्तु वहा इस विषय मे नियमित मूल्याकन नही किया जाता।

सगठन की दृष्टि से कार्य-शिक्षा के क्रियान्वयन का दायित्व सामान्यतया राज्य शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् या राज्य शिक्षा सस्थान या राज्य के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड पर होता है। इन संस्थाओ मे कार्य-शिक्षा प्रकोष्ठ हैं जो राज्य मे इस कार्यक्रम को लागू करने मे योगदान देते है। प्रशासनिक नियन्त्रण राज्य के शिक्षा निदेशालय के पास ही रहता है। राज्यो मे अब तक किये गये कार्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छात्रों को प्रोत्साहित, प्रेरित और अधिकाधिक भाग लेने के लिए उत्साहित करने हेतु कोई विशेष कदम नही उठाये गये है। हालांकि इस दिशा मे क्या व कितना किया जा सकता है इसका नमूना पेश करता है केरल जहा तहसील, जिला और राज्य स्तर पर कार्य-शिक्षा की प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती हैं। अनुकरणीय कार्य करने पर पुरस्कार देने का भी प्रावधान है।

जहां तक क्रियान्वयन की प्रक्रिया मे नवीनता व मौलिकता लाने का प्रश्न है कुछ राज्यो के प्रयत्न उल्लेखनीय है। राजस्थान मे इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छात्रो के लिए 3-5 दिन के अनिवार्य कैम्प की व्यवस्था की गई है। केरल मे 1972-73 के सत्र मे सीखो-कमाओ योजना लागू की गई। यहा शैक्षिक उपजिलो मे कुछ उच्च प्राथमिक विद्यालयो का चयन कर उन्हे ग्रीष्मावकाश में विभागीय प्राथमिक शालाओ के मरम्मत का काम करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इसी राज्य के एक-दूसरे प्रयोग मे 1980-81 के दौरान 4,000 टन कागज का प्रयोग कर विभिन्न प्रकार की अभ्यास पुस्तिकाएं बनाई गईं। इनकी बिक्री से हुए लाभ को छात्रो मे बाट दिया गया। मध्य प्रदेश का बहुचर्चित प्रयोग भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। यहा खादी ग्रामोद्योग कमीशन के सौजन्य से सीखो-कमाओ योजना के अन्तर्गत टाट पट्टियो का निर्माण बच्चो द्वारा किया जाता है। ये टाट पट्टिया शिक्षा विभाग की आवश्यकताओ को पूरा करती हैं। अध्यापक व छात्रो को कुछ लाभाश प्रोत्साहन के रूप मे दिया जाता है।

अनौपचारिक शिक्षा के क्षेत्र मे भी कार्य-शिक्षा के कुछ प्रोजेक्ट चलाये जाते है जिनमे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा प्रारम्भ किये गये प्रायोगिक अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र, जम्मू काश्मीर के व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र, कृषि विज्ञान केन्द्र, "ट्राईसेम" राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम आदि प्रमुख है।

क्रियान्वयन में कठिनाइयां और उनका समाधान

शिक्षा मे उत्पादक कार्य के समावेश की प्रक्रिया मे अनेक कठिनाइया सामने आई। शैक्षिक व प्रशासनिक कठिनाइयो के अतिरिक्त ऐतिहासिक कारणो से सामाजिक व सास्कृतिक अवरोधों का भी सामना करना पडा। इसी सन्दर्भ मे एक और कठिनाई है। स्थानीय विविधताओ के अनुरूप क्रियान्वयन के प्रत्येक चरण मे विभिन्नता। परिणामस्वरूप देश मे कोई भी समान पाठ्यक्रम लागू नही किया जा सकता। राज्यो में अपनी-अपनी आवश्यकताओं व सुविधाओं के अनुसार स्थान-विशिष्ट क्रियाओ का चयन किया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर केवल सामान्य निदेशक सिद्धान्त प्रतिपादित व प्रचारित किये जा सकते है। प्रशिक्षित शिक्षको का अभाव भी क्रियान्वयन की प्रक्रिया मे बाधा सृष्टि करता है। कार्य शिक्षा के लिए

यह माना गया है कि स्कूल के सभी शिक्षक इसमे सभागी होगे। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक शिक्षक का इस विषय मे प्रशिक्षण आवश्यक हो जाता है जो अपने आप मे एक विशाल कार्य है।

चूकि कार्य-शिक्षा काम करते हुए सीखने के मूल सिद्धान्त पर आधारित है अत. पाठ्य पुस्तको जैसी शिक्षण सामग्रिया इसकी आवश्यकताओ के अनुकूल है। इसके लिए विविध क्रियाओ से सम्बन्धित सचित्र व क्रियात्मक पठन-पाठन सामग्री की आवश्यकता होगी। इनका निर्माण बड़े पैमाने पर मुख्यतया स्थानीय स्तर पर करना होगा। क्रियान्वयन की प्रक्रिया मे एक और कारक जो बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है वह है भौतिक ससाधन की कमी। क्रियाओ को करने के लिए, यन्त्रो, उपकरणो कच्चे माल, मॉडलो, औजारो, भडारगृहों, कार्यशालाओं आदि का होना आवश्यक है। परन्तु प्रतिकूल वित्तीय परिस्थितियो के कारण प्रत्येक विद्यालय को इन न्यूनतम आवश्यकताओं से सुसज्जित करना सभव नही है। हालांकि इनके अभाव मे स्कीम रुका नहीं रहा। कई स्थानो पर स्थानीय व उपलब्ध सामग्रियो का उपयोग कर बहुमूल्य क्रियाओ का प्रतिपादन किया गया है। बहुत-सी समाज व समुदाय सम्बन्धी क्रियाए हैं, जिनके क्रियान्वयन में विशेष सामान की आवश्यकता नहीं होती। स्थानीय समुदाय के साथ विद्यालय का अच्छा सम्बन्ध होने पर बहुत-सी सामुदायिक सुविधाओं को शैक्षिक प्रयोजन के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है। कार्य-शिक्षा के प्रभावशाली क्रियान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि राज्य या जिला स्तर पर ऐसे कार्य-शिक्षा प्रकोष्ठ हो जिनमे विभिन्न कार्य-क्षेत्रो के विशेषण का प्रतिनिधित्व हो। वर्तमान में इस कमी की पूर्ति विशिष्ट सन्दर्भ व्यक्तियो को अल्पकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमो मे आमन्त्रित कर हो जाती है।

शहरी व ग्रामीण क्षेत्रो के बीच सुविधाओं, प्रोत्साहन व सामाजिक आवश्यकताओं की दृष्टि से बहुत अन्तर है। आज के ग्रामीण छात्र, छात्राए केवल खेती या पारम्परिक क्रियाओ से सन्तुष्ट नही है।

अत जहा उपयुक्त विविधताए कुछ कठिनाइया उत्पन्न करती है वही वे इस कार्य-क्षेत्र को इन्द्रधनुषी रंग भी प्रदान करती है। आज जब कार्यानुभव को शिक्षा-क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य मे कार्य शिक्षा वास्तविक रूप से भारतीय शिक्षा का अभिनव महत्वपूर्ण अग बन जाएगा।

आधुनिक समाज के परिप्रेक्ष्य में कार्य-शिक्षा का महत्व

शिक्षा, समाज के द्वारा बनाया गया एक ऐसा साधन है जो एक ओर बालक को सामाजिक रीतियो व उपलब्धियो का ज्ञान कराता है तथा दूसरी ओर बालक मे ऐसे बौद्धिक व चारित्रिक गुणो का सृजन करता है जिनके बल पर वह समाज की उन्नति, उसके आधुनिकीकरण तथा सुसगठित विकास मे सहयोग प्रदान कर सकता है। बहुधा सुनने मे आता है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति से निकले हुए छात्र हाथ से काम करने, अपने छोटे-मोटे रोजगार स्थापित करने अथवा रोजगार ग्रहण करने की अपेक्षा दफ्तर मे क्लर्क बनने को प्राथमिकता देते हैं। भावी नवयुवको मे इस प्रकार की मनोवृत्ति का मुख्य कारण है कार्य के प्रति सम्मान का अभाव, पुस्तकीय ज्ञान ज्ञान की प्रधानता व व्यावसायिक जगत के विषय मे अपर्याप्त या अपूर्ण ज्ञान। कार्य-शिक्षा, शिक्षा पद्धति की इसी त्रुटि के निराकरण का प्रयास करती है। कार्य-शिक्षा जहा हाथ से कार्य करने, स्वावलबी होने व कार्य के द्वारा सीखने पर बल देती है वही यह छात्रो को आधुनिक समाज की वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों से साक्षात्कार कराती है, उनको अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का कौशल प्रदान करती है तथा नवीन विचारो को प्रेरित करती है। उदाहरण के लिए आज जब भारत इक्कीसवी सदी मे पदार्पण के लिए तत्पर है और कम्प्यूटर का व्यावहारिक ज्ञान, उसका प्रचार और प्रसार एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है तब स्कूलों मे कार्य-शिक्षा विषय एक ऐसा मच प्रस्तुत करता है जहा भावी नागरिको को कम्प्यूटर प्रणाली के निकट व घनिष्ठ सम्पर्क मे लाया जा सकता है जिससे हम रहस्यमय दानव को वास्तविक मित्र के रूप मे परिवर्तित किया जा सके। इस प्रकार उपयोग मे लाये जाने पर कार्य-शिक्षा

को समाज के आधुनिकीकरण का एक सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त आज का बालक दैनिक जीवन में अनेक छोटी-मोटी समस्याओं का सम्मुखीन होता है जैसे डाकखाने में खाता खोलना, मनीआर्डर करना, बैंक में खाता खोलना, रेल का आरक्षण कराना, रोजगार का सही चयन करना, स्व-रोजगार खोलना, अस्पताल में रोगी को भर्ती कराना, अवकाश का सदुपयोग करना आदि आदि। ये कुछ ऐसी व्यावहारिक समस्याएं हैं जिनके बारे में साधारणतया कोई भी स्कूली विषय पर्याप्त ज्ञान नहीं देता। कार्य-शिक्षा के माध्यम से यह संभव है। पुस्तकीय ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान में बदलना ही कार्य शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। हमारे समाज के बहुत से अवरोधों, पिछड़ेपन व कुरीतियों का श्रेय शिक्षा के इसी किताबी स्वरूप को जाता है। कार्य-शिक्षा इस निष्क्रियता की स्थिति को बदलना चाहती है, शिक्षा को समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना चाहती है, समाज को शिक्षा की प्रक्रिया में भागीदार बनाना चाहती है तथा छात्रों की सृजनात्मकता को उजागर कर एक कार्यशील प्रबुद्ध समाज का गठन करना चाहती है। □□

ग्रामीण विद्यार्थियों का राजनीतिक ज्ञान

☐ डॉ० मथुरेश्वर पारीक

नागरिक शास्त्र व सामाजिक अध्ययन विषयों के द्वारा नागरिकता की शिक्षा का प्रयास औपचारिक शिक्षा के माध्यम से चलता रहा है। प्रश्न उठता है कि प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक बालको की राजनीतिक ज्ञान संबंधी उपलब्धियां कैसी रहती है ? उनका राजनीतिक मूल्यों, संस्थाओं, व्यवहारो आदि के प्रति अवबोधन कैसा होता है ? वे राजनीतिक समस्याओं को कितना समझते हैं ? क्या बालक-बालिकाओं में राजनीतिक ज्ञान में अन्तर होता है ? क्या छोटी कक्षाओ के विद्यार्थियों का राजनीतिक ज्ञान बड़ी कक्षाओं के विद्यार्थियो के समान होता है ?

प्राचीन समय से ही छात्र-छात्राओ को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक ज्ञान की शिक्षा दी जाती रही है लेकिन प्रजातात्रिक शासन व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक ज्ञान की शिक्षा का महत्व बहुत अधिक बढ गया है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात हमारे देश में प्रजातात्रिक शासन व्यवस्था ही अपनाई गई। नागरिक शास्त्र व सामाजिक अध्ययन विषयो के द्वारा नागरिकता की शिक्षा का प्रयास औपचारिक शिक्षा के माध्यम से चलता रहा है, प्रश्न उठता है कि प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक बालको की राजनीतिक ज्ञान सम्बन्धी उपलब्धिया कैसी रहती हैं ? उनका राजनीतिक मूल्यो, सस्थाओं, व्यवहारो आदि के प्रति अवबोधन कैसा होता है ? वे राजनीतिक समस्याओ को कितना समझते है ? क्या बालक-बालिकाओ मे राजनीतिक ज्ञान मे अन्तर होता है ? क्या छोटी कक्षाओ के विद्यार्थियो का राजनीतिक ज्ञान बड़ी कक्षाओ के विद्यार्थियों के समान होता है ?

जयपुर जिले के 4 उच्च माध्यमिक और 6 माध्यमिक विद्यालयो का हिन्दी वर्णमाला के क्रम से चयन किया गया। अध्ययन के लिए इनमे से 2 उच्च माध्यमिक विद्यालय छात्रो के और 2 उच्च माध्यमिक विद्यालय छात्राओ के और तीन-तीन माध्यमिक विद्यालय छात्रों व छात्राओं के

लिए गये । सभी विद्यालयो से कक्षा 6, 7, 8, 9 व 10 से 10-10 छात्रों और इतनी ही छात्राओ को न्यादर्श मे सम्मिलित किया गया । अर्थात् कुल 250 छात्र व 250 छात्राओं को न्यादर्श मे सम्मिलित किया गया ।

सांख्यिकी प्रक्रिया

मध्यमान, दो मध्यमानो के मध्य अन्तर, प्रामाणिक विचलन, क्रांतिक अनुपात का इस अध्ययन मे प्रयोग किया गया है ।

परिभाषाएं

(अ) बाइरन जी॰ मेसियालास ने राजनीतिक व्यवस्था की सरचना और प्रक्रिया के सचालन और व्यवस्था की सफलता के आलोचनात्मक मूल्याकन करने को ही राजनीतिक ज्ञान बताया है। छठी कक्षा से दसवी कक्षा तक की सामाजिक ज्ञान की पुस्तको में से नागरिक शास्त्र से सम्बन्धित पाठ्यक्रम और नागरिक शास्त्र की पुस्तको से लिये गये प्रश्न हैं।

(ब) ग्रामीण छात्र-छात्राओ से तात्पर्य नमूने लिये गये जयपुर जिले के 500 छात्र-छात्राओ से है ।

सारिणी-1

ग्रामीण छात्रों मे राजनीतिक ज्ञान का विकास

कक्षा		मध्यमानों का अन्तर 7	8	9	10
6. मध्यमान	18.44	4.00 (5.55)**	10 88 (13.26)**	8 20 (8.12)**	5.44 (5.55)**
संख्या 50 प्रा॰ वि॰	3.26				
7. मध्यमान	22.44		6 88 (7.81)**	4 20 (3.96)**	1.44 (1.39)
संख्या 50 प्रा॰ वि॰	4.00				
8. मध्यमान	29.32			2.68 (2.37)*	5.44 (4.90)**
संख्या 50 प्रा॰ वि॰	4.89				
9. मध्यमान	26.64				2.76 (2.20)*
संख्या 50 प्रा॰ वि॰	6.37				
10. मध्यमान	23.88				
संख्या 50 प्रा॰ वि॰	6.18				
सयुक्त मध्यमान	24.14				
संख्या 250 प्रा॰ वि॰	6.29				

* = 05 स्तर पर सार्थक
** = .01 स्तर पर सार्थक
नोट—कोष्ठक ( ) में क्रान्तिक अनुपात है ।

1. बाइरन जी॰ मेसियालास, **पालिटिकल यूथ, ट्रेडीशनल स्कूल्स**, प्रिंटिसहाल, न्यू देहली, **1974, पृष्ठ 4**

सारिणी-1 के अवलोक से ज्ञात होता है कि ग्रामीण विद्यालय के छात्रो मे कक्षा 6 से 8 तक के राजनीतिक ज्ञान का मध्यमान बढता हुआ आया है। छठी कक्षा से दसवी कक्षा तक के छात्रो का मध्यमान क्रमश. 18.44, 22.44, 29 32, 26.64, व 23.88 है। और प्रामाणिक विचलन क्रमश 3.26, 4.0, 4.89, 6.37 व 6 18 आया है। नवी कक्षा का राजनीतिक ज्ञान तो सयुक्त मध्यमान से अधिक आया है लेकिन दसवी कक्षा के छात्रो का मध्यमान उससे कम आया है, जो कि अच्छी स्थिति नही कही जा सकती। ग्रामीण छात्रों मे सबसे कम प्रामाणिक विचलन कक्षा 6 का और सबसे अधिक नवीं कक्षा का आया है। शहरी छात्र-छात्राओ मे भी छठी कक्षा का ही सबसे कम प्रामाणिक विचलन आया है, और ऊपर की कक्षाओ का प्रामणिक विचलन बढा है। इस आधार पर हम कह सकते है कि छोटी कक्षाओ के राजनीतिक ज्ञान के प्राप्ताको मे बडी कक्षाओं की तुलना मे स्थिरता अधिक है। ग्रामीण छात्रो के राजनीतिक ज्ञान मे छठी कक्षा से दसवी कक्षा तक परस्पर क्रान्तिक अनुपात देखने से पता चलता है कि कक्षा सात व दस के मध्य क्रान्तिक अनुपात निरर्थक पाया गया। कक्षा आठ व नौ एव नौ व दस का क्रान्तिक अनुपात .05 स्तर पर और शेष अन्य कक्षाओ का 01 स्तर पर सार्थक पाया गया।

सारणी-2

ग्रामीण छात्राओं में राजनीतिक ज्ञान का विकास

कक्षा		मध्यमानो का अन्तर 7	8	9	10
6. मध्यमान	19.50	1.90	3 90	9.40	2.60
सख्या 50 प्रा० वि०	3.17	(2.50)	(5.20)**	(10.80)**	(2.34)*
7. मध्यमान	21.40		2.00	7 50	0.70
सख्या 50 प्रा० वि०	4.39		(2.32)*	(7.73)**	(0.58)
8. मध्यमान	23.40			5.50	1 30
सख्या 50 प्रा० वि०	4 33			(5.72)**	(1.10)
9. मध्यमान	28.90				6 80
संख्या 50 प्रा० वि0	5.36				(5.39)**
10 मध्यमान	22.10				
संख्या 50 प्रा० वि०	7.24				
सयुक्त मध्यमान	23.06				
सख्या 250 प्रा० वि०	5 99				

* = .05 स्तर पर सार्थक

** = .01 स्तर पर सार्थक

नोट—कोष्ठक ( ) में क्रान्तिक अनुपात अंकित है।

सारिणी-2 मे ग्रामीण विद्यालय की छात्राओ का मध्यमान व प्रामाणिक विचलन दिया हुआ है। कक्षा 6 से 10 तक की छात्राओं का मध्यमान क्रमश 19.5, 21 4, 23 4, 28 9 एव 22.1 और प्रामाणिक विचलन क्रमश. 3.17, 4 39, 4 33, 5.36, 7.24 आया है। विभिन्न कक्षाओ का मध्यमान स्पष्ट करता है कि कक्षा 6 स 9 तक का मध्यमान क्रमोत्तर वृद्धि की ओर जाता हुआ दसवी कक्षा मे कम हो जाता है। दसवी कक्षा की ग्रामीण छात्राओ के राजनीतिक ज्ञान के कम मध्यमान के पीछे बोर्ड की परीक्षा देने की चिन्ता होना या घरेलू कार्यो में अधिक सहयोग देने के कारण राजनीतिक ज्ञान के साधनो (समाचार पत्र-पत्रिकाये, रेडियो, टेलीविजन आदि) का उपयोग नही करना हो सकता है। इन कक्षाओ मे परस्पर क्रान्तिक अनुपात देखने से पता चलता है कि कक्षा 7 व 10 और 8 व 10 को छोडकर शेप कक्षाओं का क्रान्तिक अनुपात सार्थक पाया गया है। इनमे से भी कक्षा 6 व 7, 7 व 10 और 7 व 8 का सार्थकता स्तर .05 रहा और शेष अन्य कक्षाओ मे 05 व 01 दोनो स्तरो पर ही सार्थकता पाई गई। अत केवल दसवी कक्षा के राजनीतिक ज्ञान की कुछ कमी के कारण ही दो कक्षाओ के साथ सार्थकता नही पाई गई।

सारिणी-3 को देखने से पता चलता है कि कक्षा 6 व 9 मे छात्राओ का और कक्षा 7, 8 एव 10 मे छात्रो का मध्यमान अधिक है। छात्र-छात्राओं के मध्यमान में यह अन्तर सबसे अधिक आठवीं कक्षा मे 5.92 आया है और नवी कक्षा मे 2.26 का अन्तर आया है। शेष कक्षाओ के मध्यमान का अन्तर 1 02 से 1.78 के बीच ही है, जो कि अधिक नही है। कक्षा 6 से 10 तक के छात्र छात्राओं के राजनीतिक ज्ञान प्राप्ताक के मध्यमानो का अन्तर क्रमश. 1.06, 1.02, 5 92, 2 26 एव 1.78 आया है।

सारणी-3

ग्रामीण छात्र-छात्राओ मे राजनीतिक ज्ञान का विकास

संख्या 500 (250 छात्र व 250 छात्रायें)

कक्षा	संख्या	छात्र	छात्रायें	मध्यमानों का अन्तर	क्रान्तिक अनुपात	सार्थकता स्तर
6	100	18.44 (3.26)	19.50 (3 17)	1 06	1.65	निरर्थक
7	100	22 44 (4.00)	21.42 (4.39)	1 02	1.22	निरर्थक
8	100	29.32 (4 89)	23.40 (4.33)	5.92	6.50	05 व 01
9	100	26 44 (6.37)	28 90 (5.36)	2.26	1.93	निरर्थक
10	100	23 88 (6.18)	22.10 (7 24)	1 78	1.31	निरर्थक
सयुक्त	500	24.14 (6.29)	23.06 (5.99)	1.08	2 04	.05

नोट—कोष्ठक ( ) मे प्रामाणिक विचलन दिया हुआ है।

ग्रामीण छात्र-छात्राओ के राजनीतिक ज्ञान का प्रामाणिक विचलन भी मध्यमान के समान किसी एक निश्चित दिशा मे नहीं है। कक्षा 6, 8 व 9 मे छात्राओं का और कक्षा 7 व 10 में छात्रो का प्रामाणिक विचलन कम आया है। ग्रामीण छात्रो की तुलना मे छात्राओ के मध्यमान के पीछे शायद उनका घर के कार्यों मे समय देने के साथ आवश्यक राजनीतिक ज्ञान की वृद्धि करने के आवश्यक साधनो का उपयोग कम करना हो सकता है। छठी से दसवी कक्षा तक छात्र-छात्राओ के मध्य क्रान्तिक अनुपात देखने से पता चलता है कि आठवी कक्षा को छोडकर शेष कक्षाओ के छात्र-छात्राओ के मध्य क्रान्तिक अनुपात निरर्थक पाया गया। आठवी कक्षा में छात्राओं की तुलना मे छात्रो का मध्यमान अधिक आया है और दोनो के मध्य यह अन्तर 05 व .01 दोनो ही स्तरो पर सार्थक पाया गया है। सम्पूर्ण ग्रामीण छात्र-छात्राओ के मध्य क्रान्तिक अनुपात भी .05 स्तर तक सार्थक पाया गया। जिसमे भी छात्राओ की तुलना मे छात्रो के राजनीतिक ज्ञान का मध्यमान अधिक आया है।

यह विश्लेषण न्यादर्श के ग्रामीण छात्र-छात्राओ के अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। इस विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आये है .

1. ग्रामीण छात्रो मे कक्षा 6 से 8 तक राजनीतिक ज्ञान मे उत्तरोत्तर वृद्धि पाई गई लेकिन नवी व दसवी कक्षा मे राजनीतिक ज्ञान मे गिरावट देखी गई।

2. ग्रामीण छात्राओ मे भी इसी प्रकार कक्षा 6 से लेकर नवी कक्षा तक राजनीतिक ज्ञान मे वृद्धि होती हुई पाई गई लेकिन दसवी कक्षा के राजनीतिक ज्ञान मे कमी पाई गई।

3 ग्रामीण छात्र-छात्राओ की बडी कक्षाओ मे राजनीतिक ज्ञान का कम होना शायद दसवी कक्षा की परीक्षा की तैयारी करना, कारण हो सकता है।

प्रौढ़ शिक्षा में खेलकूद

□ बृजेन्द्र सिंह

प्रौढ़ शिक्षा का सामान्य अर्थ है ऐसे व्यक्ति की शिक्षा जिसकी आयु 15 वर्ष से अधिक है और जिसने इससे पूर्व कभी भी अक्षर ज्ञान नहीं लिया है। हमारे देश में साक्षरता का प्रतिशत अत्यंत कम है। 1931 से साक्षरों का प्रतिशत बढा है। सबसे अधिक साक्षरता केरल में, सबसे कम जम्मू काश्मीर में है। संविधान के नीति निर्देशक तत्वों के आधार पर 1960 तक 14 वर्ष तक के बालकों की शिक्षा पूर्ण करनी थी। 5 अप्रैल 1977 मे भारत के शिक्षा मंत्री ने यह घोषणा की थी कि आगे आने वाली पीढ़ी में कोई निरक्षर नहीं रहेगा। परन्तु प्रौढो के लिए मैदान विद्यालय से बढ़कर होता है। प्रौढों को शारीरिक शिक्षा के माध्यम से ही अनुरंजित कर साक्षर बनाया जा सकता है।

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार मे परिवर्तन लाना है जो कुशल व्यवहार कहलाता है। स्वतत्रता मिलने के पश्चात् देश में प्रौढ़ शिक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर है और राजस्थान मे विशेष रूप से। इसके फलस्वरूप निरक्षरों का औसत प्रतिशत कम हो रहा है। देश की ग्रामीण जनता की दशा का अवलोकन करने पर गरीबी को देखते हुए लोग अशिक्षित रह ही जाते हैं क्योकि उन के समक्ष पेट पालन की समस्या प्रमुख है।

यह सत्य है कि शिक्षा के अभाव मे कोई भी देश उन्नति नही कर सकता है और न प्रगतिशील हो सकता है। एडिसन ने यह कहा था कि लोकतन्त्र के लिए शिक्षा अनिवार्य है और देश मे शिक्षा का स्वरूप आवश्यकतानुसार प्रौढ शिक्षा की ओर अनिवार्य हो गया है।

शिक्षा के अभाव मे एक मनुष्य की आत्मा खदान मे पड़े उस सगमरमर के खण्ड के सदृश्य है, जिसका आतरिक सौन्दर्य तब तक प्रस्फुटित नहीं हो सकता जब तक पोलिशगर अपनी कुशलता से उसके रंगो मे निखार नही लाता। प्रौढ़ो का पोलिशगर शिक्षक है और प्राइमरी शिक्षक विशिष्ट है।

प्रौढ़ शिक्षा क्या है ?

प्रौढ शिक्षा का सामान्य अर्थ है ऐसे व्यक्ति की शिक्षा जिसकी आयु 15 वर्ष से अधिक है और जिसने इससे पूर्व कभी भी अक्षर ज्ञान नही लिया है। हमारे देश मे साक्षरता का प्रतिशत अत्यत कम है। 1931 से साक्षरो का प्रतिशत बढ़ा है। सबसे अधिक साक्षरता केरल मे, सबसे कम जम्मू काश्मीर में है। सविधान के नीति निर्देशक तत्वों के आधार पर 1960 तक 14 वर्ष तक के बालको की शिक्षा पूर्ण करनी थी। 5 अप्रैल 1977 मे भारत के शिक्षा मत्री ने यह घोषणा की थी कि आगे आने वाली पीढ़ी में कोई निरक्षर नही रहेगा। यह ससदीय भाषण का अश है और तभी से देश मे राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया है। इस कार्यक्रम ने तीन बातो पर जोर दिया है।

1. साक्षरता
2. सामाजिक जागरूकता
3. कार्यक्षमता एवं खेलकूद

साक्षरता

इस कार्य का पाठ्यक्रम 350 घण्टो का होगा जो एक वर्ष मे पूरा होगा। यह पहले शिक्षको को दिया गया था जो सतोषजनक नही रहा। पर इसके अनुदेशको की नियुक्तिया की जाने लगी और कार्य मे प्रगति आई है। इस कार्य को करने वाले वास्तव मे धन्यवाद के पात्र हैं।

कार्यक्रम निम्न प्रकार से चलाया जा सकता है

शिक्षा के कालांश एक साथ चलेगे। समय विभाजक चक्र निम्न प्रकार गठित किया जा सकता है जो निरक्षरो की टोली बनाकर कार्य करें।

1. उस स्थान की सफाई जहां केन्द्र चलता है।
2. प्रार्थना उपस्थिति टोली बनाकर।
3. स्वास्थ्य चर्चा टोली बनाकर।
4. अंकगणित कक्षानुसार।
5. सामाजिक ज्ञान टोली बनाकर।
6. भाषा शिक्षण टोली बनाकर।
7. खेलकूद शारीरिक शिक्षा टोली बनाकर।
8. नैतिक शिक्षा सामूहिक।

प्रौढ़ों के लिए शारीरिक शिक्षा एवं खेलकूद

देश मे कार्यक्षमता उत्पन्न कार्यक्रम शारीरिक शक्ति प्रदत्त है। इसके लिए प्रौढो मे खेलकूद, अनुरजन की व्यवस्था आवश्यक रूप से की जाये। जीवन मे खेलकूद अनिवार्य है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सुख भी चाहता है तो यह सुख, स्वास्थ्य, निरोगता और श्रम से मिलेगा। यदि देश मे व्याप्त आलस्य को दूर कर सकते हैं तो केवल शारीरिक शिक्षा, श्रम, त्याग।

आज देश को स्वस्थ मस्तिष्क की आवश्यकता है इसलिए सरकार सभी प्रकार से देश के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देकर खेलकूद को बढ़ावा दे रही है। युवा शिक्षको से, प्रौढ अनुदेशको से यह अनुरोध है कि वे प्रौढों के लिए बढिया शिक्षा के परिवेश मे खेल को एक माध्यम सहायक सामग्री का स्वरूप बना चले। खेल के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाये। प्रौढों के लिए मैदान विद्यालय से बढकर होता है। प्रौढो को शारीरिक शिक्षा के माध्यम से ही अनुरजित कर साक्षर बनाया जा सकता है।

प्रौढो को साक्षर बनाने से पहले दिन भर की थकान से मुक्त करके अतिरिक्त शक्ति के सिद्धान्त के अन्तर्गत निम्न प्रकार खेलकूद-अनुरंजन की व्यवस्था की जाये—

1. **प्रारम्भिक क्रिया और व्यायाम**—दौड़ना, उछलना, कूदना, आगे पीछे कूदना, पंजो के बल चलना, जानवरो की चाल, आदि।

2. **साधारण व्यायाम**—हाथ, सिर, कमर, पैर, दण्ड बैठक, सूर्यनमस्कार आदि।

3. **योगासन**—सर्वागासन, वज्रासन, पद्मासन, भुजंगासन, शीर्षासन, शवासन, सूक्ष्म व्यायाम, आदि।

4. **बड़े खेल**—कबड्डी, खो-खो, कुश्ती, रस्साकशी आदि।

5 **लघु खेल**—नेता का पता लगाना, साप की पूछ, चूहा-बिल्ली, रिलेदौड, अन्दर-बाहर, थम्स अप, थम्स डाउन, आदि।

6. **द्वन्द्व खेल**—लादना, खींचना, तीन टाग की दौड, कुश्ती, आदि।

7. **मनोरंजन**—सामूहिक गायन, सरस्वती वन्दना, सारे जहा से अच्छा, गुरु वन्दना, राष्ट्रीय गीत, भ्रमण, पिकनिक, पहाड़ पर चढ़ना, लोक नृत्य आदि।

प्रौढ़ो को साक्षर बनाने वाले प्राथमिक शिक्षक अनुदेशको से अपील—

निरक्षर से साक्षार बनाने वाले और इस पवित्र कार्य को करने वाले सभी धन्यवाद के पात्र है। हम यह जानते है, जो निरक्षर है। वे अपना समस्त कार्य विधि-वत नही कर रहे हैं यदि वे साक्षर हो जाते है तो उस कार्य में और भी आकर्षण आयेगा। इसलिए देश को सुदृढ़ बनाने के लिए साक्षरता अनिवार्य है। यदि देश के इस पवित्र कार्य मे निष्ठा से योगदान मिलता रहेगा तो भारत से निरक्षरता मिट जाएगी। आपको क्या करना है ? इसकी रूप रेखा तैयार कर ले। आदेशो का पालन करे। नशा निषेध हो जिससे देश की कार्य कुशलता आकर्षक बनी रहे। कर्तव्य की भूमिका मे साक्षरो का रिकार्ड रखा जाये। पर्यवेक्षण का कार्य भी विधिवत हो। साक्षर बनने के बाद वह क्या कर रहा है इसकी जानकारी का रिकार्ड भी रखा जाये। वार्षिक मूल्याकन का रिकार्ड, उसका प्रदर्शन प्रत्येक केन्द्र पर होगा।

इस कार्य मे हम सभी आशावादी दृष्टिकोण लेकर चले तो देश का हित होगा और नैतिक मूल्यों मे दृढ़ सकल्प होगा तभी यह कार्य आकर्षक बना रहेगा। आशा है यदि प्रत्येक साक्षर एक-एक निरक्षर को लेकर साक्षर बनाए तो देश का हित होगा। यही देश की अमूल्य धरोहर होगी। □□

मूल्यांकन का सही साधन

□ प्रो० बैजनाथ शर्मा

मूल्यांकन प्रक्रिया को अधिक सार्थक, प्रभावी और निष्पक्ष बनाने की दृष्टि से समय-समय पर जो चिन्तन किया गया, जो परिवर्तन किया गया, उस पर यदि विचार किया जाए तो हम देखेंगे कि सदियों से चली आ रही पुरानी निबधात्मक परीक्षाओं को कम करके वस्तुनिष्ट परीक्षणों पर इसलिए बल दिया गया कि निबंधात्मक परीक्षाएं उन गुणों से रहित थीं जो एक अच्छे परीक्षण में होने चाहिएं, हालांकि वस्तुनिष्ट परीक्षाओं में उन सभी गुणों की ओर देखा गया, उनकी कमियो की ओर शायद झांका भी नही गया।

शिक्षा का निरन्तर गिरता हुआ स्तर, राजनीतिज्ञो और शिक्षाविदों आदि सभी की सामूहिक समस्या है। इसलिए शिक्षा की नई नीति निर्धारित करते समय कई दृष्टिकोणो से विचार किया गया है ताकि समस्या का कोई समाधान खोजा जा सके। मूल्यांकन प्रक्रिया एव परीक्षा-सुधार की दृष्टि से इनकी शिक्षा मे उपादेयता एवं महत्व को स्वीकार करते हुए बिन्दु 8.24 मे लिखा है ····· इस परिवर्तन से मूल्यांकन की एक मान्य, प्रामाणिक एव विश्वस्त विधि सामने आयेगी जो छात्रो के विकास का तो आकलन करेगी ही, शिक्षण अधिगम विधियों के सुधार का एक शक्तिशाली उपकरण भी बनेगी। पुन: क्रियात्मक रूप का आशय स्पष्ट किया गया है। आगे बाह्य और आन्तरिक दोनो ही प्रकार के मूल्यांकन पर बल देने की बात भी कही गई है। परन्तु इस बात का उल्लेख कहीं नही है कि मूल्यांकन या परीक्षा का स्वरूप क्या होगा ? हां, सेमस्टर प्रणाली और अकों के स्थान पर श्रेणियो की बात अवश्य कही गई है। परन्तु परीक्षा का आधार किस प्रकार के प्रश्न होंगे—निबधात्मक-लघुतात्मक या वस्तुनिष्ठ—इस बात का उल्लेख कही नहीं है जबकि व्यापक मूल्याकन की दृष्टि से विचार किया जाये तो क्रियाओ के अतिरिक्त प्रश्नो का अपना एक महत्व है। भाषायी और सामाजिक विज्ञान के विषयों के मूल्याकन मे तो ये प्रश्न अपरिहार्य है, चाहे उनका प्रकार कुछ भी हो।

अत: मूल्याकन और परीक्षा प्रणाली में सुधार की

दृष्टि से दो-तीन बातो पर विचार किया जाना नितान्त आवश्यक है—

1 परीक्षण के प्रश्न होगे कि उनके आधार पर ही ली गई परीक्षा के गुण—वस्तुनिष्टता, विश्वसनीयता, वैधता, व्यापकता, एव विभेदकारिता आदि मे से सभी या अधिक से अधिक सन्निहित हो।

2 रटने या कठस्थ करने की प्रवृत्ति को बढावा न देकर किसी विद्यार्थी ने अर्जित ज्ञान को कितना समझा और आत्मसात् किया है—इस बात के मूल्याकन से सम्बन्धित हो।

3. नकल करने की प्रवृत्ति को बढावा न दे।

मूल्याकन प्रक्रिया को अधिक सार्थक, प्रभावी और निष्पक्ष बनाने की दृष्टि से समय-समय पर जो चिन्तन किया गया, जो परिवर्तन किया गया, उस पर यदि विचार किया जाए तो हम देखेगे कि सदियो से चली आ रही पुरानी निबन्धात्मक परीक्षाओं को कम करके वस्तुनिष्ठ परीक्षणो पर इसलिए बल दिया गया कि निबन्धात्मक परीक्षाए उन गुणो से रहित थीं जो एक अच्छे परीक्षण में होने चाहिए, हालाकि वस्तुनिष्ठ परीक्षाओ में उन सभी गुणो की ओर देखा गया, उनकी कमियों की ओर शायद झाका भी नही गया।

सम्भवत: इस बात पर बिल्कुल विचार नही किया गया कि इस प्रकार की परीक्षाओ से पूर्व परीक्षार्थियों मे नैतिकता का विकास करना आवश्यक है ताकि वे परीक्षा मे अनुचित साधन न अपनाएं, नकल करने और कराने से कोसो दूर रहे। पर नैतिकता का विकास परीक्षा मे सुधार की अपेक्षा कही अधिक कठिन है। अत: हमे तो ऐसे साधन की तलाश करनी है जो नकल करने की प्रवृत्ति से किसी भी प्रकार प्रभावित न हो।

पुन इस बात पर भी विचार नही किया गया कि अभिव्यक्ति के अभाव में हमारा कोई भी काम चलना असम्भव सा ही है। शिक्षण और अधिगम के ही लिए नहीं अपितु विभिन्न संस्थानों के कर्मचारियों द्वारा अपनी बात दूसरो तक पहुंचाने और अच्छी बात स्वय समझने के लिए भाषा ही एक सर्वाधिक सरल माध्यम है। इस माध्यम के बिना हमारा काम चल ही नही सकता। भाषा के अभाव में मनुष्य निरा पशु है। उसकी दुनिया वही है जो सृष्टि के आदि मे थी

यह सही है कि भाषा, चाहे वह कोई भी भाषा क्यो न हो, विचार विनिमय का एक सबल और प्रभावी साधन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब उसका शुद्ध रूप हमारे सामने आये। इसलिए हर भाषा की अपनी ध्वनिया है, ध्वनियो के अपने रूप और रूपो के अपने अर्थ। यहा भाषा का विज्ञान है, यहा उसका व्याकरण। किसी भाषा का व्याकरण ही यह निश्चित करता है कि भाषा मे वाक्यो का, वाक्यो मे शब्दो का, और शब्दो मे वर्णो का तथा वर्णो मे ध्वनियो का क्या महत्व है। वाक्यो में शब्दों का स्थान बदल जाने से और शब्दो मे वर्णो का स्थान बदल जाने से अर्थ ही बदल जाया करता है। इसलिए व्याकरण सम्मत भाषा ही शुद्ध भाषा है और भाषाई नियमो का ही दूसरा नाम व्याकरण है। इन नियमो के टूटने पर भाषा का कोई अर्थ ही नही रहता। वस्तुनिष्ठ परीक्षणों का एक यह भी बहुत बडा दोष है कि भाषा को विकृत कर अभिव्यक्ति को नष्ट कर देते है। ऐसी ही अभिव्यक्ति के कुछ नमूने है—

"ईसा मसीह सो जब बुरी बात होती थी तब वह अपनी बात को छुपा कर रखता था और किसी को सुनाता था।"

> "यदि चन्दू सेठ से धन ले लेता तो हम उसे भ्रष्टाचारी मनुष्य कहते और उसे जेल मे पकडवा देते और उसे बेईमान व्यक्ति की नजर में रखते।"

> "जब चन्दू, सेठ जी को दिये जाने वाले धन को स्वीकार कर लिया था। हमारे भी मन में आता और कोई अवसर होते जैसे चन्दू बाबू साहब थे।"

> "प्रसाद बाबू ने डेयरी खोल दी उसमें से बहुत सी गायो का दूध जाता था। प्रसाद बाबू ने मित्र का आने को कहा। परन्तु वे आ गये।"

इसी प्रकार के और भी अनेकों ऐसे उत्तर हैं जो माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर की सेकेण्डरी

परीक्षा के हिन्दी (अनिवार्य) विषय मे परीक्षार्थियो ने दिये थे और जिन्हे परीक्षार्थी तो समझ सकता है, परीक्षक प्रयत्न करने पर भी शायद ही समझ पाये । परन्तु परीक्षक उनकी बात को समझे या न समझे वस्तुनिष्ठ परीक्षण मे प्राप्त अंको के आधार पर उन्होंने इस विषय की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है । सम्भव है अन्य विषयों मे भी वस्तुनिष्ठ परीक्षणो का प्रसाद उनके लिए प्रभावी बनकर वरदान बन गया हो । बाद मे समूची परीक्षा मे भी उत्तीर्ण होने मे यह अस्त्र आगे भी काम आया हो । अच्छी डिग्रिया भी प्राप्त की हो और किसी विभाग मे अंको के आधार पर नौकरी भी मिल गई हो । नौकरी मे इनकी भूमिका क्या होगी, कितने लोगो को इनसे लाभ होगा और कितनो को परेशानी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । इस सबका दोष या तो शिक्षक के माथे मढा जाएगा या फिर शिक्षा व्यवस्था के । किसी को क्या पता कि यह सब करामात वस्तुनिष्ठ परीक्षको की है । वस्तुनिष्ठ परीक्षण अभिव्यक्ति के लिए अभिशाप बन गये हैं ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नो से सम्बन्धित सभी सत्य को दर्शाने हेतु आगे एक तालिका दी गई है जिसमे विभिन्न श्रेणियो मे उत्तीर्ण तथा अनुत्तीर्ण परीक्षार्थियों के वास्तविक अंक दिये हुए है । परीक्षार्थियो का चयन यह इच्छिक प्रतिचयन के द्वारा किया गया है ।

तालिका को देखने से कई सत्य सामने आते है—

1. द्वितीय केन्द्र के कई परीक्षार्थी प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त करने से इसलिए वंचित रह गये क्योकि शायद उन्होने नकल करना उचित नही समझा ।
2. प्रथम केन्द्र पर सभी श्रेणियो मे उत्तीर्ण परीक्षार्थियो का औसत लगभग समान है जिसके कई सम्भावित कारण बताये जा सकते है, यथा—नकल कराई गई, व्यापक रूप मे नकल की गई, सभी परीक्षार्थी स्तर की दृष्टि से समान है आदि-आदि ।
3. प्रथम केन्द्र पर तृतीय श्रेणी "र" मे उत्तीर्ण परीक्षार्थियो के वस्तुनिष्ठ प्रश्नो में अंको का औसत प्रतिशत 61.3 प्रतिशत है । जबकि अभिव्यक्ति प्रधान प्रश्नो मे अर्जित अंको का प्रतिशत मात्र 22.3 प्रतिशत अर्थात् वस्तुनिष्ठ प्रश्न न होते तो ये परीक्षार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण भी नही होते ।
4. प्रथम केन्द्र पर लगभग प्रत्येक श्रेणी मे वस्तुनिष्ठ प्रश्नों मे अर्जित अंकों का प्रतिशत लघुतात्मक प्रश्नो मे अर्जित की अपेक्षा अधिक है ।
5. द्वितीय केन्द्र पर भी अनुत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियो ने नकल करने का प्रयास किया है, प्रयास मे सफलता भी मिली है परन्तु फिर भी उत्तीर्ण नहीं हो पाये है । वस्तुनिष्ठ प्रश्नो मे इनके भी 43.2 प्रतिशत अंक आये है जबकि लिखित परीक्षा मे केवल 10.6 प्रतिशत अंक ।

इसी प्रकार इस तालिका के आधार पर और भी अनेक सत्यों को उद्घटित किया जा सकता है और उन सभी सत्यो का सार है—

वस्तुनिष्ठ परीक्षण अभिव्यक्ति के लिए ही अभिशाप नही कार्यकुशलता के लिए भी अभिशाप है और इनके स्थान पर अभिव्यक्ति प्रधान प्रश्न ही परीक्षा के लिए सर्वोत्तम सिद्ध हो सकते हैं । इसका आशय यह नही कि निबन्धात्मक परीक्षण अच्छे हैं । उनमे भी अपनी कमिया है और इन दोनो प्रकार के परीक्षण की कमियो को यदि किसी सीमा तक कम किया जा सकता है तो वे है—लघुतात्मक प्रश्नो पर आधारित परीक्षण जिनमे एक अच्छे परीक्षण के गुण भी हैं और अभिव्यक्ति भी । □ □

वेदान्त शिक्षा दर्शन

☐ हरी शंकर शर्मा

मनुष्य ब्रह्म का एक अश मात्र ही शाश्वत सत्य सुन्दर है परन्तु अज्ञान के कारण अनभिज्ञ है इसी कारण जीवन में दुखी है। प्रयास के समय आत्मा अपने सांसारिक अनुभवों को वढाती है और शाश्वत व अन्तिम मूल्य सत्यं शिवम् सुन्दरम् का बोध कराती है। शिक्षा के द्वारा ही उपरोक्त मूल्यों की प्राप्ति की जा सकती है। अन्य भारतीय दर्शनों की भांति वेदान्त दर्शन के अनुसार भी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य विद्यार्थी को अज्ञान से मुक्त करना है जिससे कि वह विद्या व अविद्या मे अन्तर जान सके।

समाज पारस्परिक सबधो से बधा हुआ है अर्थात समाज व्यक्तियो का समूह है और व्यक्तियों द्वारा ही बना है। व्यक्ति को शिक्षा के माध्यम से शिक्षित किया जाता है। शिक्षित व्यक्ति ही एक साथ मिलकर एक सभ्य समाज का निर्माण करते हैं। शिक्षा हर प्रकार से एक व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है जिसमें बौद्धिक, शारीरिक, चारित्रिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक विकास निहित है। इन सभी के प्रादुर्भाव से व्यक्ति समाज के योग्य बनता है। बालक अनेक प्रकार की शक्तियां लेकर जन्म लेता है। उनका विकास सामाजिक वातावरण मे ही होता है। सामाजिक विशेषताओ का प्रभाव बालक के मन पर पडता है और आज के युग मे व्याप्त अनेक सामाजिक समस्यायें भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, बेकारी, निर्धनता, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, अनुशासनहीनता आदि अनेक प्रकार की बुराइया दिन-प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। अनुसरण का भी प्रभाव बच्चे पर पडता है, इन सभी मे शिक्षा प्रभावित है और व्यक्ति भी।

आधुनिक समाज का स्वरूप—व्यक्ति मे ही समाज के मूल को बाधने की शक्ति विद्यामान होती है। यह व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जो सामाजिक रीतियो तथा परम्पराओ के सूत्र मे बधा हुआ है इसलिए प्रत्येक समाज मे ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे समाज के नये सदस्य अपनी परम्पराओ व नियमावलियो से परिचय प्राप्त करते चले। आज हमारे दैनिक जीवन का "समाज" एक सामान्य शब्द है। समाज शब्द का

प्रयोग समूहो के या मानव समुदायो के लिए है जैसे— आर्य समाज, सेवक समाज, ब्रह्मसमाज आदि विभिन्न रूपो मे किया जाता है इन्ही रूपो मे हम समाज को एक व्यवस्था के रूप मे स्वीकार करते है, आज हम कृषक समाज या मजदूर समाज को लेते है तो हमारा अभिप्राय किसी विशिष्ठ वर्ग या मनुष्यो को सम्मिलित करने से है। मानव की स्वभावगत विशेषताओ के फलस्वरूप ही समाज का जन्म हुआ है समाज के अन्दर सबधो के अनेक रूप देखने को मिलते है जैसे—भाई-बहन माता-पिता आदि ये सभी मिलकर परिवार की रचना करते है। इसी प्रकार किसी कस्बे, गाव मे रहने वाले लोगो से अनेक प्रकार से सम्बन्ध विकसित हो जाते है। तथा व्यक्ति धार्मिक क्रियाओ एव आमोद-प्रमोद मे भी भाग लेता है। इससे सामूहिकता की प्रवृत्ति निरन्तर अनेक सम्बन्धो को जन्म देती है। व्यक्ति के सम्बन्ध हमेशा एक से नही रहते क्योकि इनमे समयानुसार विचार मूल्यो, धारणाओ मे परिवर्तन आता रहता है। भारत का आधुनिकीकरण का कार्य था जिससे भारतीय सामाजिक जीवन का प्रत्येक पहलू प्रभावित हुआ। साथ ही नवभारत मे कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन भी हुए है।

1. राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, जाति, वश, लिग तथा जन्म स्थान के आधार पर भेद नही करेगा।

2. अस्पृश्यता को समाप्त करेगा।

3. राज्य सामाजिक आर्थिक राजनैतिक, राष्ट्रीय जीवन का सभी सस्थाओ को परिवर्तन का एक माध्यम बनायेगा।

4. स्त्रियो को परिवार की सम्पत्ति पर अधिकार दे देना आदि से स्पष्ट होता है कि यह स्वरूप आधुनिक समय में दृष्टिगोचर हो रहा है। आधुनिक समाज के उपरान्त अब यह देखना चाहिए कि वेदान्त के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य व आदर्श क्या है ? तभी वेदान्त दर्शन की सार्थकता देखी जा सकती है। भारतीय चिन्तन का चरम उत्कर्ष वेदान्त मे मिलता है। वेदान्त दर्शन के आदि प्रवर्तक शकराचार्य जी थे।

मनुष्य ब्रह्म का एक अश मात्र ही शाश्वत सत्य सुन्दर है परन्तु अज्ञान के कारण अनभिज्ञ है इसी कारण जीवन मे दुखी है। प्रयास के समय आत्मा अपने सांसारिक अनुभवो को बढाती है और शाश्वत व अन्तिम मूल्य सत्यं शिवम् सुन्दरम् का अनुभव कराती है। शिक्षा के द्वारा ही उपरोक्त मूल्यो की प्राप्ति की जा सकती है। अन्य भारतीय दर्शनो की भाति वेदान्त दर्शन के अनुसार भी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य विद्यार्थी को अज्ञान से मुक्त करना है जिससे कि वह विद्या व अविद्या मे अन्तर जान सके।

अविद्या क्या है ? इसे ज्ञान के द्वारा मिटाया जा सकता है ? अविद्या के कारण ही हम इस जगत को सम्पूर्ण मान लेते है इसके पीछे निहित सत्ता को नही पहिचानते तथा उपादान को उद्गम मान लेते हैं। सृष्टि मे विभिन्नताओ व विशेषताओ के दर्शन करते है। इसी को अविद्या कहते है। सृष्टि को शिक्षा अविद्या से मुक्त करके मनुष्य को सद्भाव की ओर प्रेरित करती है, सृष्टि के भीतर बैठकर हम ब्रह्म को नही देख पाते है वरन् देखते हैं उसके विक्षेपित रूप को।

मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त करने की तैयारी के रूप मे चार सोपानो का उल्लेख शकराचार्य ने किया है– शंकराचार्य के मतानुसार—ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी वह है जिसने पहले साधन चतुष्टश प्राप्त कर लिया है यही शिक्षा के लक्ष्य कहे जा सकते है जो क्रमश मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

प्रथम साधन—नित्य अनित्य मे वस्तुविवेक। मुमुक्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है, नित्य और अनित्य पदार्थों मे विवेकपूर्ण भेद कर सकना।

द्वितीय साधन—इहामुतार्थ भोग विराग. । विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तृष्णा का त्याग आवश्यक है अत: लौकिक एवं पारलौकिक भोगो की कामना से विरक्ति।

तृतीय साधन—शमदमादि साधन। संवता इसमे छ: प्रकार के सयम आते हैं, मन का सयम, इन्द्रियो पर नियन्त्रण, श्रद्धा, चित्त को ज्ञान प्राप्ति की साधना मे लगाना, विरति, तितिक्षा।

चतुर्थ साधन—मुमुक्षत्व—उपर्युक्त तीनो साधनो की प्राप्ति के बाद साधक को दृढ़ सकल्प करना चाहिए। इसीलिए वेदान्त मे भी अन्य दर्शनों की भाति मुक्ति

के साथ ही जीवन मुक्ति की कल्पना की गई है। ज्ञान प्राप्त कर लेने से यह ससार नष्ट नही होता परन्तु मिथ्या लगने लगता है। मुक्त आत्मा को किसी वस्तु की आकाक्षा नही होती परन्तु निर्लिप्त भाव से वह कर्म अवश्य करता है। सत्कर्म उसके व्यक्तित्व का सहज स्वभाव बन जाता है।

शिक्षा के अभाव मे जो पशु तुल्य जीवन है इससे ऊपर उठकर विवेक पूर्ण जीवन जीने की कला सिखाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वेदान्त के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन को उच्चतर आदर्श के अनुरूप पुन. संगठित करने की कला सिखाना है। जीवन को निष्क्रिय न बना कर उच्च व पूर्ण बनाना है।

वर्तमान शिक्षा मे जीवन-यापन के लिए ब्रह्म क्रिया का समावेश अति आवश्यक है, जबकि आज हमारी शिक्षा मे ब्रह्म क्रिया लुप्त हो चुकी है। इस तथ्य मे कोई शंका नही कि शिक्षा पद्धति और मनुष्य का जीवन तप, सयम और परिश्रम पर गहन रूप से आधारित होना चाहिए। बिना इसके मानव न तो भौतिक सुखो की प्राप्ति कर सकता है जबकि जीवन का ध्येय निष्काम कर्म माया-मोह रहित है। प्राचीन भारतीय शिक्षा विश्व के समस्त मानवो तथा सृष्टि कर्ताओ को ध्यान मे रखकर प्रजा-तान्त्रिक समाज प्रक्रिया के आधार पर दी जाती थी। आत्मा को ब्रह्म के समान शक्तिमान, सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी माने बिना लोकतन्त्र का मौलिक अधिकार व्यक्ति की गरिमा का कोई अर्थ नही रखता। अध्यापक के लिए बालक के व्यक्तित्व के आदर करने की बात वेदान्त के अतिरिक्त और कौन-सा दर्शन इतनी दृढता के साथ कह सकता है? यदि शिक्षा को लोकतान्त्रिक भावना का चरितार्थ करना है तो वेदान्त का सहारा लेना ही पड़ेगा।

स्वतन्त्रता के नाम पर आज उच्छृंखलता फैलती जा रही है क्योकि एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता का अभिशाप बन जाती है। आज स्वतन्त्रता का अभिप्राय है—नियन्त्रण का अभाव, ऐसी मनोवृत्ति से अनुशासनहीनता बढती है। वेदान्त मे स्वतन्त्रता तथा अनुशासन को एक दूसरे का पूरक माना है। वेदान्त मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रथम शर्त आत्मसयम है, वेदान्तिक स्वतन्त्रता हीन कोटि की ही नही वरन् मुक्ति का दूसरा रूप है जिसकी तरफ मनुष्य निरन्तर अग्रसर हो सकता है। आज विद्यालयो मे शिक्षा के समान अवसर सबको नही मिल पाते। आवश्यकता इस बात की है कि लोग दार्शनिक एव भावात्मक रूप ग्रहण करे। सभी मे एक ब्रह्म है अत: सभी बालक एक समान हैं जब तक यह विचार जीवन का एक अग नही बन जाता तब तक व्यवहार मे असमानता बनी रहेगी।

वेदान्त जीवन को श्रेष्ठकर बनाने के लिए व्यक्तित्व के रूपान्तरण पर बल देता है तथा पाशवीय वृत्तियो से मुक्त कर आदर्श मनुष्य बनाता है। सही अर्थों मे मानवो-चित गुणो से युक्त करना है तो वेदान्त का इस दृष्टि से अनुपम योगदान और क्या हो सकता है? □□

आपका व्यक्तित्व : विकास के सूत्र

□ लाला हरदयाल

बौद्धिक विकास की आवश्यकता

यह आपका कर्त्तव्य है, कि आप अपने मस्तिष्क को प्रशिक्षित करे, उसका विकास करें, ज्ञान का अधिक से अधिक संचय करे। ज्ञान एक गहरे कूप के समान है, जिसका स्रोत अजस्र है। आपका मस्तिष्क एक बाल्टी या गागर के समान है। जितना बडा आपका पात्र होगा, उतना ही जल आप कूप से खींच सकेंगे। मन का शारीरिक अंग मस्तिष्क है। अपने मूल रूप से विकसित होते-होते, मानव-रूप ग्रहण करने पर मानव ने जो दो विशिष्ट वस्तुए प्राप्त की है, मन उन्हीं मे से एक है, और दूसरी वस्तु है—सामाजिक भावना। यह विचित्रतापूर्ण मस्तिष्क, जिसकी प्रत्येक सलवट लाखो वर्षों के क्रमिक विकास की सूचक है, यह वस्तुत. आपको अन्य पशुओ से पृथक् करता है। बहुत-से पशुओ मे बहुत शक्तिशाली इन्द्रिया पाई जाती है, चील, चीटी और कुत्ते मे मनुष्य की अपेक्षा अधिक चेतना पाई जाती है। किन्तु किसी भी पशु का मानव से अधिक मस्तिष्क नही है और न ही उससे ऊंची बुद्धि किसी प्राणी के पास है। यदि आप अपने मस्तिष्क का प्रयोग उसकी अधिकतम सामर्थ्य के अनुसार नहीं करते, तो आप पशुओ के समान ही है।

ज्ञान तथा मानसिक आत्म-सस्कार से आप पर अवर्णनीय वरदानो की वर्षा होगी। इससे आप धर्म और राजनीति के बारे मे अधविश्वासो और रूढियो के दास नही रहेंगे। तब आप अपने कर्त्तव्य को पहचानेगे और उसे पूर्ण करेगे। तब आप धर्म तथा राजनीति के विषय में समझदार और स्वतन्त्र हो जाएंगे। तब आपको स्वार्थी पडे-पुजारी और पूजीवादी एव तथाकथित साम्यवादी, राजनीतिज्ञ, षड्यन्त्रकारी न तो धोखा दे सकेंगे और न ठग सकेंगे। क्या यह एक उद्दात उद्देश्य नही कि जिसके लिए प्रयत्न किया जाए ? आज अधिकाश मनुष्य न तो स्वतन्त्र है और न बुद्धिमान्। वे पतगो के समान हैं, जिनकी डोर या तो पडे-पुजारियो के या राजनीतिज्ञो के हाथो मे होती है। विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा अन्य विषयो से अनभिज्ञ होने के कारण वे ठगे तथा मूर्ख बनाए जाते है। मानव जाति के कष्टो का आधा भाग अज्ञान के कारण ही है और इनका दूसरा आधा भाग अहकार के कारण है। ज्ञान पूरी तरह उतना ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि नैतिकता यानी आचार-सबंधी विज्ञान। ये दोनो वस्तुत: अन्योन्याश्रित हैं। जैसा कि लेसिंग का कथन है, "ज्ञान का उद्देश्य

है सत्य, और सत्य आत्मा की आवश्यकता है।" फारसी के कवि सादी ने जोर देकर कहा है कि सभी को ज्ञान-प्राप्ति के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए—ज्ञान की साधना मे तू फौलाद की भाति पिघल जा, तभी तू उसके साचे मे ढल सकेगा। ज्ञान पाने के लिए चाहे तुझे सारे ससार मे भ्रमण करना पडे, तो भी तू मत घबरा। यह तेरा कर्त्तव्य है।

ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने अनन्त सघर्ष मे आपको अवश्यमेव नियमित रूप से तथा विधिपूर्वक प्रयत्न करना पडेगा। प्रतिदिन अपने समय का एक निश्चित भाग आपको अध्ययन अथवा परीक्षण-प्रयोग मे लगाना पड़ेगा। आप अपने शरीर को दिन मे कई बार खुराक देते है; किन्तु अपने मस्तिष्क को भूखा मत रखिए। अपने पास एक दैनन्दिनी रखिए, जिसमे आप नई पुस्तको के नाम अकित करते रहिए। पुस्तक-विक्रेताओ से नई-पुरानी पुस्तको के सूचीपत्र प्राप्त कीजिए। दूकानो पर सस्ती पुरानी पुस्तको के लिए चक्कर लगाइए। अपनी एक स्वतन्त्र लाइब्रेरी बनाइए, चाहे वह कितनी ही छोटी हो। उन पुस्तको पर गर्व कीजिए, जो आपके घर की शोभा बढ़ाती है। प्रत्येक पुस्तक को खरीदने के बाद, आप अपने मानसिक आकार मे एक मिलीमीटर की वृद्धि करते हैं। सार्वजनिक पुस्तकालयो से और अपने मित्रो से पुस्तके मागकर लाइए और पढिए और उन्हे समय पर लौटाना न भूलिए। जो भी पुस्तक आप पढ़े, उसका सार और सक्षेप अपनी सचिका पर लिखते जाइए, अन्यथा आपका अध्ययन उस वर्षा के समान व्यर्थ होगा, जो ढालू छत पर होती है। समय-समय पर अपने लिखे सार-सक्षेप का पुनरावलोकन करके उसे अपनी स्मृति मे नवीन बनाते रहिए। मेकाले के समान, अपने ज्ञान को 'तुरन्त उपस्थित' रखिए। आप जो कुछ जानते हैं, यथातथ्येन जानिए, जिस प्रकार आपको सही पता होता है कि आपके बैंक के खाते मे कितना रुपया जमा है, अथवा एक गृहिणी जानती है कि उसके भडार-घर मे क्या कुछ है। कुछ वर्ष पहले ही अपने अध्ययन की योजना बना लीजिए। अपनी आय का एक निश्चित भाग पुस्तकें तथा पत्रिकाए खरीदने के लिए अलग रखते जाइए, इसे आप 'पुस्तक निधि' कहिए, और इस पैसे को किसी भी अन्य खर्च के लिए मत निकलवाइए। इस प्रकार आपको पुस्तको पर व्यय करना आसान प्रतीत होगा। विज्ञान तथा साहित्य सबधी सस्थाओ के सदस्य बन जाइए, उनको थोडे-से चन्दे देने से मत घबराइए। एक छोटा-सा मण्डल बना लेना अच्छा है, जिसमे एक सदस्य नई पुस्तक को पढकर सुनाए और बाकी सब उसे सुनें, फिर वह उस पर एक निबन्ध लिखकर सुनाए, जिसमे उस पुस्तक के खूब उद्धरण दिए गए हो। इस प्रकार का सहकारी अध्ययन आपके लिए आवश्यक है; क्योकि अभाग्य से, आपके पास समय की बहुत कमी है। जीवन छोटा-सा है, ज्ञान पिपासु के लिए जीवन और भी छोटा है। यदि आपका जीवन अनन्त होता तो आप भले ही सौ वर्ष नक्षत्रविद्या के अध्ययन मे, सौ वर्ष जीव-विज्ञान मे, सौ वर्ष इतिहास के मे, और सौ-सौ वर्ष अन्यान्य विद्याओ के अध्ययन मे लगा देते और तब तक अध्ययन करते चले जाते, जब तक कि अपने को भलीभाति शिक्षित न मान लेते। किन्तु हमारा जीवन महीनो और वर्षो द्वारा मापा जाता है, शताब्दियों और सहस्राब्दियों से नही। बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व ही हम वृद्ध हो जाते है। इसीलिए अध्ययन करने मे शीघ्रता कीजिए। प्रसिद्ध इतिहासकार जे० आर० ग्रीन ने लिखा है—"मै जानता हू लोग मेरे बारे मे क्या कहेंगे, वे कहेगे—'वह पढता-पढ़ता मर गया'।" लोग आपके लिए भी यही कहे, तो अच्छा है। संभव है, इस लघु जीवन से विदा होकर पुन: आपको जन्म मिले और पुन. आपको अध्ययन का अवसर मिले।

मानसिक आत्म-सस्कार के मार्ग मे दो विघ्न है—सबसे पहले आपको उनपर विजय प्राप्त करनी है—

बहुत-से स्त्री-पुरुष इतने धन-चिन्तक है कि वे कोई भी ऐसा कार्य गभीरता से हाथ में नही लेते, जिससे उन्हे धन का लाभ न हो। वे विश्वास रखते है—इस प्रकार का अध्ययन तथा मानसिक प्रयत्न मूर्खता है, जिसका परिणाम 'धन का लाभ' न हो। केवल धन के लाभ के लिए कठोर परिश्रम करो, उसके बाद खूब खेलो और आनन्द मनाओ। यह उन लोगो का जीवन-नियम होता है। वे बुद्धि का मूल्य यही मानते है कि वह भौतिक संपन्नता की कुजी हो। वे लोग व्यक्तिगत मानसिक विकास को मूर्खता-पूर्ण सनक मानते है। यह शोचनीय पदार्थवादी (Materialistic) मनोवृत्ति समाज के सभी वर्गों मे गहरी जड़

जमाए हुए है। धनी और निर्धन, सभी को यह रोग लगा हुआ है। एक वृद्धा जो स्वय उपार्जन के लिए काम करती थी, मुझसे अपने बेटे की शिकायत करते हुए कहने लगी, "वह अपना पैसा पुस्तको पर बर्बाद करता रहता है। भला, उनका उसे क्या लाभ है ? वह तो एक बढई है, कोई अध्यापक तो नही है।" ऐसे अगणित लोगो से मिलने का हमे मौका मिलता है, जिनका जीवन, उनके धंधे और मनोरजन की आखमिचौनी मे बीत जाता है। वे भले ही अपने व्यवसाय या धधे मे सफल हो—चाहे वह कानून हो या डाक्टरी, कला हो या कौशल—जब वे अपने रोजगार से फुर्सत पाते है तो वे केवल मनोरजन या खेल-तमाशे की ओर ही आकृष्ट होते है।

इस प्रकार के एकागी जीवन वाले को मेरा यह कहना है—ध्यान रखिए, कही आप छाया को पकडकर तत्त्व को न छोड दे। ज्ञान ही जीवन का सार-तत्त्व है। आप भले ही अपने मस्तिष्क को धन के साचे मे ढाल दे, किन्तु यह समझ लीजिए कि आप प्रकृति के इस वरदान का दुरुपयोग कर रहे है। बुद्धि का प्रयोग मुख्यतः जीवन के विकास और समाज की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। इसका प्रयोग अपने सहनागरिको के शोषण के लिए एक अस्त्र के रूप मे नही किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति अपने मस्तिष्क को एक धन कमाने की मशीन मानते है, उनमे और एक वेश्या मे अन्तर ही क्या है ? हमारे पूंजीवादी समाज मे इस प्रकार की वेश्यावृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, और दुख तो यह है कि इसे आप स्वाभाविक मानकर इसके आगे सिर झुका देते है। आप इस स्थिति के विरुद्ध न तो विद्रोह करते है और न इस पर आपको आश्चर्य ही होता है। प्रकृति ने आपको मस्तिष्क इसलिए दिया है कि आप जाने, सोचे, समझे, समझाये खोज करे अनुसधान करे, आविष्कार करे, और उस सघन आनन्द का अनुभव करे, जो उन व्यक्तियो को प्राप्त होता है, जो प्रकृति के महान नियम का पालन करते है। जिज्ञासुओ को ज्ञान की उपलब्धि से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे शब्दो द्वारा वर्णन करना असंभव है। यदि आप अपने मस्तिष्क के सर्वतोमुखी विकास करने से मुह मोड़ेगे, तो आप अपने को अनन्त आनन्द से वचित कर देगे। यह आनन्द उन सभी सुखो से श्रेष्ठ है, जिन्हे धन द्वारा खरीदा जा सके। इसलिए बुद्धि की दृष्टि से बौने रहकर जीने पर संतोष मत कीजिए। गधे की तरह भारवाही जीवन को धिक्कार है। अपने मस्तिष्क का अधिकतम विकास करके ही आप जीवन के श्रेष्ठतम आनन्द को प्राप्त कर सकते है।

ज्ञान की प्राप्ति मे दूसरा विघ्न है—अन्धविश्वास व रूढिवाद। इन्ही के कारण लाखो-करोडो लोग बौद्धिक सस्कृति से वचित रह जाते है। इन्ही के कारण लोग अपने अज्ञान और मूढता पर गर्व करते पाए जाते है। यह बात आपको विचित्र प्रतीत होगी, किन्तु है यह यथार्थ।

कुछ-एक धार्मिक उपदेष्टाओ का कथन है कि मनुष्य-जीवन शरीर तथा आत्मा से बना है। किन्तु वे उपदेष्टा बुद्धि के विषय मे मौन ही रहे। उनके अनुयायी ससार मे शरीर को पुष्ट करने का प्रयत्न करते है और आत्मा को 'मृत्यु के उपरान्त जीवन' के लिए सुरक्षित रखते है; किन्तु 'मन' की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। इहलोक और परलोक मे मानव-कल्याण के हेतु—शरीर के लिए भोजन और आत्मा के लिए सद्गुण—ये अनिवार्यत. आवश्यक माने जाते है। किन्तु ज्ञान तथा शिक्षा के बारे में कुछ कहना अनावश्यक समझा जाता है। इसी तरह ईसामसीह ने भूखे को भोजन देने, रोगी की चिकित्सा करने, पापी को पुण्यात्मा बनाने का तो उपदेश दिया, किन्तु उन्होने कभी भी यह उपदेश न दिया कि अज्ञानी को ज्ञान प्रदान करो या वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि करो। वे स्वय भी सुशिक्षित व्यक्ति नही थे और बुद्धि-सबधी प्रयत्न उनकी सीमा से बाहर थे। गौतम बुद्ध ने भी सदाचार पर बल दिया, ध्यान करने और भिक्षु बनने का उपदेश दिया, किन्तु उन्होने इतिहास, विज्ञान, कला तथा साहित्य के अध्ययन पर कभी जोर नही दिया। सन्त एब्रोस ने विज्ञान के अध्ययन की निन्दा की और लिखा, "प्रकृति और पृथ्वी की स्थिति आदि पर विचार, चर्चा या वाद-विवाद हमारे पारलौकिक जीवन मे कुछ भी सहायता प्रदान नही करता।" सन्त बासिल ने बहुत स्पष्ट रूप मे और मूर्खतापूर्वक कहा—"हमारे लिए यह पृथ्वी गोल है, लबी है या सपाट है।" कार्लायल ने भी ईसाई परम्परा का ही अनुसरण किया है, जबकि उसने कहा, "मै केवल दो मनुष्यों का सम्मान करता हू (तीसरे का नही), एक तो शारीरिक परिश्रम करने वाले का और दूसरे धार्मिक उपदेशक का।" कार्लायल ने वैज्ञानिको को, विद्वान को और कलाकार को सम्मान की सूची मे शामिल

करने से भुला दिया। यूनान के सनकी भी शिक्षा, बौद्धिक साधना की निंदा करते रहे है। उन्होने घोषणा की कि केवल सद्गुण (सदाचार) ही जीवन की श्रेष्ठता है। इस प्रकार के अपूर्ण आदर्श ने ही असख्य ईमानदार स्त्री-पुरुषो को बुद्धि की साधना से—ज्ञान के उपार्जन से वचित रखा है, क्योकि वे इन्हे अनावश्यक और व्यर्थ समझते रहे है। आप अपने मस्तिष्क को, जीवन के विषय मे इस प्रकार के अपूर्ण सूत्रो का दास मत बनने दीजिए। ये सिद्धान्त थोथे है—सारहीन है, इनसे सर्वोत्तम प्रकार के स्त्री-पुरुष भी 'सदाचारी और पवित्र पशु' बना दिए जाते हैं। अज्ञान जगलीपन है, वहशीपन है, मानव-जीवन की स्वाभाविक विशेषता 'ज्ञान' है।

अविवेक, कामुकता और अन्धविश्वास से छुटकारा पाकर आप अपने को परिश्रमपूर्वक और ईमानदारी से मानसिक आत्म-सस्कार मे—मस्तिष्क द्वारा ज्ञानार्जन मे लगाइए। इसका क्षेत्र बहुत विशाल और विस्तृत है। पहले-पहल आपकी दशा एक बालक के समान होगी, जो अकस्मात् अपने को उष्णकटिबन्ध के किसी महा-उद्यान मे पाता है, जहा अनेक प्रकार के सुस्वादु फलो को देखकर उसकी दृष्टि चकाचौध रह जाती है, उसके मुह मे उन फलों को देखकर पानी भर आता है—कही आम है, कही लीची, कही अमरूद है, कही पपीते, कही लुकाठ है, कही अगूर। ज्ञान के फल तो इनसे भी अधिक सरस और सुस्वादु हैं।

अब हमे उन विभिन्न विषयो पर विचार करना है, जो आपको अवश्य पढने चाहिए, जहा तक कि आपके साधन, आपकी सामर्थ्य और आपके अवसर आपको इजाजत दे। □□

नवाचार

शिक्षा प्रशासन का परिवर्तनशील सम्प्रत्यय

□ डा० जमनालाल बायती

शिक्षा प्रशासन के अर्थ को लेकर शिक्षाविदों मे मत विभिन्नता है, कोई भी दो शिक्षा शास्त्री समान राय नही रखते हैं। इस आलेख में शिक्षा प्रशासन के बदलते हुए सम्प्रत्यय पर विचार करने का विनम्र प्रयास किया गया है। यदि इस दिशा में निरन्तर प्रयत्न होते रहे, विचार मंथन के फलस्वरूप शिक्षा प्रशासन के अर्थ पर किसी प्रकार एक मत पर पहुचा जा सके, समन्वय हो सके तो प्रशासनिक संस्थितियों से जुड़े हुए विभिन्न घटको की सूची बनाना सम्भव हो सकता है।

यदि शिक्षा प्रत्येक कार्य नहीं कर सकती तो फिर शायद ही ऐसा कोई कार्य हो जो शिक्षा कर सके।

—जेम्स मिल

जेम्स मिल द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के इस दूरगामी सत्य का महत्व पिछले कुछ ही वर्षों से अनुभव किया जा रहा है। इससे पूर्व तक शिक्षा प्रशासन को—जिस पर न केवल किसी राष्ट्र का कल्याण, प्रगति, विकास एव उन्नति निर्भर करती है बल्कि सम्पूर्ण विश्व की सुख-समृद्धि निर्भर करती है—केवल शाब्दिक महत्व ही दिया गया है।

शिक्षा प्रशासन का सम्प्रत्यय दिन प्रतिदिन तीव्र गति से बदल रहा है, वह दिन प्रतिदिन नया अर्थ ले रहा है। पिछले समय में, सामान्यतया एक अनुभवी अध्यापक किसी भी संस्था के शैक्षिक कार्यक्रमों का नियोजन करता था। उनका कार्य-व्यवहार, निर्णय प्रक्रिया, कार्य सम्पन्न करने की तकनीक आदि शिक्षा के किन्ही ठोस सिद्धान्तों या दार्शनिक आधारो पर आश्रित होने के बजाय उस

समय के प्रचलित रीति-रिवाजो तथा जन-विचारधाराओ से सचालित होते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उस समय का शिक्षा प्रशासन मात्र एक व्यक्ति की सर्वाधिक उच्च योग्यता के अनुसार नीतियो का निर्धारण तथा योजनाओ का क्रियान्वयन करना था।

कालान्तर मे समय बीतने के साथ-साथ इस सम्प्रत्यय की अनुपयुक्तता प्रकाश मे आई तथा प्रशासनिक अधिकारियो ने अनुभव की। किसी व्यक्ति के मन की चपलता या तरगो के अनुसार प्रशासन मे तानाशाही प्रवृत्ति की झलक मिलती है, इसलिए शिक्षा प्रशासन मे उसे कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। आगे चलकर यह अनुभव किया गया कि शिक्षा प्रशासन एक विशिष्ठ प्रकार की गतिविधि या सेवा या प्रक्रिया है तथा इसके सफल संचालन के लिए सुप्रशिक्षित सेवावर्गीय अधिकारियो की आवश्यकता होती है।

शिक्षा प्रशासन के अर्थ को लेकर शिक्षाविदो मे मत-विभिन्नता है, कोई भी दो शिक्षा शास्त्री समान राय नही रखते है। इस आलेख मे शिक्षा प्रशासन के बदलते हुए सम्प्रत्यय पर विचार करने का विनम्र प्रयास किया गया है। यदि इस दिशा में निरन्तर प्रयत्न होते रहे, विचार मंथन के फलस्वरूप शिक्षा प्रशासन के अर्थ पर किसी प्रकार एक मत पर पहुचा जा सके, समन्वय हो सके तो प्रशासनिक सस्थितियो से जुडे हुए विभिन्न घटको की सूची बनाना सम्भव हो सकता है। उस स्थिति मे शैक्षिक प्रशासनिक कार्यो का अधिक सुगमता से अनुमान लगाया जा सकता है। यहा यह बताना रूचिप्रद होगा कि वर्तमान शताब्दी से पूर्व तक शिक्षा प्रशासन को चरम सीमा का साधारण, सीधा, स्पष्ट एव सरल कार्य माना जाता था।

आर्ड वेटीड (1951) के अनुसार प्रशासन का अर्थ कार्यो की सम्पन्नता है। उनके द्वारा दी गई परिभाषा न केवल प्रशासन का अर्थ ही बताती है बल्कि वह अच्छे व बुरे प्रशासन के भेद को समझने के योग्य भी बनाती है। जब वे कहते हैं कि—"किन्ही परिभाषित उद्देश्यो के वैयक्तिक या सामूहिक रूप मे आदेश जारी करने, अग्रेसरण करने, सुविधाओ के जुटाने के सयुक्त प्रयासो के फलस्वरूप होने वाली अनिवार्य गतिविधियो तथा कार्यों के आयोजन को प्रशासन कहते हैं।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि अच्छे प्रशासन मे पूर्व परिभाषित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सामूहिक या सयुक्त प्रयासों पर आग्रह रहता है। ग्रीफीथ की सम्मति के अनुसार—

(अ) प्रशासन व्यवहार की सामान्य प्रक्रिया है जो प्रायः सभी सगठनो मे पाई जाती है।

(आ) प्रशासन एक विधि के रूप मे सामाजिक सगठन में जीवन को नियन्त्रित तथा निदेशित करता है।

(इ) प्रशासन का केन्द्रीय उद्देश्य निर्णय प्रक्रिया को विकसित करना तथा ढग से सचालित करना है।

(ई) प्रशासन समूहो मे—वैयक्तिक रूप से नही—कार्यशील होता है।

शिक्षा प्रशासन का अर्थ बताते हुए पिटनगर लिखते है कि शिक्षा प्रशासन विद्यालय मे नियुक्त कर्मचारियो का चयन, नियुक्ति तथा कार्य निर्धारण है और विद्यालय से सम्बन्धित व्यक्तियो—कर्मचारी, अधिकारी, छात्र, छात्र ससद के सदस्य, समाज के सदस्य, अभिभावक—के बीच समन्वय तथा नेतृत्व करना है जिससे उचित तथा सक्षम शिक्षा की दिशा मे नीतियो का निर्माण, क्रियान्वयन तथा उन्नयन हो।

शिक्षा प्रशासन का ध्येय, सर ग्राह्म बालफोर के अनुसार, उपयुक्त विद्यार्थी को सही अध्यापक से राज्य के साधनो की सीमा मे, उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थितियो मे कम से कम व्यय पर सही शिक्षा प्रदान करना है जिससे विद्यार्थी का अधिकाधिक अधिगम हो। शिक्षा प्रशासन को इससे भी और अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, यदि शिक्षा प्रशासन के उद्देश्यो का विस्तृत विश्लेषण कर लिया जाए। बहुत ही सीधे शब्दो में बताया जा सकता है कि शिक्षा प्रशासन का अर्थ अधिगम एव अध्यापन की सुविधाए जुटाना है। शिक्षा प्रशासन का तात्पर्य, केम्पबेल, कोरावेली तथा रामसीयर के अनुसार—"अध्यापन एवं अधिगम से सबन्ध

बुनियादी उद्देश्यो तथा नीतियो के विकास को सहज ही सचालित करना हैं, अधिगम तथा अध्यापन के लिए उपयुक्त कार्यक्रमो के विकास को सम्वर्द्धित करना है एव अधिगम तथा अध्यापन के लिए भौतिक तथा मानवीय ससाधनो को प्राप्त करना तथा उनकी व्यवस्था करना है।" रसेल टी० ग्रेग (1960) शैक्षिक शोध के विश्लेपण में दिये गये अपने प्रशासन सम्बन्धी लेख मे इससे भी एक कदम आगे बढकर कहते हैं और सम्मति देते है कि शैक्षिक प्रशासन वयस्कों की बढवार (ग्रोथ) से भी सम्बन्ध रखता है। वे लिखते है कि शिक्षा प्रशासन साधन एव सामग्री को इस प्रकार से उपयोग करने की विधि है जो मानवीय गुणो के विकास को प्रभावी रूप से अग्रसर करे। इसका सम्बन्ध न केवल बालको एव युवाओ के विकास से है वरन् यह वयस्को और मुख्यत विद्यालयो के सेवावर्गीय कर्मचारियो एव अधिकारियों के विकास से भी सम्बन्ध रखता है।

फ्रेडरिक टेलर, हेनरी फायल, मेरी पार्कर फोलेट, एल्टन मेयो और चेस्टर बर्नार्ड ने प्रशासन को प्रबन्ध (मैनेजमेन्ट) से पृथक न करने पर विचार किया तथा इन्होंने प्रशासन को वैज्ञानिक प्रबन्ध के रूप मे लिया। वैज्ञानिक प्रशासन मे सगठन के ढाचे या आकार (स्ट्रक्चर) पर तथा सचालन मे दक्षता प्राप्ति के लिए सेवावर्गीय कर्मचारियो तथा अधिकारियो के औपचारिक सम्बन्धो पर आग्रह किया। केफनबर आगे जोडते हैं कि वैज्ञानिक प्रशासन तब तक आपत्तिजनक नही है जब तक प्रशासकीय समस्याओं पर अर्थपूर्ण तथा सही सूचनाये उपलब्ध करवाने का प्रयास न करे तथा सूचनाओ को बढा-चढा कर महत्व न दे तथा सूचनाओ से जुड़ी अल्प महत्वपूर्ण स्थितियों की उपेक्षा न करे।

आनन्द डब्ल्यू० पी० गुरूज (1971) की राय के अनुसार आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक का शिक्षा प्रशासन मे उपयोग कठिनाइयों से मुक्त नहीं हैं। एक सबसे बड़ी कठिनाई तो यही है कि जन-प्रशासन के अंग के रूप मे केवल शिक्षा प्रशासन मे ही आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक प्रयोग नही की जा सकती। वे आगे स्पष्ट करते है कि जहा तक शिक्षा प्रणाली के अन्तिम फलों (प्रोडक्ट्स) का प्रश्न है, शिक्षा प्रशासकों तथा व्यापार वाणिज्य व्यवसाय के प्रमुखो मे कोई सम्बन्ध नही है। लेकिन इसके दूसरी ओर, जे० एन० कपूर ने कार्यकारी शोध के आधार पर शिक्षा तथा उद्योग के क्षेत्र के महत्वपूर्ण अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि नये सम्प्रत्ययो की रचना मे कार्यकारी शोध के निष्कर्षों के उपयोग पर आग्रह रहना चाहिए। सगठन प्रबन्धकीय तकनीक की अपेक्षा एक प्रक्रिया है, इसे शैक्षिक क्षेत्र मे व्यवहृत नही किया जा सकता।

ग्राइडर तथा रोशेन स्टेनगेल के अनुसार—"सार्वजनिक शाला प्रशासन जन प्रशासन के बृहद क्षेत्र का ही एक अंग है। फिर भी लोकतन्त्र मे सभी सार्वजनिक सेवाओ मे शिक्षा का महत्व तथा स्वरूप विशिष्ठ है। अत यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आदर्श रूप मे स्वीकृत शाला प्रशासन के गुणात्मक लक्षण, सार्वजनिक शिक्षा के कार्य, प्रक्रियाओं तथा उद्देश्यो के समतुल्य हों।"

यहा यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रबन्ध का कार्य नीति निर्धारण का नही बल्कि नीतियो के अनुसार क्रियान्वयन का है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध सदैव ही शिक्षा प्रशासन मे ठोस धरातल पर आधारित नही है फिर भी यह दर्शन या विचार धारा कुछ उद्देश्यो की सेवा करता है, मदद करता है। सीयर्स शिक्षा प्रशासन मे पाच मुख्य एव महत्वपूर्ण तत्वो को स्वीकार करते है। वे इस प्रकार बताये जाते है—

1. आयोजना,
2. सगठन,
3. निर्देशन,
4. समन्वय तथा
5. नियन्त्रण।

फ्रेडरिक टेलर की राय के अनुसार आयोजना तथा क्रियान्वयन को पृथक्-पृथक् रखा जाना चाहिए। वे आगे दृढ़ता से कहते हैं कि यदि दोनो को सम्मिलित किया गया तो गुणात्मकता की दृष्टि से निष्पादित कार्य निम्न-स्तर का होगा और न ही समय पर पूरा होगा। इस सम्बन्ध में वे स्पष्ट है तथा इस मत के पक्षधर हैं कि आयोजना समयबद्ध होनी चाहिए तथा उत्पाद या

निष्पादित किये जाने वाले कार्य से सम्बन्धित अन्य सूचनाओ का वैज्ञानिक रीति से निर्धारण हुआ हो तथा क्रमबद्ध या व्यवस्थित ढग से वर्गीकृत की गई हो। इन प्रस्तावित कार्यों मे प्रमापीकृत साधनो, उपकरणों तथा विधियो का भी प्रयोग किया जा सकता है एव इन सब का प्रमापीकरण भी किया जा सकता है। प्रबन्ध कामगरो या कर्मचारियो से ले लिया जाना चाहिए। वैज्ञानिक सोच-विचार से कार्य विधि की रचना निश्चित की जानी चाहिए तथा उसी के अनुसार कर्मचारियो को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इन सब कार्यों मे समन्वय पर अत्यधिक आग्रह रहना चाहिए। हेनरी फायल ने भी बराबर वैज्ञानिक प्रबन्ध पर जोर दिया है। पूर्व के चिन्तकों ने कर्मचारियो के साथ तथा बाद के चिन्तकों ने प्रबन्धको के साथ कार्य किया। पर यह सही है कि दोनो श्रेणी के चिन्तको ने व्यक्तियो पर ध्यान नही दिया जिनकी कार्य या सेवा के निष्पादन मे महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

मेरी पार्कर फोलेट ने प्रशासन के माध्यम से कल्याण-कारी समाज (हारमोनियस सोसायटी) के लिये प्रयत्न किया। वे इस बात की प्रबल समर्थक थी कि सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए प्रत्येक कर्मचारी को पूर्ण रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा प्रशासन मे धन, भवन, क्रीडागन प्रयोगशालाये, पुस्तकालय तथा उपकरण आदि के प्रबन्ध पर ही विचार नही किया जाता है वरन् इसका क्षेत्र मूलत कल्याणकारी मानवीय सम्बन्धो का विकास है जो सूत्र तथा अभिकरण (लाइन एण्ड स्टाफ) के रूप मे छात्र-छात्र, छात्र-अध्यापक, अध्यापक-प्रधानाध्यापक, छात्र-प्रधानाध्यापक, छात्र-लिपिक, लिपिक-प्रधानाध्यापक, लिपिक-शिक्षक, प्रधानाध्यापक-उच्चाधिकारी, प्रधानाध्यापक-बोर्ड के अधिकारी, प्रधाना-ध्यापक-अभिभावक, अभिभावक-शिक्षक तथा इसी भाति स्थानीय, राज्य तथा राष्ट्र के शिक्षा से सबंधित विभिन्न अभिकरणो के बीच विकसित होते है।

अब तक हुआ यह है कि सभी शिक्षाविदो व शिक्षा-प्रशंसको ने मानवीय सम्ब्रन्धों को भुला दिया है, उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। एल्टन मेयो यह दृढता से स्वीकार करते हैं कि उपयुक्त मानवीय सबध ही प्रशासन की आत्मा है, मूलाधार है।

चेस्टर बर्नार्ड ने प्रबन्धकीय समस्याओं एव अमूर्त सिद्धान्तो पर विचार किया, अध्ययन किया। समस्याओ का गहराई से अध्ययन करने के लिये भिन्न-भिन्न व्यवसायो से जुड़े व्यक्तियो से बहुत बडी संख्या मे परामर्श किया। उसने सात भाषण सहकार, कर्तव्य (करणीय), औपचारिक संगठन, समन्वित मानवीय प्रयत्नो के पेचीदा या उलझनपूर्ण तथा सामाजिक सम्बन्धो की व्याख्या के रूप मे प्रस्तुत किये। उन्होंने सुझाव दिया कि फल की प्रभावशीलता (इफेक्टिवनेस) विद्योन्मुखी (सिस्टम ऑरियन्टेड) पाई जाती है जबकि निपुणता (एफीसियन्सी) मानवोन्मुखी (परसन ऑरियन्टेड) होती है, जो कर्मचारी की कार्य मे सफलता की भावना से सम्बन्ध रखती है। यह सफलता की मात्रा वह अपने सगठन का सदस्य रहते हुए प्राप्त करता है। सगठन के किसी सदस्य के रूप मे एव वैयक्तिक रूप से सन्तुष्ट होने पर सगठन के सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति की आशा की जा सकती है।

के० पी० बसु के अनुसार प्राधिकारो के प्रत्यायोजन का अर्थ त्याग या कार्यो मे रुकावट नही है। साथ ही प्राधिकारो के प्रत्यायोजन का अर्थ उच्चाधिकारी के अधिकारों की कटौती कदापि नही है। प्राधिकारो का प्रत्यायोजन करने वाला अधिकारी प्रत्यायोजन करने के बाद भी कार्य के प्रति जवाबदेही के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होता है। यद्यपि संगठन की बाह्य तथा आन्तरिक निरन्तरता या दृढता की मात्रा के मापन के विश्वसनीय तथा वस्तु-निष्ठ साधन या उपकरण उपलब्ध नही है, फिर भी इस सम्बन्ध मे, कुछ उदाहरणो मे, विभिन्न तथ्यो से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, प्राप्त किये जा सकते है।

क्या शिक्षा प्रशासन को पथ-प्रदर्शन का या नीति-निर्धारण का कार्य करना चाहिए? क्या शिक्षा प्रशासन को संगठन के उद्देश्यों या लक्ष्यों का निर्धारण करना चाहिए? या नही करना चाहिए? यदि ऐसा नहीं किया जाये तो क्या इसे दिये गये लक्ष्यो या उद्देश्यो की प्राप्ति के क्रियान्वयन हेतु निर्णय लेने चाहिए? यदि प्रशासन ही लक्ष्यो, उद्देश्यो या ध्येयो का निश्चय करता है तो क्या वे व्यवहार मे प्राप्त किये जा सकेगे या कार्यशील होंगे? क्या उन्हे सामान्यत' सभी व्यक्ति या कर्मचारी स्वीकार

कर लेगे ? वास्तविकता यह है कि इन प्रश्नो का उत्तर चारो ओर के सांस्कृतिक वातावरण पर निर्भर करेगा, निश्चित रूप से इन प्रश्नो का उत्तर शून्य मे नही दिया जा सकता। इन प्रश्नो के उत्तर राज्य के कर्तव्यो के दर्शन जो संबंधित राज्य मे समाज की अपेक्षाओ के अनुरूप निश्चित किये जायेंगे, पर बुनियादी रूप से निर्भर करेंगे।

प्रजातन्त्र मे उन सभी सगठनों के मोटे-मोटे उद्देश्य विधान सभाए निश्चित करती हैं जो सीधे राज्य के नियन्त्रण में है। तथा स्वयसेवी संगठनो के उद्देश्यो मे न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करती है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्रजातान्त्रिक समाज मे चाहे सार्वजनिक या निजी क्षेत्र हो या मिश्रित क्षेत्र हो, शैक्षिक प्रशासन को प्रबन्ध का पर्याय तो किसी भी रूप मे नही कहा जा सकता। आर० सी० शर्मा (1968) बताते हैं कि इसका एक अपरिहार्य फल यह है कि कोई भी शैक्षिक प्रशासक बताये गये या बिना बताये गये शैक्षिक उद्देश्यो तथा नीतियो के सन्दर्भ मे ही, उनकी सीमाओ मे रहते हुए, कार्य करते है। इससे उसका कार्य बड़ा पेचीदा, उलझन-पूर्ण तथा कठिन हो जाता है। वास्तव मे, अपने सगठन के उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सहायता के प्रथम कदम के रूप में उनका सार्थकतापूर्ण विवेचन करना है, समझना है। तब प्रश्न उठता है कि क्या वह अपने विवेचन को अपने सहकर्मियो, अधीनस्थो व अन्य संबधितो को सम्प्रेषण की सुविधा की दृष्टि से लिपिबद्ध करता है? क्या वह इन सभी सबधितो से बिना परामर्श किये शून्य मे ऐसा कर सकता है ? क्या व्यवहार मे ऐसा करना शिक्षा निदेशक (या लोक शिक्षण निदेशक/डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) के लिए सम्भव है ? क्या यह सभव हो सकता है कि शैक्षिक उद्देश्यों तथा उनकी प्राथमिकताओ पर शिक्षा निदेशक तथा अभिभावक एकमत हों या सहमत हों ? अच्छे भविष्य की आशा वाला कोई भी प्रशासक इन सब मत विभिन्नताओं से दूर रहने का प्रयास करेगा या इनकी उलझन मे नही पड़ेगा या नही पड़ना चाहेगा—कुछ सीमा तक हम में से प्रत्येक इसी दृष्टिकोण से सोचता है। वे शैक्षिक उद्देश्यो तथा नीतियो का विवेचन करे, ऐसा नहीं होगा। वास्तव मे व्यवहार में यही सब कुछ हो रहा है कि शैक्षिक उद्देश्यों को बिना स्पष्ट किये यो ही बीच मे छोड दिया जाता है।

क्या विषय सामग्री का ज्ञान ही संगठन के प्रशासन की मूलभूत दुर्बोध एव कठिन समस्या है ? विषय सामग्री की गम्भीरता को यदि प्रशासन ठीक ढग से देखता है या वाछित महत्व देता है तो मूलभूत समस्या भी सुलझाई जा सकती है चूकि शिक्षा के एक विशिष्ठ सगठन मे समस्या का हल विषय का एक पारखी, शैक्षिक प्रशासक के रूप मे शिक्षाविद् ही खोज सकता है, अत निष्कर्षत. सगठन की कार्य क्षमता को हानि पहुचा कर प्रशासक को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित करने का खतरा नही उठाना चाहिए। एक विशिष्ट क्षेत्र के प्रशासक को, दूसरे शब्दो मे, तब तक अपनी पसद के अन्य क्षेत्र मे स्थानान्तरित नही किया जाना चाहिए जब तक उस सगठन की विषय सामग्री, उद्देश्य एव कार्य के बारे में विस्तृत एव गहन ज्ञान प्राप्त न कर ले।

सभवतया सगठन के प्रशासन का ज्ञान बिना व्याव-सायिक औपचारिक प्रशिक्षण के प्राप्त नहीं किया जा सकता, अत यह कहना युक्ति-सगत लगता है कि सगठन का व्यावसायिक तथा औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही अच्छा दक्ष एव कुशल प्रशासक बन सकता है। इस दृष्टि से भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य अधिकारी एक अच्छा योग्य एव समझदार शिक्षा निदेशक या लोक शिक्षण निदेशक नही बन सकता। चूकि भारतीय प्रशास-निक सेवा का अधिकारी प्रशासनिक विधि के क्षेत्र मे सुचारू रूप से पूरी तरह परिचित है, विशिष्ठता प्राप्त है, पर जब तक वह शैक्षिक कार्यों के सबध मे प्रशिक्षण प्राप्त न कर ले तो निश्चित रूप से अच्छा शैक्षिक प्रशासक नहीं बन सकता। इसी तरह यदि एक शैक्षिक कार्यों, शैक्षिक गतिविधियो का गहन ज्ञान या प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षाविद् प्रशासन की विधियो का सागोपाग ज्ञान प्राप्त कर ले वह उसके भी निश्चित रूप से अच्छे शैक्षिक प्रशासक बनने की संभावना उजागर होती है। वास्त-विकता यह है कि एक अच्छे शैक्षिक प्रशासक में मूलभूत शैक्षिक समस्याओं को समझने तथा हल करने की योग्यता होती है तथा साथ ही वह प्रशासनिक प्रक्रिया का निष्णात अधिकारी होता है।

इसके सिवाय विचारको का एक ऐसा दल फेयोल, सीयर्स आदि का है जो सभी सगठनो, उदाहरणार्थ—उद्योग, व्यवसाय, जन प्रशासन, कारखाना, शिक्षा, समाज कल्याण, पानी, बिजली आदि सभी के लिए समान प्रशासनिक विधि प्रक्रिया का समर्थक है। उनका ऐसा विश्वास है कि प्रशासनिक प्रक्रिया मे कुशलता प्राप्त व्यक्ति किसी भी सगठन का प्रशासन कर सकता है। पर आज इस विचारधारा को सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता। ऐसे व्यक्ति, जिन्हे मूल्यांकन की तकनीक का पूरा ज्ञान नही है, शिथिल टिप्पणिया देते देखे जाते है।

आज लूथर गुल्लिक द्वारा प्रतिपादित "पोस्डकर्व" का सिद्धान्त महत्वपूर्ण माना जाता है तथा सम्मान प्राप्त कर रहा है। "पोस्डकर्व" शब्द कुछ शब्दो के प्रथम अक्षरो के मिलने से बनता है, जैसे—

आ	(पी)	आयाजना	(प्लानिंग)
स	(ओ)	संगठन	(आग्रेनाइजेशन)
का	(एम)	कार्मिक व्यवस्था	(स्टाफिंग)
वि	(डी)	निदेशन	(डाइरेक्सन)
स	(सी)	समन्वय (या नियन्त्रण)	(कॉर्डिनेशन)
प्र	(आर)	प्रतिवेदन	(रिर्पोटिंग)
ब	(बी)	बजट तैयार करना	(बजटिंग)

उनके अनुसार प्रशासन के क्षेत्र मे आयोजना, संगठन बनाना, कार्मिक व्यवस्था, निदेशक, समन्वय (या नियन्त्रण), प्रतिवेदन तथा बजट आदि को समाविष्ट किया गया है। तनिक विचार कीजिए कि शिक्षा मे आयोजन की बहुत सारी विधिया तथा तकनीके कारखाना या उद्योग या पानी बिजली के आयोजन से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिये शैक्षिक नियोजन के क्षेत्र मे, किसी भी शिक्षण सस्थान मे निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित करने के लिये प्रधानाचार्य को अपने साथी अध्यापको तथा छात्रो के सुझावों पर न केवल ध्यान देना है बल्कि उनका पालन भी करना है। क्योंकि इस कार्यक्रम के मुख्य उपभोक्ता तो विद्यार्थी ही है तथा अध्यापको को उनकी उच्चतम उपलब्धि के लिये उनका मार्ग-दर्शन करना है। विद्यालय प्रधान को आयोजना इस प्रकार करनी है कि सभी को सहभागित्व मिल सके, उनका सहयोग प्राप्त किया जा सके जबकि किसी भी उत्पादन सस्थान मे ऐसी व्यवस्था सभवतया नही की जा सकती। यहां साधनो के आवटन, विषय सामग्री के ज्ञान तथा उद्देश्यो के निर्धारण की आयोजना सम्बन्धी सर्वमान्य विधियों तथा तकनीको पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसी भाति एक सगठन मे कार्य को कार्यकारी इकाइयो मे बाटने सम्बन्धी विभागीय तकनीकों की अपेक्षा विषय सामग्री का ज्ञान निश्चित रूप से कम महत्वपूर्ण नही है। कार्य के वर्गीकरण का अर्थ शैक्षिक सेवाओं का सयोजन लिया जाना चाहिए जैसे कि शिक्षण, निर्देशन, स्वास्थ्य सेवाये, पुस्तकालय सेवाये, मार्ग-दर्शन, व्यावसायिक सूचना, खेलो की व्यवस्था आदि। जो भी हो, व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र मे इसे सही नही कहा जा सकता। इन बातो के सिवाय भी, आदेश की प्रकृति एव उद्‌गम, छात्र-शिक्षक, शिक्षक-लिपिक, छात्र-लिपिक, छात्र-प्रधानाध्यापक, प्रधानाध्यापक-अध्यापक, प्रधानाध्यापक-लिपिक सम्बन्ध आदि सूत्र एव अभिकरण (लाइन एण्ड स्टाफ) के सम्बन्धो, विद्यालय का दैनिक कार्य विभाजन, समय-विभाग चक्र तथा कक्षाध्यापन बिना अच्छी शैक्षिक पृष्ठभूमि वाले आचार्य/प्रधान अध्यापक सहज रूप मे एव प्रभावी ढग से सम्पन्न नही कर सकता। ऐसा ही फल वहा भी प्राप्त किया जा सकता है जहा प्रशासक ख्याति प्राप्त शिक्षाविद् तो है पर शैक्षिक कार्यों के मूल्याकन, उनके नियन्त्रण, आयोजन, सगठन एवं निर्देशन की तकनीक मे अकुशल है। इस निष्कर्ष से इस बात को बल मिलता है कि शिक्षा प्रशासन एक विधि, प्रक्रिया एवं साधन है जो शिक्षा की मूलभूत समस्याओ को हल करने मे सहायक होता है।

एक विवादास्पद बिन्दु है—क्या प्रशासन विशुद्ध विज्ञान है या विशुद्ध कला या विज्ञान तथा कला दोनो, या बेहतर रूप मे कला तथा व्यावहारिक विज्ञान ? यह विवाद नया नही है। कला या विज्ञान किसी एक के पक्ष मे निश्चय के साथ कुछ भी कलाकार के लिये ज्ञात तथ्यों के आधार पर तथा सभी प्रशासकीय तथ्यों को पृथक करने हुए इस सम्बन्ध मे कुछ सीमा तक, कुछ निर्णय कला की

विधि द्वारा अन्तर्ज्ञान तथा आत्म-दर्शन के आधार पर ही लिये जायेगे। श्रीधर नाथ मुकर्जी की भी इस प्रकार की सम्मति है जब वे कहते है कि—ज्ञान की अन्य शाखाओं के समान ही, प्रशासन की यह नई शाखा विज्ञान की अपेक्षा कला के अधिक निकट है।" वे आगे कहते है कि वास्तव मे यह सही है कि शैक्षिक प्रशासक अपने कार्य-कलाप उन मौलिक सिद्धान्तो के आधार पर सम्पन्न करते है, जो वे सगठन में मानवीय अनुभवो को सकलन कर, उनका अध्ययन एव विश्लेषण कर—आगमन विधि द्वारा प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिक भी इन्ही सिद्धान्तो पर कार्य करते है। जो भी हो, प्रयत्न यह किया जा रहा है कि प्रशासन को व्यावहारिक समाज विज्ञान के रूप मे विकसित किया जाये। ऐसा लगता है कि शिक्षा प्रशासन को अभियान्त्रिकी, तकनीकी या फार्मेसी के समान व्यावहारिक प्राकृतिक विज्ञान नही बनाया जा सकता।

इन दिनो शिक्षा प्रशासन का क्षेत्र विस्तृत बनता जा रहा है। अब तक इसे शिक्षा देने के एक अभिकरण के रूप मे माना जाता था। पर आज शिक्षा प्रशासन मे विद्यार्थी का चयन, उसका प्रवेश, विद्यालय की आय एव व्यय के साधन एव मदे, बजट तैयार करना, अध्यापको की हडताल, समय विभाग चक्र बनाना, पाठ्यक्रम का निर्धारण, पाठ्य-पुस्तको की प्राप्ति, सहगामी क्रियाये, मूल्याकन प्रक्रिया, अध्यापको के कार्य का परिवीक्षण, उनके लिये प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम, विशिष्ठ विषयो की शिक्षण व्यवस्था, छात्र कल्याणकारी सेवाये, बस सर्विस, केफेटेरिया, मार्ग-दर्शन, सहकारी भडार, स्वास्थ्य सेवाये, छात्रावास आदि सभी को समाविष्ट किया जाता है। शिक्षा प्रशासन के विद्यार्थी को इन सभी पहलुओं पर अध्ययन करना होता है। सभी शिक्षा अधिकारी कई विशिष्ठ विषयो के अध्यापन का परिवीक्षण करने के लिए सक्षम तथा उपयुक्त नही होते, उदाहरणार्थ—सगीत, कृषि, विज्ञान, गणित, चित्रकला आदि। फलत इन विषयाध्यापको को उपयुक्त मार्ग-दर्शन नहीं मिल पाता। इस दोष या कमी को दूर करने के लिये दलीय परिवीक्षण पर जोर दिया जा रहा है। इस दल मे वरिष्ठ एव ख्याति प्राप्त प्रधानाध्यापक एव लम्बी अवधि वाले अध्यापक सम्मिलित किये जाते है। जहा तक सम्भव होता है, शिक्षा अधिकारी इस दल के सयोजक होते हैं। दल में सम्मिलित विभिन्न सदस्य अपने-अपने विषय के क्षेत्र के निष्णात एवं विशिष्ठता प्राप्त शिक्षक होते हैं। इस सम्बन्ध मे माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) की राय है कि स्वास्थ्य शिक्षा, गृह-विज्ञान, चित्रकला, सगीत आदि विशिष्ठ विषयों के परिवीक्षण का कार्य निदेशालय को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इन विषयो के निष्णात अध्यापक वे अपने स्तर पर ढूढ कर दल बना ले जो समय-समय पर भिन्न-भिन्न विद्यालयो का परिवीक्षण करे तथा अध्यापन मे स्तारोन्नयन का सूत्रपात हो। इनके सिवाय विद्यालयो मे समय-समय पर कई विशिष्ठ प्रकार के आयोजन होते रहते है, गतिविधिया चलती रहती हैं, उदाहरणार्थ आपातकाल के लिए प्रशिक्षण, नामांकन अभियान, वृक्षारोपण—ये तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम भी शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र मे सम्मिलित किये जाते है। शिक्षा प्रशासन को इन पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना होता है।

शिक्षा प्रशासन के विषय क्षेत्र मे शिक्षा सम्बन्धी सभी तथ्य, योजनाये, नीतिया, कार्य-प्रणालियां, कर्मचारियो को दिये गये निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण, विभिन्न प्रतिवेदन एव शिक्षा से सबधित बजट तैयार करना आदि बाते आती है। शिक्षा प्रशासन का सम्बन्ध यदि एक ओर मानवीय तत्वो, यथा शिक्षार्थी, शिक्षक, निरीक्षक, उच्चाधिकारी एव पालक आदि से है तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध भौतिक तत्वो से यथा विद्यालय भवन, वित्त, सामग्री, प्रयोगशाला एव खेल के उपकरण, फर्नीचर तथा अन्य साजसज्जा से भी है। शिक्षा की प्रक्रिया मे सम्बन्धित सभी बाते शिक्षा प्रशासन की सामग्री हैं। इस दृष्टि से शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र मे निम्नलिखित तथ्य भी सम्मिलित है

(अ) शिक्षा के उद्देश्यो, आदर्शो, मूल्यो, सिद्धान्तो आदि को व्यक्ति तथा समाज के हित मे निर्धारित करना।

(आ) समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धात के अनुसार सभी विद्यार्थियो के लिये शैक्षिक कार्यक्रमो की योजनाए बनाना और उनको क्रियान्वित करना।

(इ) शिक्षा संस्थानो में उपलब्ध भौतिक तथा

मानवीय साधनो मे समन्वय स्थापित करना,

(ई) सम्पूर्ण शिक्षा की प्रक्रिया की सफलता हेतु सजग प्रयास करना, तथा

(उ) समय-समय पर किये गये प्रयासो का मूल्याकन करना।

कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) ने इस बात पर बल दिया है कि "निरीक्षण तथा परिवीक्षण को भिन्न-भिन्न अर्थों मे लिया जाना चाहिए।.. जिला शिक्षा अधिकारी तथा उसके सहयोगियो को अपने सभी प्रयास उपयुक्त परिवीक्षण के लिए केन्द्रित करने चाहिए जिससे अध्यापन मे सुधार हो, शिक्षको को समय पर आवश्यकतानुसार मार्ग-दर्शन मिले, उनके लिए अन्त सेवा प्रशिक्षण के कार्यक्रमो का आयोजन हो तथा उन्हे विस्तार सेवा की सुविधाए उपलब्ध करवाई जाए।

क्या अनुदान के रूप मे आर्थिक सहायता का अर्थ प्रशासकीय नियत्रण है? क्या सरकार से शिक्षा सस्थान चलाने के लिए मात्र आर्थिक सहायता लेने से ही सस्था प्रधान तथा उसके साथियो को अपनी मौलिक स्वतन्त्रता से वचित कर देना उचित है? मुकर्जी के अनुसार—"प्रशासन का अर्थ प्रभुत्व नहीं है तथा न ऐसा होना ही चाहिए। इसका अर्थ मार्ग-दर्शन एव विचार-विमर्श करना कार्यक्रम एव गतिविधियो की सहायता के माध्यम से सहभागी बनाना ही है। दुर्भाग्य से भारत मे सहायता प्राप्त विद्यालय पूर्व के समान ही वार्षिक आवर्तक या अनावर्तक या दोनो ही अनुदान प्राप्त करने के कारण सरकार के स्थायी कृतज्ञ रहते है। शिक्षा सस्थाओ के सचालको की पहल को इस प्रकार इस सीमा तक मृत या निष्क्रिय कर दिया जाता है कि वे सदैव ही उच्चाधिकारियो के आदेशो की प्रतीक्षा करते रहे। स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र की पूर्व आवश्यता है, मांग है तथा शैक्षिक क्षेत्र मे भी यह बात समान रूप से व्यवहृत है।" इस प्रकार किसी भी शिक्षा संस्थान का आतरिक प्रशासन, उसमे कार्यरत किसी उच्च अधिकारी के नियन्त्रण मे होना चाहिए। पाठ्यक्रम का निर्धारण, पाठ्य-पुस्तकों का चयन, मूल्यांकन विधियो आदि का निश्चय विद्यालय के दिन प्रतिदिन का कार्य देखने वाले प्रधानाध्यापक या प्रधानाचार्य का सीधा उत्तरदायित्व है। कुछ भी हो, शिक्षा प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षार्थी का समाज-सम्मत प्रकृति-दत्त सीमाओं तक बहुमुखी विकास करना है। दुर्भाग्य से आज शिक्षा प्रशासन शिक्षार्थी केन्द्रित होने के बजाय मात्र पजिका या पत्रावली केन्द्रित होता चला जा रहा है। इसी भाति के० जी० सैयदेन ने भी बड़े दर्द के साथ शिक्षा प्रशासन के उद्देश्यो की ओर सकेत करते हुए लिखा है—"शिक्षा प्रशासन को अब समझ लेना चाहिए कि उसका कार्य फाइलों का निष्पादन करने, शिक्षण विधियो का पालन करने तथा मानवीय सम्बन्धो को स्वस्थ बनाने तक ही सीमित नही है, उसको तो इनसे कही आगे बढ कर शैक्षिक विचारधाराओ को कार्य रूप मे परिणित करना है। उसका कार्य शैक्षिक क्रिया और शैक्षणिक सिद्धान्तों के बीच अटूट सबध नियोजन का है। स्पष्ट है कि शिक्षा प्रशासन का उद्देश्य सम्पूर्ण शिक्षा की प्रक्रिया मे गति लाना, समायोजन स्थापित करना तथा उसमे प्रगति लाना है।"

शिक्षा प्रशासन को बिना मानवीय विकास की परवाह किये नियमो को अत्यधिक महत्व नही देना चाहिए। इसे कार्यालयों की कार्यवाही मे उलझा न रहकर बालको के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इसका सम्बन्ध मानवीय विचारो, मानवीय भावनाओ, कोमल वृत्तियो तथा बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना अधिक रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध विद्यार्थियो तथा शिक्षा प्रशासन से जुड़े कर्मचारियो तथा अधिकारियो की वैयक्तिक विभिन्नताओ, उनके लक्षणो, उनकी प्रतिभाओ, उनकी उपलब्धियो, तथा उनकी शैक्षिक समस्याओ से अधिक रहता है। शिक्षा प्रशासन द्वारा शैक्षणिक प्रक्रिया से जुडे व्यक्तियो के आपसी सम्बन्ध सुदृढ बनाने का प्रयास किया जाता है। यह शिक्षा दर्शन द्वारा निर्धारित आदर्श, मूल्यो एव उद्देश्यो को प्राप्त करने और शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा बतलाए गए मानवीय व्यवहारो तथा साधनो को सचालित करने का एक साधन है। शिक्षा प्रशासन साधन मात्र है तथा साध्य तो है—शिक्षा के उद्देश्यो की प्राप्ति।

कोठारी आयोग (1964-66) के अनुसार—"शिक्षा प्रशासकों के व्यवहार मे परिवर्तन आना चाहिए, उन्हे

उदार होना चाहिए, उनमे नई बातो को सीखने की जिज्ञासा होनी चाहिए, उनका दृष्टिकोण रूढिवादी नही होना चाहिए क्योकि उसके कारण पुरानी और निरर्थक रूढियों से ही चिपके रहना पडता है।" शिक्षा प्रशासन के एक अध्येता को शिक्षा प्रशासन तथा शैक्षिक प्रबन्ध का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। शिक्षा प्रशासन का गहरा एव विस्तृत क्षेत्र है तथा शैक्षिक प्रबन्ध को वह अपने में समेट लेता है। इस प्रकार शैक्षिक प्रबन्ध को सकुचित अर्थो में लिया जाना चाहिए—उसका क्षेत्र सीमित माना जाना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा प्रशासन मे शैक्षिक प्रबन्ध भी सम्मिलित है, निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट शिक्षा के उद्देश्यो तथा नीतियो की व्याख्याओं का समावेश है। शिक्षा प्रशासन, सभवतया, शिक्षा की मौलिक समस्याओ के न केवल हल के लिए उत्तरदायी है वरन् शैक्षिक सगठन के उद्देश्यो, लक्ष्यो तथा ध्येयो के अर्थ लगाने तथा उनकी कारगर ढग से प्राप्ति की तकनीक है। इस प्रकार शिक्षा प्रशासन के मुख्य कार्य हैं . शिक्षा के ध्येयो, लक्ष्यो एव उद्देश्यों की व्याख्या करना, अर्थ लगाना, तथा विवेचन प्रस्तुत करना, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सगठन की व्यवस्था, शैक्षिक कार्यक्रमो के निर्धारण तथा क्रियान्वयन के लिए निदेशन, उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए आवश्यकतानुसार मानवीय तथा भौतिक ससाधनो की प्राप्ति को सपुष्ट करना, सेवीवर्गीय कार्मिको (शिक्षको, शिक्षा प्रशासको, गैर-अकादमिक कर्मचारियो, छात्र कल्याणकारी सेवाओ से जुड़े व्यक्तियो) के आप्रवेशन (रिक्रूटमेट) के लिए नीति निर्धारण करना तथा उसका क्रियान्वयन, कार्यक्रम के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों का गुणात्मक स्थान निर्धारण करना, मोटे रूप मे विद्यालय तथा समाज के मधुर सम्बन्धो के विकास मे सहायता करना तथा उसके उद्देश्य एव लक्ष्यो का निर्धारण करना तथा इस क्षेत्र मे भावी सभावनाओ को ज्ञात कर, समग्र रूप मे, शैक्षिक सगठन की भूमिका का अनुमान लगाना, आदि-आदि। इससे स्पष्ट है कि आने वाले पेचीदा तथा उलझन पूर्ण जीवन मे शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र मे विकास की और भी सभावनाए निरन्तर बनी रहेगी।

सन्दर्भ

आर्डवेटीड. **दि आर्ट आफ एडमिनिस्ट्रेशन**, लन्दन . मेकग्रा हिल बुक कम्पनी, इनकारपोरेटेड, 1951 पृ 4

वही पृ० 20

वही पृ० 56

बेजामीन एफ. पिटनगर, **लोकल पब्लिक स्कूल एडमिनिस्ट्रेशन**, न्यूयाक : मेकग्रा हिल बुक कम्पनी, इन, 1951 पृ० 96

रोनाल्ड एफ० केम्पबेल, जॉन ई० कोराबेली (जु) राम सीयर, **इन्ट्रोडक्सन टु एज्युकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन**, न्यूयार्क एलन एड बेकन इन 1958, पृ० 178

वही पृ० 192

रसेल टी. ग्रेग, एडमिनिस्ट्रेशन (**आर्टिकल इन इन्साक्लोपीडिया आफ एज्यूकेशनल रिसर्च**) एडिटेड बाइ चेस्टर डब्ल्यू. हेरिस. न्यूयार्क मेकमिलन 1960, पृ० 19.

वही पृ० 35

केफनवर एन० ग्रेसन, **रिऑरियन्टेशन आफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन**, दि फोरटी-फीफथ इयरबुक आफ दि नेशनल सोसायटी फॉर दि स्टेडी ऑफ एज्यूकेशन (पार्ट II) **चेंजिग कन्सेप्ट आफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन**, एडिटेड बाई नेशनल बी० हेनरी, शिकागो दि युनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस. 1946 पृ० 176

एशियन इन्स्टीट्यूट आफ एज्यूकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन, मॉडर्न मेनेजमेंट इन एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन नई दिल्ली : ए. आई. ई. पी. ए 1971, पृ 21

वही पृ. 23

वही पृ. 25

वही पृ. 31

वही पृ. 73

ग्राइडर केल्विन, ए केस फॉर स्कूल बोर्ड एशोसियशन्स, दि नेशन्स स्कूल, 35 1 : 45-46 जनवरी 1945

एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एज्यूकेशनल प्लानिंग एन्ड एडमिनिस्ट्रेशन (उपरोक्त) पृ. 85

आर. सी. शर्मा (डॉ) मीनिंग एण्ड सब्सटेन्स आफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन, एज्यूकेशनल ट्रेण्ड्स (क्वार्टरली जर्नल) अजमेर : रिजनल कॉलेज ऑफ एज्यूकेशन, भाग दो सख्या 3-4, मार्च 1968, पृ. 17

वही पृ 19

एस एन. मुकर्जी (डॉ.), सेकेण्डरी स्कूल एडमिनिस्ट्रेशन, बडौदा : आचार्य बुक डिपो, द्वितीय सस्करण, 1963, पृ 4

वही पृ. 25

रिपोर्ट आफ दि सेकेण्डरी एज्यूकेशन कमीशन (1952-53), शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली . प्रबधक, प्रकाशन विभाग, छठा रिप्रिंट, जून 1965, पृ. 146

कोठारी शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964-66) शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली . प्रबधक, प्रकाशन विभाग, हिन्दी सस्करण 1966, पृ 668

वही पृ 669-670

एस. एन मुकर्जी (डॉ.) (सम्पादक), एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एज्यूकेशन इन इन्डिया, बड़ौदा : आचार्य बुक डिपो, प्रथम संस्करण, 1962 पृ. 227

वही पृ. 236

के. जी सैयदेन, ह्यूमेनिस्टिक रीडिग्ज इन इण्डियन एज्यूकेशन, नई दिल्ली . एशिया पब्लिशिग हाउस, 1958. पृ. 132

कोठारी शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964-66), पृ. 671

वही पृ. 675

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक का नाम : **सामाजिक संस्तरण**

लेखक का नाम . **सुरेश भटनागर**

प्रकाशक : संजीव प्रकाशन, लाल कुर्ती, मेरठ कैंट

पृष्ठ · 232

मूल्य : 24.80 रु०

समीक्षक . **डा० (श्रीमती) नीरजा शुक्ल**

प्रस्तुत पुस्तक **सामाजिक सस्तरण** समाजशास्त्र की आधारभूत सामाजिक समस्या का विशद, तार्किक तथा व्यावहारिक विश्लेषण है, शका समाधान अर्थात् प्रश्न तथा उत्तर शैली में लिखी यह पुस्तक समाजशास्त्रियो के उस वर्ग के लिए चिन्तन के नये आयाम तथा क्रियान्वयन के नये आयाम प्रदान करती है जिनकी सोच हिन्दी भाषा के माध्यम से आगे नही है।

सामाजिक संस्तरण की समस्या विश्वव्यापी है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्तमान के प्रति असतुष्ट है। सामाजिक तनावो तथा संरचना मे होने वाले परिवर्तनो के कारण प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के उस स्तर को प्राप्त करना चाहता है जिसके कारण दूसरे को पद, प्रतिष्ठा तथा सामाजिक लाभ की योग्यताएं प्राप्त हुई हैं। सामाजिक लाभ की योग्यताओं की प्राप्ति प्रगति है और इनके प्राप्त करने के सचेतन प्रयास सस्तरण प्रयत्नो के प्रमाण है।

प्रस्तुत पुस्तक पांच खडों मे विभक्त है। प्रथम खण्ड मे सामाजिक असमानता एवं सामाजिक सस्तरण, सिद्धान्त तथा अवधारणा, क्रियात्मक एव संघर्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण को डेविस तथा मूर, टालकट पार्सन, मैक्स, वैबर, वार्नर, कार्ल मार्क्स तथा डोरेन आदि के विचारो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड मे सामाजिक सस्तरण के रूप में वर्ग तथा जाति की व्यवस्था की गई है। जाति—अभिप्राय, उद्भव तथा विकास, जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त, वर्ग की अवधारणा तथा सामाजिक वर्गों का विश्लेषण करके सस्तरण के अनेक स्तरो पर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। के० एम० पाणिकर के इस कथन की पुष्टि इस खण्ड मे की गई—वर्ण वाद का भीषणतम अभिशाप यह है कि हिन्दू समुदाय अगणित जातियो में बट गया

और इसमें प्रत्येक जाति के अन्दर अनेक उप-जातिया बन गई जिनके कारण हिन्दू जाति छोटी-छोटी इकाईयो मे छिन्न भिन्न हो गई।

सामाजिक सस्तरण की चर्चा प्राचीनतम व्याख्याता कबीर ने इस प्रकार व्यक्त की है—

जस केलन के पात मे, पात-पात मे पात,
तस हिन्दुन की जात मे, जात-जात मे जात।

इस स्तरीय व्याख्या से समाज की सरचना और उसकी सरचना की अनेक परते अपने आप खुलती चली जाती हैं। हट्टन, कूले, मजमूदार, ब्लट आदि के विचारो के आधार पर जाति तथा वर्ग की विशेषताओ का वर्णन किया गया है।

पुस्तक के तीसरे खंड मे जाति व्यवस्था के सरचनात्मक तथा सास्कृतिक दृष्टिकोण, पवित्रता तथा प्रदूषण, शक्ति अधिकार मानदडो की विशद् व्याख्या की गई है। ड्यूमा, एम. एन. श्रीनिवास, मेकियम वेरनर तथा ए० आर० देसाई के विचारो के द्वारा सभी मानदडो की शल्य क्रिया सम्पन्न की गई है। जाति व्यवस्था मे पवित्रता-अपवित्रता की मूल भावना ही उसके सस्तरण-स्तरो का निर्माण करती है। सूतक-जातक जैसी अवधारणाये व्यक्ति तथा जीवन की अपवित्रता को व्यक्त करती है और इनका उपचार भी है परन्तु जातिगत अपवित्रता को दूर करने का एकमात्र उपाय है अच्छे कर्मो द्वारा अगले जन्म मे किसी उच्च जाति मे जन्म लेना। स्वाभाविक तथ्य है कि जिजीविषा की भूमिका से सत्कर्मों का आश्रय लेकर भी व्यक्तिगत सस्तरण मे परिवर्तन लाने का कोई उपाय आधुनिक समाजशास्त्रियों ने नही बताया है।

पुस्तक के चौथे खड में जाति व्यवस्था मे परिवर्तन की प्रक्रिया सस्कृतिकरण द्वारा स्थिति गतिशीलता, आर्थिक राजनैतिक कारक तथा जाति व्यवस्था, जातीय गतिशीलता के क्षैतिज तथा उध्वर्तिमक स्तरों पर गभीर चिंतन प्रस्तुत किया गया है। इस सदर्भ मे किग्सले डेविस का यह कथन उद्धरित कर सकते है: हम स्थायित्व एव सुरक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हो सकते है। समाज के स्थायित्व का भ्रम चारो ओर फैलाया जा सकता है। निश्चयात्मकता के प्रति कल्पना निरतर बनी रह सकती है; और विश्व अनन्त है इस विषय में हमारा विश्वास दृढ हो सकता है लेकिन यह तथ्य विद्यमान रहने वाला है कि विश्व के अन्य तत्वो की तरह समाज अपरिहार्य रूप से बिना छूट के सदैव परिवर्तित होता रहता है।

सामाजिक सस्तरण की कालजयी प्रक्रिया मे अपने भीतर टूट फूट होती रहती है। परन्तु इसका ऊपरी आवरण पता नही किस धातु का बना है कि सस्तरणिक स्थितियो के मध्य व्यक्ति पेन्डूलम की भांति झूलता रहता है। वह स्थिर नही हो पाता। इस तथ्य पर पुस्तक के पाचवे खड मे प्रकाश डाला गया है।

सम्पूर्ण पुस्तक विश्व तथा भारत के वैचारिक संदर्भ मे नये ढग से सोचने को विवश करती है। पुस्तक सरल रोचक भाषा मे उन सभी समस्या बिन्दुओ पर प्रकाश डालती है, जिन्होंने सामाजिक सस्तरण की समस्या को उत्पन्न किया है।

जातियो में सस्तरणिक समस्या के हल करने के लिए जाति पचायतो का स्थान जाति समितियो ने ले लिया है और सुधारवादी कार्यक्रमो द्वारा ये समितिया अपने सदस्यो के सामाजिक आर्थिक तथा सास्कृतिक स्तर को ऊचा करने मे लगी हैं। सस्कृतिकरण तथा लोकिकरण के द्वारा व्यक्ति तथा समष्टि के सुधार के द्वारा जाति अपने सस्तरण मे परिवर्तन करने के प्रयास करती है।

पुस्तक का समग्र परायण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वर्ग परिवर्तन का आधार आर्थिक है और इसमे पद प्रतिष्ठा—तथा जीवन शैली के मानदड बदलते जाते हैं। जातिगत सस्तरण मे शूद्र सस्तरण मे कोई भी अपने को रखने के लिए मानसिक रूप से तैयार नही है। सामाजिक सस्तरण की शास्त्रीय व्याख्या भले ही पद, सोपान, समाज व्यवस्था, असमान पद वितरण, ऊच नीच, पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा पर आधारित रहा हो, इसने सामाजिक प्रतिष्ठा, पद, गुण तथा उपलब्धियो, सामाजिक कार्यों के लिए चिन्तन की धारा प्रस्तुत की है।

पुस्तक का यह पहला सस्करण है। छापे की त्रुटियों को छोडकर सामग्री की दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों, समाजशास्त्र के विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठको के लिए चिंतन के नये आयाम प्रस्तुत करती है। लेखक तथा प्रकाशक हिन्दी मे इस प्रकार की पहली पुस्तक के लेखन तथा प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र है। □□

भारतीय आधुनिक शिक्षा
जनवरी 1988
अंक : तृतीय
वर्ष : पंचम
त्रैमासिक प्रकाशन

इस अंक के आकर्षण

पाठकों के पत्र

अगले अक से हम इस नये स्तंभ का आरंभ कर रहे है। पाठकों के पत्रो का स्वागत है। हम यथास्थान पाठकों के पत्रों को छापने का प्रयास करेंगे।

भारतीय आधुनिक शिक्षा

जनवरी 1988

पत्रिका मे छपे लेखो मे व्यक्त विचार लेखको के निजी विचार है। यह आवश्यक नहीं कि परिषद् की इन विचारों से सहमति हो।

मुखपृष्ठ सांतो दत्त

प्रधान संपादक
प्रो० राजेन्द्रपाल सिंह

अकादमिक संपादक
द्वारका नाथ खोसला

संपादक : गुरचरण लाल आनंद

सम्पादकीय सहायक : आभा दयाल

मुख्य उत्पादन अधिकारी : यू० प्रभाकर राव

उत्पादन अधिकारी : बी० साई प्रसाद

उत्पादन सहायक : प्रमोद रावत

सम्पादकीय

योग और शिक्षा

प्राचीन समय से चली आ रही भारतीय सस्कृति मनुष्य के आचरण से लेकर उसके जीवन के प्रमुख उद्देश्य की व्याख्या करती है। इस सस्कृति की मूल धारणा है कि मानव जाति पशुओ से अलग ही नही, उससे कही ऊपर है। इस जीवन का उद्देश्य परसेवा, धर्मरक्षा तथा कर्म करना है और अन्तिम उद्देश्य प्रज्ञाबान होना अथवा स्थितप्रज्ञ होना है। इसीलिए स्थितप्रज्ञ के विषय मे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से पूछते हैं :

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी. किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

—**श्रीमद्भगवद्गीता**
2.54

भगवान् कृष्ण इस प्रश्न का उत्तर बड़े ही स्पष्ट शब्दो में देते है

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

—**श्रीमद्भगवद्गीता**
2.55

अर्थात् मन की इच्छाओं को त्यागने वाला और इस प्रकार मन को वश मे करने वाला व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ हो सकता है।

कठोपनिषद् में योगी की व्याख्या की गई है :

ता योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धि की धारणा का ही नाम योग है—ऐसा योगी महानुभाव मानते है, क्योंकि उस समय

साधक विषय-दर्शन रूप सब प्रकार के प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है। परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है अत परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरंतर योगमुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिए।

योग द्वारा मन को वश मे करने की बात अथवा चित्तवृत्तिनिरोध प्राय. सभी जानते है। भारत मे योग की अपनी परम्परा है, योग इन्द्रियो, मन तथा समस्त वृत्तियो पर विजय दिलाने का एक साधन है। इसीलिए स्वयं भगवान कृष्ण योगी है, शकर योगी हैं। परन्तु आज जबकि योग का प्रचार-प्रसार विश्व भर मे हो रहा है, पर वह अपने दर्शन से हटकर केवल आसनो द्वारा निरोग रहने का साधन मात्र रह गया है; ऐसी दशा मे भारत सरकार का योग को ठीक रूप से समझने पढ़ने का अवसर दिलाना अपने में आदर्श बात है।

योग को कक्षा मे किस प्रकार लाया जाए, किस रूप में उसे समझाया जाए—क्या योग किसी धर्म-विशिष्ट से जुड़ा हुआ है ? आदि अनेक प्रश्न मन मे उठते हैं। योग दर्शन है अथवा आसन ? योग धर्म है अथवा क्रिया ? योग साधक के लिए है अथवा गृहस्थ व्यक्ति भी इसका लाभ उठा सकता है ? बालको को योग की शिक्षा देने से क्या लाभ होगा ? इन्हीं प्रश्नों ने हमें भी आदोलित किया है और यही कारण है कि इस पत्रिका के इस विशिष्ट अक से हम अपने तथा आपके कुछ प्रश्नो को हल करने का प्रयास कर रहे हैं।

राजेन्द्रपाल सिह

योग : दार्शनिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

डा० पीताम्बर झा

सहायक निदेशक
दार्शनिक साहित्यानुसंधान विभाग
कैवल्यधाम, लोनावला-410403 (पुणे)

भारतीय चिन्तन परम्परा मे नौ दर्शनो का समावेश है। इनमे से छ. वैदिक (आस्तिक) दर्शन हैं तथा तीन वैदिकेतर (नास्तिक) दर्शन है। वैदिक दर्शनो के तीन जोडे बने हुए है—न्यायवैशेषिक, पूर्व मीमासा—उत्तर मीमासा (वेदान्त) तथा साख्य-योग।

दर्शन शब्द मूलतः "दृश्=दर्शने" धातु से बना है, जिसका अर्थ है—अच्छी तरह देखना, सम्यक्दृष्टि या अत्यन्त एकाग्र अवस्था की स्थिति। अर्थात् किसी भी वस्तु को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे देखने या समझने की दृष्टि दर्शनशास्त्र से बनती है। अधिक गहराई से चिन्तन करने पर दर्शन शब्द का अर्थ एकाग्रचित्त होकर आत्म-दर्शन या आत्मनिरीक्षण की योग्यता प्राप्त कर लेना है। निष्कर्ष यह कि जिस शास्त्र के अध्ययन-मनन एवं अभ्यास से व्यक्ति को अपना या अपने परिवेश का सही निरीक्षण या पहचान हो, फलत मन की सघन एकाग्रता व शान्ति की प्राप्ति हो, जीवन के मूल उद्देश्य का पता लगे, वही शास्त्र दर्शनशास्त्र कहा जाता है।

योग—दार्शनिक एवं शाब्दिक विवेचन

साख्य-सिद्धान्त के अनुसार, प्रकृति-पुरुष के सयोग का वियोग होना ही योग[1] है। इसी प्रकार गीता के अनुसार, मनुष्य के साथ जो दुख का सयोग बना रहता है, उसका वियोग होना योग[2] है। अत इस विशुद्ध दार्शनिक परिभाषा के अनुसार योग का अर्थ है वियोग या दो एकत्र वस्तुओ का अलग-अलग हो जाना।

इसके विपरीत धात्वर्थ एव व्युत्पत्तिमूलक सरचना के आधार पर योग शब्द का सुप्रचलित अर्थ है—सयोग। युज्-सयोगे, युज्-सयमने, युज्-समाधौ, एक ही युज् धातु के तीन अर्थ मिलते हैं और इसी युज् धातु से योग शब्द बना है। अत योग के भी क्रमश: निम्नलिखित तीन अर्थों मे प्रयोग होते हैं।

प्रथम : युज्=सयोगे से बने "योग" शब्द का अर्थ है—दो अलग-अलग वस्तुओ का मिलना, जुडना या सयोग होना। महर्षि वसिष्ठ एवं याज्ञवल्क्य आदि योगियो ने योग को इसी अर्थ मे परिभाषित किया है। तदनुसार जिस प्रक्रिया से आत्मा-परमात्मा का संयोग[3] हो, वह योग है।

द्वितीय : युज्=सयमने से बने "योग" शब्द का अर्थ है सयमन करना, नियन्त्रण करना, निरोध करना, आदि।

योग के घटक प्राण, प्राणायाम आदि की चर्चा तो वेदों में बहुधा की गई है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक स्थान पर कहा गया है कि "आदि पुरुष के प्राण से बायु प्रकट हुई"। इसी मण्डल में प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान आदि का भी उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में भी प्राण एवं अपान की चर्चा की गई है। इस वेद में एक स्थान पर तो 'अष्टांगयोग' एवं 'षड्योग' शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त 'आठ चक्र', 'नौ द्वार' एवं 'ब्रह्मगुहा' आदि घटकों की चर्चा भी मिलती है। इसी प्रकार यजुर्वेद एवं सामवेद संहिता में भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि ईसा से अनेकों शताब्दियां पूर्व प्राणायाभ एवं योग के अन्य घटको का विकास हो चुका था।

---

1. पु-प्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्याभिधीयते—**सांख्य**
2. त विद्याद् दु:खसयोगवियोग योगसज्ञितम्— गीता 6 23
3. वसिष्ठ सहिता-4.59 एवं **याज्ञवल्क्य स्मृति**

महर्षि पतजलि ने इसी अर्थ में योग को परिभाषित किया है। तदनुसार जिस प्रक्रिया से चित्त की वृत्तियों का निरोध[4] हो, वह योग है।

तृतीय · युज्=समाधौ से बने योग शब्द का अर्थ है—समाधि की स्थिति मे पहुँचना, समत्व अवस्था को प्राप्त होना या अत्यन्त सघन एकाग्र अवस्था को प्राप्त होना। महर्षि व्यास ने व्यासभाष्य[5] एव गीता[6] मे इसी अर्थ मे योग को परिभाषित किया है। तदनुसार जिस प्रक्रिया से सम्पूर्ण एकाग्रता, समत्व अवस्था या समाधि अवस्था की प्राप्ति हो, वह योग है।

योग के उपर्युक्त विशुद्ध दार्शनिक या तीन प्रकार के धात्वर्थ वास्तव मे एक ही अर्थ को विस्तार देते हैं। वह यह कि जिस विधि से चित्त की नियन्त्रित अवस्था, अत्यन्त सघन एकाग्र अवस्था या समत्व (समाधि) प्राप्त होकर द्वन्द्व का भाव सर्वथा समाप्त हो जाए एव तत्प्रयुक्त, सभी प्रकार के दु:खो से सर्वथा निवृत्ति हो जाए, वह योग है। आज के युग एव परिवेश को ध्यान मे रखते हुए यदि विचार किया जाए, तो एक मात्र यह योगदर्शन ही सरल, सुस्पष्ट एव सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी होने के कारण शिक्षा पद्धति मे सम्मिलित करने के योग्य है। वस्तुत. योगशास्त्र सिद्धान्त से अधिक व्यावहारिक अभ्यास पर बल देता है।[7] प्राय. इसी विशिष्टता के कारण इस योग विषय को प्राथमिक विद्यालयों से ही पाठ्यक्रम मे सम्मिलित करने का विचार किया गया है।

उपनिषदों में भी योग की चर्चा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। योगाभ्यास के लिए अनुकूल स्थान षडङ्गयोग की सूक्ष्म परिकल्पना एवं योगाभ्यास के परिणामो की बात श्वेताश्वतारोपनिषद् में अनेकों स्थान पर की गई है। इसी प्रकार कठ, केन, तैत्तिरीय, प्रश्न, छन्दोग्य, कौषीतकि आदि उपनिषदों एवं बीस योगोपनिषदों में योग का बाहुल्य है।

इस शुभ एव सुचिन्तित निर्णय से निश्चित रूप मे हमारी भावी पीढी भारतीय-दर्शनो के मुख्य उद्देश्य को प्राप्त कर भारतीय सस्कृति उस मनुकालीन स्वर्णयुग का पुनर्निर्माण करेगी, जहां मनु ने कहा था कि "इस देश मे जन्म लेने वाले बच्चे अपने-अपने चरित्र की शिक्षा सम्पूर्ण विश्व के मानवों को दें।[8]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता है कि यहाँ के प्रत्येक प्रतिष्ठित शास्त्र या दर्शन की उत्पत्ति वेद से मानी गयी है। इसी परम्परा में योगशास्त्र की उत्पत्ति भी हिरण्यगर्भ[9] या शिव[10] (आदिनाथ) से मानी गयी है। जो भी हो, किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणो एवं तत्प्रयुक्त प्राप्त तथ्यो से यह स्पष्ट हो गया है कि योग के प्रमुख अग आसन एवं विभिन्न यौगिक साधनाओ का उल्लेख तथा उनके भित्ति चित्र एवं पत्थर की मूर्तियां सिन्धुघाटी सभ्यता काल (ईस्वी पूर्व 3000 वर्ष) मे विद्यमान थीं। जिस मोहन जोदडो को अनुसन्धानकर्ताओं ने आर्यो के आगमन का भी पूर्ववर्ती बताया है, उसमे योग साधनारत योगियों की मूर्तियो का पाया जाना न केवल यह सूचित करता है कि उस समय में योग-परम्परा का विकास चरमोत्कर्ष पर था अपितु इससे यह भी सूचित होता है कि यह योग-परम्परा अति प्राचीन परम्परा है।[11]

योग के विभिन्न घटको की चर्चा वैदिक ऋचाओ[12] मे भी पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है, जिनमें ऋषियो ने यज्ञ बेला मे योग के आचार एव अभ्यास का निर्देश किया है। तथा इससे सासारिक एव पारलौकि सुख-शान्ति प्राप्त होने की बात की है। ऋक्संहिता मे तो यहा तक

4. योगसूत्र-1.2
5. व्यासभाष्य-1.1
6. गीता-2.48
7. हठप्रदीपिका-1.65
8. मनुस्मृति
9. महाभारत-12.349 65
10. हठप्रदीपिका-1.1
11. द कलचरल हैरीटेज ऑफ् इंडिया, VI 66-67
12. ऋग्वेद-1.5.2, सामवेद उ०-1.2.10.3, अथर्ववेद-20 69 11
    ऋग्वेद-1.30 7 यजुर्वेद-1.14, सामवेद उ० 1.2 11 1, पू०-2.2.7.9, अथर्ववेद-19.24.7 एव 20.26.1

कहा गया है कि जिसके ज्ञान एवं अभ्यास के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसे योग को प्राप्त करो।[13]

योग के घटक प्राण, प्राणायाम आदि की चर्चा तो वेदों में बहुधा की गई है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे एक स्थान पर कहा गया है कि "आदि पुरुष के प्राण से वायु प्रकट[14] हुई"। इसी मण्डल मे प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान आदि का भी उल्लेख[15] मिलता है। अथर्ववेद मे भी प्राण एव अपान की चर्चा की गई है।[16] इस वेद में एक स्थान पर तो "अष्टागयोग" एवं "षड्योग" शब्दो का भी उल्लेख मिलता है।[17] इसके अतिरिक्त 'आठचक्र,' 'नौ द्वार', एवं 'ब्रह्मगुहा' आदि घटको की चर्चा भी मिलती है।[18] इसी प्रकार यजुर्वेद एवं सामवेदसंहिता मे भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।[19] इन सब तथ्यो से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि ईसा से अनेको शताब्दिया पूर्व प्राणायाम एवं योग के अन्य घटको का विकास हो चुका था।[20]

उपनिषदो मे भी योग की चर्चा प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। योगाभ्यास के लिए अनुकूल[21] स्थान, षडङ्गयोग की सूक्ष्म परिकल्पना[22] एव योगाभ्यास के परिणामो[23] की बात श्वेताश्वतरोपनिषद् मे अनेको स्थानो पर की गई है। इसी प्रकार कठ[24], केन[25], तैत्तिरीय[26], प्रश्न[27], छान्दोग्य[28], कौषीतकि[29] आदि उपनिषदो एव बीस योगोपनिषदो मे योग का बाहुल्य है।

सूत्रग्रन्थो मे महर्षि गौतम के धर्मसूत्र एव न्यायदर्शन, बोधायन के धर्मसूत्र, कणाद के वैशेषिकदर्शन, देवल के धर्मसूत्र तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्र मे योग के महत्व को स्वीकारते हुए आसन-प्राणायाम-ध्यान आदि का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

स्मृतिग्रन्थ मनुस्मृति मे योग के यम-नियमों के सेवन की अनिवार्यता[30] एवं याज्ञवल्क्यस्मृति मे योग के पद्मासन एव नाडियो की विस्तृत व्याख्या[31] उपलब्ध है।

विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थो मे भी यौगिक प्रक्रियाओं एव साधनाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनमे महानिर्वाणतन्त्र, शारदातिलक आदि प्रमुख है।

बौद्ध-साहित्य मे भी यौगिक सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार[32] बौद्ध धर्म ने योग के सिद्धान्सों को अपना लिया था और वे लोग योग की साधना किया करते थे। बौद्धो ने अपनी सामूहिक साधनाओं को शास्त्र का रूप देकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो पातजलयोग पद्धति से कुछ-कुछ मिलती है। योग की मूलभित्ति पर ही तन्त्रो का निर्माण हुआ और तन्त्रो की सहायता से बौद्ध साहित्य सर्वागपूर्ण बन गया। सेनार्ट एव पुसे नामक पाश्चात्य विद्वानो[33] ने तो योग को ही बौद्धमत का मूल कारण माना है।

इसी प्रकार जैन साहित्य मे भी योग के सिद्धान्तो का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। जैनियो के सुप्रसिद्ध अहिंसादि पच महाव्रत वही है जो योग के है। स्वयं भगवान महावीर योग के ध्यानात्मक आसनो एव ध्यानाभ्यासों मे लीन रहा करते थे[34]। जैनियो के अनुसार योग का अर्थ ही है ध्यान। जैन ग्रन्थो मे पचागयोग[35] का वर्णन किया गया है।

---

13. ऋक्संहिता 1 1-7
14. ऋग्वेद-10-90.3
15. ऋग्वेद-10 189.2 एवं 1.6-3-3
16. अथर्ववेद-8.1.1
17. वही-6 9.1.1
18. वही-10.2.31
19. वैदिक कोश, प्र० भाग, पृ० 337-351
20. धर्मशास्त्र का इतिहास-पी० वी० काणे, भाग-5
21. श्वेता-2.10
22 वही 2.8.9
23. वही-2.12 13
24 कठो०-1.2.12, 2.2.3, 2.3.11, 2.6.11
25. केन-1 8
26. तैत्ति०-2.4, 3.1.9
27. प्रश्न-3 6-9
28 छान्दो०-7.6.1-2
29. योगो० अडयार-मद्रास
30. मनुस्मृति-2.204
31. याज्ञवल्क्यस्मृति-3.108, 167, 198
32. कल्याण-योगांक पृ० 281, सन्दर्भ-हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पृ० 23
33 संतकाव्य मे योग का स्वरूप, पृ०124
34. गुह्यसमाजतन्त्र-18.139-162
35. योगभेदद्वात्रिंशिका

पुराणकालीन युग मे भी योग का प्रभाव इतना व्यापक था कि प्रसिद्ध 18 पुराणो मे से अधिकांश मे इन योग-विधियो की चर्चा मिलती है। श्रीमद्भागवत मे जहा यम-नियमादि आठ अगों की चर्चा करते हुए प्राणायाम एव ध्यान का विस्तार से वर्णन किया गया है, वहां कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाने का भी वर्णन मिलता है[36]। विष्णु पुराण मे आत्मदर्शन का कारण योग बताकर उसके आठ अगो का वर्णन, वायुपुराण, लिंगपुराण, कूर्म, नारद, गरूड, अग्नि, शिव, स्कन्द आदि पुराणों मे भी मुख्यतया अष्टागयोग का वर्णन तथा मार्कण्डेय, मत्स्य, ब्रह्म, एव वराह पुराणो मे योग के कुछ अगो के वर्णन है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार हजारो ब्रह्मचारियो, हजारो गृहस्थो तथा सैकडो वानप्रस्थो से भी योगाभ्यासी का स्थान ऊचा है[37]।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार योगियो का स्थान तपस्वियो, ज्ञानियो एव पुरुपार्थियो से भी श्रेष्ठ है, अत' योगी ही बनना चहिए[38]। गीता ने विविध प्रकार से योग को परिभाषित किया है, जिनमे "समत्व योग उच्यते"[39] श्रेष्ठ परिभाषा मानी जा सकती है। इसी बात को "योग: कर्मसु कौशलम्"[40] इस परिभाषा के द्वारा दूसरे प्रकार से गीता कहती है, क्योकि कर्म मे कुशलता तभी होगी जब शरीर, मन और बुद्धि समत्व अवस्था मे हो।

ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी मे भारतीय साहित्याकाश मे एक जाज्वल्यमान नक्षत्र, महर्षि पतंजलि, का उदय हुआ, जिसने सिन्धुघाटी सभ्यता से लेकर वेद, उपनिपद्, सूत्र, स्मृति, बौद्ध, जैन आदि ग्रन्थो मे विपुल मात्रा मे बिखरे पडे योग के तत्व-बीजों को समेटकर अपनी गहन चिन्तनधारा एव सुदृढ़ दार्शनिक-चिन्तन के आधार पर एक अनुपम ग्रन्थ "योगसूत्र" की रचना की। इस ग्रन्थ मे नीरक्षीरविवेकी महर्षि पतंजलि ने पूर्ववर्णित यौगिक-प्रक्रियाओ मे से उतने ही तत्व ग्रहण किये, जो उसके विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन के अनुकूल पडते थे। इस प्रकार के एक नये अप्रतिम दार्शनिक योग-ग्रन्थ के निर्माण का प्रभाव यह हुआ कि "अष्टागयोग परम्परा" की स्थापना हुई और दार्शनिक साहित्य मे योग को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। पतजलि ने अपने योगदर्शन मे योग की प्राप्ति के लिये चित्तवृत्तिनिरोध प्रक्रिया, क्रियायोग, अष्टांगयोग, सयमयोग आदि विभिन्न योग-मार्गों का विवेचन किया है।

पातंजलयोग के सिद्धान्त

पातजलयोग पूर्णत: चित्तानुशासन पर बल देता है। यह दर्शन, विचार प्रधान दर्शन है। अत मन या चित्त को, प्रमुख आधार बनाकर उसकी शुद्धि एवं निरोध-प्रक्रिया के द्वारा अत्यन्त सघन एकाग्र अवस्था को प्राप्त कर आत्मनिरीक्षण या आत्मदर्शन[41] की योग्यता प्राप्त करना या अंतत समाधि अवस्था प्राप्त कर आत्मा-परमात्मा के भ्रामक भेद का अन्त हो जाना, इस योग का चरम लक्ष्य है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर सम्पूर्ण योग दर्शन मे तत्सम्बन्धी दार्शनिक प्रक्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

हठयोग के सिद्धान्त

शरीर को प्रमुख आधार बनाकर प्रथम उसकी शुद्धि स्वास्थ्य आदि प्राप्त कर, सम्पूर्ण शरीर के आन्तरिक अवयवो-सरचनापद्धतियो व कार्यप्रणालियो से परिचित होकर, तब तत्सम्बन्धी विविध प्रकार के शारीरिक-प्राणिक-मानसिक-भावनिक व आध्यात्मिक अभ्यासों को अपनाकर अन्ततः विशुद्ध आन्तरिक सवेदनाओं को शक्ति (मूलाधार) स्थान से सुषुम्ना-मार्ग के द्वारा ऊपर की ओर प्रवाहित कराकर अत्युच्च शिव (सहस्रार) स्थान मे उस शक्ति को शिव से ही मिला देना हठयोग का चरम[42] लक्ष्य है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर हठयोगियो ने हठयोग के विविध अगो एव उपागो का विस्तृत विवेचन किया है।

शास्त्रानुसार चित्त-नदी उभयतोवाहिनी है। वह ससार की तरफ प्रकट रूप से दोनो नासिकाओ द्वारा निरन्तर बहिर्मुख अथवा अधोमुख होकर बह रही है।

---

36. श्रीमद्भागवत-3.28, 1। 14-19
37. ब्रह्माण्ड पुराण
38. गीता-4.6
39. गीता-2.48
40. गीता-2.50
41 याज्ञवल्क्य-। 18
42. सिद्धसिद्धान्तसंग्रह-4 37-38, मनुस्मृति-6.65

वही चित्त-नदी कल्याण-मार्ग की ओर गुप्त रूप से अन्तर्मुख अथवा ऊर्ध्वमुख होकर बह रही है। यह जो ऊर्ध्वमुखी या अन्तर्मुखी धारा है, यह मानव-शरीर मे मेरूदण्ड के बीच मे स्थित सुषुम्ना नाडी का अवलम्बन कर प्रवाहित होती है। और बहिर्मुखी धारा इडा-पिंगला एव उनकी असंख्य शाखा-प्रशाखाओ का अवलम्बन कर प्रवाहित होती है।[43] जब "ह" और "ठ" (रवि-शशि, सूर्य-चन्द्र, दायां-बाया, पिंगला-इड़ा, प्राण-अपान, शक्ति-शिव, यमुना-गगा, रज-बिन्दु, पवन-मन, अध.-ऊर्ध्व) का सयोग[44] या मिलन हो जाता है अर्थात् व्यावहारिक रूप से जब प्राणायाम या पूर्ण कुम्भक की स्थिति अभ्यास के द्वारा साधक की हो जाती है, तब इस बहिर्मुखी या अधोमुखी चित्त का प्रवाह स्वत ही परिवर्तित होकर अन्तर्मुखी या ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। यही हठयोग का अर्थ है।

उपर्युक्त दोनों (पातजल एव हठ) योग के सिद्धान्तो मे परस्पर विरोध नही हैं, अपितु प्रक्रियाभेद एव आधारगत भेद है। किन्तु अन्तिम लक्ष्य दोनो का एक ही है—समाधि। समाधि के लिये योग के क्षेत्र मे राजयोग शब्द का प्रयोग होता है। और हठयोग भी यह मानता है कि उसके अभ्यास अन्तत· राजयोग मे जाकर ही पर्यवसान होते है[45]।

हठयोग परम्परा

हठयाग के अधिकाश महत्वपूर्ण घटक, आसन-प्राणायाम-मुद्रा, आदि के चिह्न निर्विवाद रूप से सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषो मे उपलब्ध होते है और प्राय वही से वेदो, उपनिषदो, सूत्र-स्मृति ग्रन्थो आदि मे अवतरित होते हुए विभिन्न भारतीय साहित्यो मे पुष्पित-पल्लवित होते रहे है। किन्तु इन सिद्धान्तो को क्रमबद्ध रूप मे एकत्र निरूपित करने का सर्वप्रथम श्रेय दसवी शताब्दी मे उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री गोरखनाथ को जाता है। यद्यपि इनसे लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व ई० पू० तृतीय शताब्दी मे लिखित बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ "**गुह्य-समाजतन्त्र**"[46] मे एक स्थान पर "हठयोग" शब्द का प्रयोग हुआ है और इस पुस्तक के अन्तिम पूरे अध्याय मे षडङ्गयोग का भी वर्णन मिलता है, फिर भी यह ग्रन्थ "सम्यक्सम्बोधिलाभ"[47] को उद्देश्य बनाकर बौद्ध-सिद्धान्तो की व्याख्या करता है, अत· इस ग्रन्थ को स्वतन्त्र रूप से हठयोग का ग्रन्थ नही माना जा सकता। अतएव गोरखनाथ को हठयोग को क्रमबद्ध रूप देने मे प्रथम आचार्य मानने मे कोई आपत्ति नही दिखाई देती। गोरखनाथ के द्वारा सस्कृत मे लिखित 28 हठयौगिक ग्रन्थों की चर्चा ऐतिहासिको द्वारा की गई है[48]। किन्तु उपलब्धता के आधार पर चार कृतिया निश्चित ही है। वे है **अमरौघशासन**, **गोरक्षपद्धति**, **गोरक्षशतक** तथा **सिद्धसिद्धान्तपद्धति**।

गोरखनाथ के पश्चात् चौदहवी शताब्दी मे एक और क्रान्तिदर्शी हठयोगी स्वात्माराम[49] का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने हठयोग को सर्वथा एक नयी दिशा देते हुए विशुद्ध वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय देते हुए हठयोग के मात्र चार अग निर्धारित किये। इस प्रकार स्वात्माराम ने चतुरगयोग[50] की एक नयी पद्धति का आविष्कार कर हठयोग को सर्वसामान्य-जनो के लिये सुलभ कराने मे अपना महान योगदान दिया।

हठयोग की एक और उपलब्ध पुस्तक है सत्रहवी शती में योगी घेरण्ड द्वारा लिखित **घेरण्डसंहिता**। इस ग्रन्थ में घेरण्ड ने हठयोग के सात अग माने है[51]। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें हठयोग का प्रथम अंग ही षट्कर्म को माना गया है। उपर्युक्त छ: प्रमुख हठयौगिक ग्रन्थो के अतिरिक्त **हठरत्नावली**, **हठसंकेतचंद्रिका** प्रभृति कुछ और ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी भाषा मे भी गोरख ने

43. भारतीय संस्कृति और साधना-पृ० 225
44. योगशिखोपनिषद् 1.133
45. हठप्रदीपिका-2.76
46. उक्त पुस्तक की भूमिका
47. गु० स० त०-18.139-40, 163
48. नाथ-सम्प्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 99-100
49. हठप्र० की भूमिका, कैवल्यधाम प्रकाशन
50. हठ प्र० 1.56
51. घे० संहिता-1.10-11

"गोरखवाणी" प्रभृति दर्जनो ग्रन्थो का प्रणयन किया। इसी प्रकार गोरख के परवर्ती पन्द्रहवी शताब्दी के महात्मा कबीर ने भी हठयोग के विभिन्न गहनतम अभ्यासो की चर्चा अपनी पदावली मे की है[52]। एक और उत्कृष्ट योगी हो गये है, सत्रहवीं शताब्दी के स्वामी चरणदास। चरणदास ने **अष्टांगयोग** नाम से एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना हिन्दी में कर आज के योग-छात्रो पर बड़ा ही उपकार किया है। यह पुस्तक भारत के विभिन्न योग सस्थानों के पाठ्यक्रम मे निर्धारित है।

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे योगी रामकृष्ण परमहस का उदय भी योग के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण घटना है। उन्होंने अपने जीवन मे सभी प्रकार की साधना पद्धतियो की सत्यता प्रयत्क्ष करके यह प्रमाणित कर दिया कि भारत की अध्यात्म साधना मे असीम शक्ति निहित है। परमहंस रामकृष्ण के प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने अपनी अद्भुत योगमय अध्यात्मशक्ति एव योगाभ्यास के बल पर भारत मे एक नये योग-युग का सूत्रपात्र किया। इस प्रकार श्री रामकृष्ण एवं विवेकानन्द ने सभी साधनाओ का मूलगत ऐक्य दिखाकर जो 'सर्वयोगसमन्वय' सिद्धान्त किया, वह बाद मे योगीराज अरविन्द की योगसाधना मे पूर्णतः प्रस्फुटित हुआ। श्री अरविन्द ने कहा—"मनुष्य के अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मन मे पूर्ण विकसित कर मानव जीवन को दिव्यजीवन मे रूपान्तरित करना होगा। यही सभी साधनाओ का, विशेषकर योगसाधना का, वास्तविक लक्ष्य है।" इसके लिये श्री अरविन्द ने मनुष्य के अन्दर 'अतिमानस' (super mind) विज्ञान सत्ता का प्रादुर्भाव होना आवश्यक माना है। मन, बुद्धि की शक्ति से मनुष्य कितनी दूर तक ऊपर उठ सकता है, उसके उत्कृष्ट उदाहरण इस युग मे महात्मा गांधी भी है। वे अहिंसा, सत्य आदि योग के नैतिक आदर्शों को अपनाकर तदनुसार जीवन को गठित करने की साधना पर बल देते हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को मोटे तौर पर तीन भागो मे विश्लेषित किया जा सकता है।

प्रथम भाग—सिन्धुघाटी सभ्यता (ई० पूर्व० 3000 वर्ष) से ई० पूर्व तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध तक माना जा सकता है, जिसमे वेद, उपनिषद्, सूत्र, स्मृति, तन्त्र, बुद्ध, जैन आदि ग्रन्थो मे योग के विभिन्न तत्व विशेषतः प्राणायाम का विस्तृत वर्णन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते हुए भी इन सिद्धान्तो पर आधारित स्वतन्त्र रूप से योग का कोई ग्रन्थ नही था।

द्वितीय भाग—ई० पू० तीसरी शताब्दी के मध्य से ईसा की नवी शताब्दी तक का माना जा सकता है, जिसमे महर्षि पतजलि ने **योगसूत्र** नामक एक स्वतन्त्र एवं दार्शनिक ग्रन्थ का निर्माण कर योग की एक स्वतन्त्र शाखा का विस्तार किया, जिसके कारण योग का दर्शन के क्षेत्र मे प्रवेश हुआ और जो आज भी अपने उसी स्वरूप मे योग का शखनाद कर रहा है। इसके साथ ही इस काल मे योग का वह प्रथम भाग का स्वरूप भी अपना विस्तार पाता रहा, जिसमे पुराणदि ग्रन्थो में इसके तत्वो का वर्णन विपुल मात्रा मे होता रहा।

तृतीय भाग व अन्तिम भाग—दसवी शताब्दी से आज तक माना जा सकता है, जिसमे श्री गारखनाथ ने अनेको हठयौगिक ग्रन्थो की रचना कर एक स्वतन्त्र हठयोग सम्प्रदाय की स्थापना की। गोरखनाथ प्रवर्तित हठयोग की यह अक्षुण्ण धारा न केवल आज तक प्रवाहित हो रही है, अपितु चौदहवी शताब्दी मे श्री स्वात्माराम योगी ने **हठप्रदीपिका** नामक हठयोग ग्रन्थ की रचना कर इसको इतना सुदृढ आधार दे दिया कि आज के लिये हठप्रदीठिका के सिद्धान्त व व्यावहारिक अभ्यास ही सर्वथा उपयोगी प्रमाणित हो रहे है।

इस प्रकार सिन्धुघाटी सभ्यता एव ऋग्वेदकाल से अनुस्यूत हुई योग-गगा का अजस्र व अखण्ड प्रवाह सहिता-उपनिषद्-सूत्र-स्मृति-तन्त्र-बुद्ध-जैन-पुराण-नाथ आदि विभिन्न कालो एव सम्प्रदायों में अवतरित होता हुआ भारतीय सस्कृति के सभी वैदिक एव वैदिकेतर सम्प्रदायो मे कही छिटपुट व कही विपुल योग तत्वो को बिखेरता हुआ आज तक उसी रूप मे विद्यमान है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी वर्तमान पीढी इस पावन-योग-प्रवाह से परिचित हो और इसमें स्नान कर (इन योग-अभ्यासो को अपनाकर) अपने सभी प्रकार के कल्मष को (शारीरिक-मानसिक-नैतिक-

52. पदावली-206-207

भावनिक-आध्यात्मिक-अस्वास्थ्य को) दूर कर एक विशिष्ट यौगिक-व्यक्तित्व का निर्माण करे। प्रसन्नता की बात है कि हमारी सरकार भी अब इस अनुपम योग-निधि की विधि से परिचित होने लगी है और विद्यालयों मे योग शिक्षा को बढावा देने का प्रयास कर रही है। अत. आशा करनी चाहिये कि इस योग शिक्षा से हमारी वर्तमान व भावी पीढ़ी मे एक नयी चेतना का विकास होगा। □□
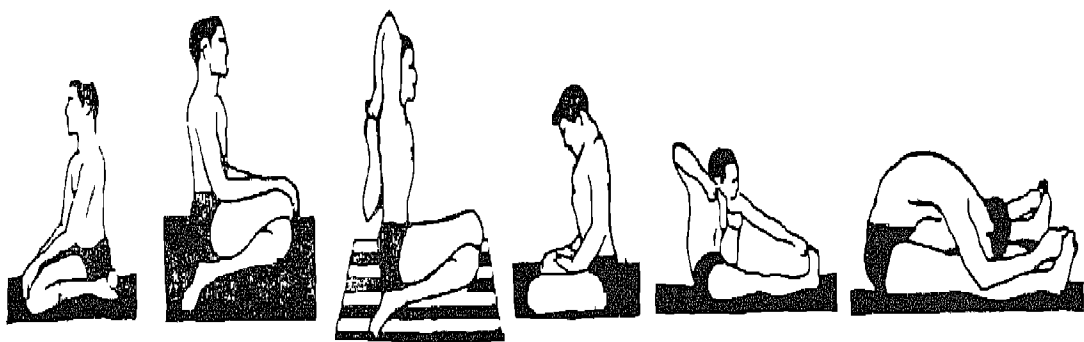
आज ऐसे अनेक नवयुवक हैं जो बिना पतवार की नाव की तरह समाज में डगमगा रहे है। ऐसी बात नही कि समाज में कोई दोष है या वे अनुशासन-हीन है। वे पतवारविहीन हैं क्योकि उन्हे अपने अस्तित्व का आधार मालूम नही। अगर आप अपने बच्चों को उनके अस्तित्व का आधार बता सकते हैं तो आप उन्हे पूर्ण शिक्षित बनाने में सफल हो सकते है। बच्चों के शांतिपूर्ण विकास का मार्ग सिर्फ समाज में ही नही ढूढ़ना चाहिए। आहिस्ते-आहिस्ते हमे बच्चो को योगाभ्यास की ओर उन्मुख करना चाहिए, सिर्फ स्कूल या अन्य सस्थाओ मे ही नही, वरन् योग स्कूलों में भी उनके लिए अलग विभाग होना चाहिए।

बच्चों को योग क्यों सिखाएं ?

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन, मुगेर (बिहार)

हम सब बच्चे है, बच्चो को हमने बनाया है और हम चाहते है कि हमारे बच्चे जीवन मे बहुत तरक्की करे। पहले लोग सोचते थे कि योग सिर्फ वयस्कों के लिए है। सदियो तक बच्चो का योग से कोई वास्ता नही था। लोग सोचते थे कि योग कोई जादूगरी है या किसी प्रकार की अदृश्य खोज है और इसीलिए बच्चो को योग से अलग रखा गया। मै करीब ग्यारह साल से कुछ वैज्ञानिक कारण ढूढ रहा हू ताकि बच्चो को योग से अवगत करा सकू। मैंने कई बच्चो पर प्रयोग किए है, यह देखने के लिए कि योगाभ्यास उनके शरीर, मस्तिष्क और व्यक्तित्व पर कैसा प्रभाव डालता है। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि बच्चो को योगासन सिखाना बहुत जरूरी है। योगाभ्यास उनके शारीरिक और मानसिक विकास में बहुत मुख्य भूमिका अदा करता है और इसीलिए बच्चो को योग की तरफ आकर्षित करना चाहिए।

सतुलन के लिए

मानव शरीर मे रीढ की हड्डी के ऊपर एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रथि है जिसे योग की भाषा मे "आज्ञाचक्र" कहते है। उम्र के साथ-साथ बाद मे वह ग्रथि नष्ट होने लगती है। ज्यो-ज्यो यह ग्रथि नष्ट होने लगती है त्यो-त्यों मुख्य ग्रन्थि विभिन्न प्रकार के हार्मोन्स पैदा करने लगती है जो मनुष्य के भावनात्मक एव बौद्धिक विकास के लिए सहायक होती है, साथ ही वह उसके सेक्स सम्बन्धी विकारो का ज्ञान और सभी अवयवो के काम के लिए भी उत्तरदायी होती है। इसी के साथ-साथ बच्चा सामाजिक जीवन के दायरे मे प्रवेश करता है।

इसके पहले तक बच्चो की चेतना का स्तर बहुत ऊचा होता है। आज्ञाचक्र ब्रह्म नेत्र है। यह बच्चों के ब्रह्म ज्ञान का प्रतीक है। आज्ञाचक्र के नष्ट होने के साथ बच्चे की पवित्रता एवं पर-ब्रह्म के साथ तालमेल की क्षमता खतम हो जाती है। बच्चो को सासारिक वातावरण, द्वन्द्व और नैतिक व्यक्तित्व की अनुभूति होने लगती है। कभी-कभी बच्चो के शारीरिक, मानसिक एव भावनात्मक विकास मे इतना फर्क हो जाता है कि वे उस कारण को दूर करने मे असमर्थ हो जाते हैं। योगाभ्यास के द्वारा आज्ञा ग्रथि को नष्ट होने से बचाया जा सकता है और इस तरह बच्चो मे मानसिक एव भावनात्मक सतुलन पैदा किया जा सकता है। यही मुख्य कारण है कि बच्चों के जीवन मे योग का कितना महत्व है और उनकी शिक्षण प्रणाली मे योग कितना सहायक हो सकता है।

एक और बात है, क्लासरूम में बच्चे प्राकृतिक रूप से शिक्षा ग्रहण नही करते है। प्रताडना और भय के मारे वे थोडा पढते है। उनका उद्देश्य होता है परीक्षा पास करना। योग प्रणाली मे बच्चो को सभाषण के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। मानसिक रूप से बच्चे बहुत ही सूक्ष्मदर्शी होते हैं और इसीलिए सचार के माध्यम से दिया गया ज्ञान वे जल्दी ग्रहण करते है। उनमे ग्रहण करने की विशाल क्षमता होती है। बच्चो को सभी बौद्धिक प्रक्रियाए समझाने की जरूरत नही है। प्रकृति ने उनमे जरूरत भर सूक्ष्म ज्ञान दिया है जिससे वे अच्छे और बुरे की

पहचान कर लेते है । लेकिन कुसयोग से वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों की इस प्रतिभा को धीरे-धीरे खतम कर रही है। अतएव बच्चो की शिक्षा के विषय मे हमे "ससार" का ध्यान हमेशा रखना है। अतएव योग के किन पहलुओ को बच्चो की शिक्षा मे मिलाया जाए इसका हमे शुरू से ध्यान रखना है तथा उसी के अनुसार योग शिक्षा प्रणाली को बच्चो के जीवन मे उतारना है।

जब बच्चा बडा होता है तो उसे विभिन्न प्रकार की व्यवस्था करनी होती है। उसके शरीर की शारीरिक क्रियाओ को बढाना पडता है तथा इसे सिम्पेथेटिक एवं पैरा-सिम्पेथेटिक प्रणाली के संतुलन मे लाना पडता है। साथ ही साथ जब उसका सेकेण्डरी सेक्स विकसित होता रहता है तो उसके शरीर मे प्रभावित हार्मोन्स का भी ठीक तरीके से प्रबन्ध करना होता है। अगर इन हार्मोन्स का ठीक तरह से उचित जगह पर प्रबन्ध नही किया जाए तो वह मनुष्य बहुत भयकर मानसिक तकलीफ मे पड़ जाता है। ये मानसिक समस्याए ही क्षुब्ध ऊर्जा की प्रतिक्रियाए है। जब भी मनोवैज्ञानिक कहते है कि मानसिक समस्याओ की जड बचपन होता है तो मैं उससे असहमत नही हू लेकिन दूसरे भी कारण हैं। कभी-कभी इस भौतिक शरीर मे ऊर्जा का आकार कुछ अनियमितता मे होता है जिसका कारण भौतिक है। उदाहरणार्थ यदि एक बच्चे मे सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम ज्यादा प्रकट रूप मे है तो वह बहुत ही आक्रामक, भयकर और बेचैन रहता है क्योंकि वह असतुलित है। दूसरी तरफ अगर उसका पैरा-सिम्पेथेथिक नर्वस सिस्टम ज्यादा बलवान होता है तो वह भीरू, हीनता से ग्रस्त एवं आसानी से झुकने वाला होता है जो कि अनेक कारणो से पैदा होते है। कोई जरूरी नहीं कि ये माता-पिता या समाज के कारण है, ये पूर्णत: बायोलॉजिकल हो सकते है।

बच्चा मात्र हाड-मांस का पुतला नही है। वैज्ञानिक रूप से यह शरीर अनेक अणु-परमाणु, विद्युत धाराओ एव ऊर्जा के आकार से बना है। अत: इस शरीर की परिभाषा ही बदल जाती है। सही है कि शरीर मे हड्डी, मास, खून और श्लेष्मा है लेकिन वह इन्ही के सिद्धातो पर नहीं चलता है। मनुष्य इसीलिए जिन्दा नही है कि उसका कलेजा काम कर रहा है। यह सिर्फ इसलिए श्वास नहीं ले रहा है कि इसके फेफड़े काम कर रहे है। मनुष्य सिर्फ इसीलिए नही सोचता है कि उसे दिमाग है या इसीलिए नही बोल पाता कि उसे जीभ है। इन सभी चीजो को ऊर्जा सचालन के सदर्भ मे सोचना होगा। आपको समझना होगा कि आपका बच्चा एक गतिशील ऊर्जापुज है। इतना ही काफी नही है उसे खाना खिला दिया, उसके दिमाग मे किताबी ज्ञान भर दिया। खाना शरीर के लिए आवश्यक है। गणित एव थ्योरी का ज्ञान उसे देना जरूरी है। ताकि वह प्रोफेसर, अधिकारी, डॉक्टर या वकील बने। सब चीजें जरूरी हैं लेकिन साथ ही साथ आपको उन हजारो ऊर्जा शक्तियो का ध्यान रखना होगा जो उस बच्चे के शरीर मे बह रही है और जो वस्तुत: उसके अस्तित्व को कायम रख रही हैं।

अनुशासन

जब बच्चा बीसवें साल मे पहुचता है तो इन क्रियाओं को साफ करना पहला काम है। उसका शरीर मैल पैदा करने लगता है और अगर इस मैल को फेंका नहीं जाए तो वह उसके शरीर मे जीवाणुओं पर प्रतिक्रिया करता है एव उसके भौतिक और मानसिक ढाचे को भी प्रभावित करता है। अतएव बीस साल की उम्र से उसे अनुशासन एवं प्रणाली के अन्दर रखना है।

मै आत्म-अनुशासन के विषय मे बातचीत कर रहा हू न कि सामाजिक, धार्मिक या किसी संस्था सम्बन्धी अनुशासन की। मुझे मालूम है मुझे क्या करना है और क्या नही करना है। इस मौलिक शरीर मे सतुलन की एक प्रणाली है। अगर आपको शरीर के ऊर्जा आकार मे सतुलन पैदा करने का रहस्य मालूम है तो आप बच्चों में अपने आप अनुशासन पैदा कर सकते है। उदाहरणार्थ आपके पास एक मोटर कार है, इसके चक्के ढीले हो गए है और इसका स्टीयरिंग हमेशा दाहिने भागता है, जब भी आप कार चलाते है वह हमेशा दाहिने तरफ भागता है और इसीलिए आपको हमेशा स्टीयरिंग बाए तरफ मोडना पड़ता है। क्या मोटर कार को ठीक करने का यही तरीका है ? अच्छा होगा कि इसे आप मोटर मिस्त्री के पास भेज दे जो स्टीयरिंग को चेक करने के चक्के का ढीलापन दूर कर देगा।

अनुशासन शरीर और दिमाग के पूर्ण सतुलन की

अभिव्यक्ति है। बच्चो को उपदेश देना अनुशासन नहीं। आपको बच्चो को न तो कुछ कहना है और न ही उनके लिए कुछ करना है। मेरे ख्याल से सबसे पहले ऊपर से लादे गए अनुशासन और नैतिकता को भूलना होगा। बुजुर्ग लोग समझते है कि वे काफी बुद्धिमान है और बच्चो को अनुशासन सिखाना उनका कर्त्तव्य है। हो सकता है बच्चे सही हो और हम लोग गलत हो। हममे और उनमें अन्तर है। वे हमे नही समझ पाते और हम उन्हे नही समझ पाते है। मुझे मेरे से छोटी अवस्था वाले अनुयायियो के साथ यह समस्या हुई है। मैं अपने तरीके से सोचता हू और वे अपने तरीके से, लेकिन यह एक अन्तर है, मै समझता हू। इसीलिए बच्चो को अप्रत्यक्ष रूप से अनुशासित करना होगा और यह अनुशासन आसन एवं प्राणायाम के माध्यम से लाना होगा। मै बचपन से ही अनुशासन शब्द से क्षुब्ध रहा हूं। मैं अपने गुरुजी को कहा करता था मैं सेना मे सैनिक नही हूं आपको मुझे दाए-बाएं, पीछे घूम इत्यादि कहने की जरूरत नही है। अगर मै थका हू तो धीरे-धीरे चलूंगा। अगर मुझे कोई चीज पकड़नी है तो मैं दौड़ूंगा। मेरी समझ से मेधावी होना अनुशासन का परिणाम नहीं है। बहुत सारे मेधावी लोग बहुत ही अनुशासनहीन रहे है। लेकिन मेरा यह भी कहना नहीं है कि अनुशासनहीन मनुष्य ही मेधावी होते है।

मेधा का विकास

सबसे बड़ी समस्या बच्चो के साथ है कि वे हमेशा कोशिश करते हैं कि वे जो कुछ पढ़े याद हो जाए और हमेशा वर्ग मे अव्वल रहे लेकिन ऐसा नहीं हो पाता है। क्या कारण है ? वे कहते हैं कि ऐसा दिमाग की कमजोरी के कारण है, कमजोर याददाश्त के कारण है। इसका क्या मतलब है कि दिमाग के सब कलपुर्जे काम नही कर रहे हैं। अगर हम पूर्ण मस्तिष्क को दस भागो मे विभक्त कर दे तो एक साधारण दिमाग मे सिर्फ एक ही भाग काम करता है और जीवन के दैनिक कार्यक्रमो को चलाता है बाकी नौ भाग क्रियाहीन एव चुप हैं। कभी-कभी मस्तिष्क बिजली की एक चुम्बकीय लहर क्रियाहीन भाग से भी संचारित करता है। यह दिमागी लहर एक प्रकाश-पुज पैदा करती है और वह आदमी वैज्ञानिक हो जाता है तथा मस्तिष्क के किसी अन्य भाग से निकली लहर को कोई लिपिबद्ध कर लेता है और लेखक हो जाता है।

मेधा के विकास के लिए मस्तिष्क के इन क्रियाहीन भागों का विकास करना बहुत जरूरी है। बच्चों की सृजनात्मक शक्ति को, मेधा को प्रकट करना जरूरी है और इसीलिए हम लोग प्रयोग करते है। हर क्षेत्र मे मेधावी लोग हुए है, आज भी हैं, लेकिन हम लोगो ने उन्हे नही बनाया। वे प्रकृति के चमत्कार थे—एक घटना थे। किसी को मालूम नहीं कि किस प्रकार बच्चो मे मेधा शक्ति का विकास किया जाए। इसे करने के लिए हम लोगो को एक तरीका निकालना होगा, जिससे मस्तिष्क के सभी भागो को जागृत किया जा सके।

वृहत् दर्शन

मस्तिष्क के ये सुप्त क्षेत्र ऊर्जा के अज्ञात शक्ति केन्द्र है। उनके अन्दर ज्ञान, शिक्षा और आत्म-बोध है। मैं एक उदाहरण दूगा। आप कितनी ही बार अपने बाग मे गए होगे और कितनी ही बार संतरा और सेव को पेड़ो से गिरते देखा होगा। लेकिन क्या आपको पृथ्वी के गुरुत्वा-कर्षण का कभी बोध हुआ ? एक आदमी आइजेक न्यूटन को हुआ। वह एक मेधावी मनुष्य था, क्योकि उसने एक साधारण घटना को एक विलक्षण दृष्टि से देखा, जैसे कि कोई अनहोनी घटना हो रही हो। अगर यह टेपरिकार्डर ऊपर उठने लगे तो आप सब कोई देख लेंगे और अगर आप भावातीत ध्यान कर रहे हैं और अचानक आप ऊपर उठते हुए अनुभव करे तो आप सोचेगे कैसे हुआ ! लेकिन कुछ ऊपर से नीचे गिरता है तो आप उसे आम बात समझते है। आप मुश्किल से उसे गूढ रूप से देख पाते है। सूक्ष्म दृष्टि एक गुण है और इसे आपको बच्चो मे विकसित करना है।

इस ज्ञान को बच्चो मे विकसित करने के लिए बच्चों को ध्यान सिखाना जरूरी है। किन-किन तरहो के योगा-भ्यास उन्हे करना है, यह एक अलग ही विषय है। हर एक ज्ञान जो दिमाग मे घुमता है उसकी अलग बनावट है। हर एक आवाज का एक अलग प्रकार है जो उसका

सूक्ष्म आकार है। आप "आह" बोलते हैं लेकिन दिमाग के अन्दर यह बदल जाता है और 'आह' नही रहता। इसी प्रकार आप फोटो को देखे तो लगेगा कि मैं वही हू जो अभी हूं, लेकिन ज्ञान के प्रकार भिन्न है।

हम जानते हैं कि दिमाग का मूल रूप प्रतीकात्मक है। योग मे उन्हे यंत्र और मडल बोलते है। वे त्रिभुज, चतुर्भुज, छः भुज, गोल एव अनेक प्रकार के ज्यामितिक प्रतीक हैं। हर एक विचार, प्रभुता, शब्द एव अनुभूति के अपने-अपने यत्र है। इसका यह मतलब होता है कि दिमाग में एक खास भाषा का भी अस्तित्व है। जब तक भाषा नही हो कम्प्यूटर काम नहीं कर सकता। दिमाग मे चेतना के ढाचे में हजारो यत्र होते है। आप सूक्ष्म अभिव्यक्ति एवं आवृत्तियो द्वारा उन्हे विकसित कर सकते हैं। आप अपने को प्रशिक्षित कर सकते हैं ताकि इन चीजो को आवाज या किसी आतरिक दृष्टि से देख सके। अगर आप दिमाग मे विद्यमान चिह्न और भाषा को पहचानने मे अपने को ट्रेड कर पाए हैं तो आप इस मानसिक कम्प्यूटर को क्रियाशील कर सकते है, जो आपका दिमाग है। मस्तिष्क हजारो आतरिक शक्तियो व अनुभूतियो का संग्रहालय है। बच्चे में इन आंतरिक शक्तियो का विकास तभी हो सकता है जब वह अपनी सूक्ष्म शक्ति को विकसित करे और इस संग्रहालय को अपने नियन्त्रण मे कर लेवे।

अलौकिक स्मरण शक्ति

आज यह बहुत महत्वपूर्ण है कि बच्चो की महत्वाकाक्षा पूरी हो। वे क्लास में अच्छा करना चाहते है। वे चाहते हैं कि किताब देखे और उनमे लिखी पूरी बाते उन्हे याद हो जाए। वे रटना नहीं चाहते हैं और न तो पाठों को 5-10 या 20 बार दुहराना चाहते है। एक बार स्वामी विवेकानन्द किसी अमेरिकन यूनिवर्सिटी मे गए और उसमे से एक एनसाइक्लोपीडिया माग कर लाए। दूसरे ही दिन जब सुबह उन्होने इस किताब को लौटाया तो पुस्तकालयाध्यक्ष ने पूछा "आपने किताब से क्या किया"। स्वामी विवेकानन्द ने जवाब दिया—मैने उसे पढा। इस पर पुस्तकालयाध्यक्ष बोला कि असंभव! स्वामी विवेकानन्द बोले कि मुझसे पूछो किसी।पेज से। तब पुस्तकालयाध्यक्ष ने उनसे पूछा। इसके बाद पुस्तकालयाध्यक्ष ने पाया कि उसने ऐसा आदमी कभी नही देखा—वह तो एक पेज पर नजर डालता है और उसे पूरा याद कर लेता है। इसी को अलौकिक स्मरण शक्ति बोलते है न कि बौद्धिक स्मरण शक्ति, जिसमे आपको सोचना पडता है तब याद होता है। अलौकिक स्मरण शक्ति भी एक चीज है। मुझे भी यह शक्ति थी पर मैंने उसे 1946 मे खो दिया। मैंने एक बहुत ही दुखद भूल की, मैं लोगो और शोर से दूर हिमालय की एक चोटी पर गया। बहुत बर्फ थी वहा और बहुत ठंडक थी। वह चोटी 10500 फीट ऊचाई पर थी। आल्प्स पर्वत से तीन गुना ऊची। मै वहां एक विशेष तरीके के प्राणायाम का अभ्यास करता था तथा पूरे दिन गाजा पीता था, जिसने मेरी स्मरण-शक्ति को बिल्कुल नष्ट कर दिया।

वास्तव मे स्मरण शक्ति तो मुझमे अभी भी है पर मेधावियो के माफिक नही। 1946 तक कोई यदि एक घंटे तक बोलता था तो मै उसे सुनकर बही मे लिख लेता था और उसे टाइप राइटर पर शब्दश टाइप कर लेता था। अगर आप उसे मूल टेप रिकार्डर से मिलाते तो कोई गलती नही निकलती; यहा तक कि कॉमा और पूर्ण विराम की भी नहीं।

आपको जानकर आश्चर्य होगा मैने कैसे उस स्मरण शक्ति का विकास किया था। मै हिमालय की गोद मे पैदा हुआ। बचपन मे मेरी कल्पना शक्ति बहुत ही प्रखर थी। मै अपनी कल्पना मे बर्फ से ढके पहाड़ देखता था तथा पर्वत एव प्रकृति की बहुत सारी मनोरम छटाए देखा करता था। मै हमेशा सोचा करता था कि कैसे हिमालय की चोटियो पर चढें। अन्ततः मै हिमालय के शीर्ष पर पहुंच ही गया। मैं पहला आदमी था एवरेस्ट पर्वत पर कदम रखने वाला, न कि एडमड हिलेरी। हा, मै वहां अपनी कल्पना मे पहुच गया, अपने ध्यान के बल में पहुच गया। इस तरह मेरा मस्तिष्क एक नए दृष्टि के ढाचे मे ढल गया। बचपन मे मैंने सैकडो बार वह यात्रा, उसी पथ से होकर कई झरनो एव पर्वतो, तराइयो को पार करते हुए पूरी की होगी।

अगर आप सैकडो बार एक बिन्दु का ध्यान करे तो आप समझ सकते हैं कि आपके मस्तिष्क और दृष्टि का क्या होगा। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना महत्वपूर्ण काम है। ढाचे पर आधारित मस्तिष्क की ट्रेनिंग ही अनुशासन

है। अगर आप मस्तिष्क के ऊर्जा आकार को काबू नही कर सकते है तो दृष्टि की चेतना का विकास सभव नही है, चाहे आप कितने ही धार्मिक अनुशासन में रहे। धर्म कहता है—"आप पवित्र रहे और आप महान् हो जाएगे"। मै कहता हू यह सभव नही है। पवित्रता तो एक सामाजिक गुण है अगर सभी लोग पवित्र हो जाए तो समाज एक सुप्त समाज हो जाएगा। मैं पवित्रता के विरुद्ध नही हू, लेकिन सच पूछे तो मुझे इसमे विश्वास नही है।

आपको अपने बच्चो की चेतना तथा समझने की शक्ति को वैज्ञानिक तरीके से उभारना होगा। मस्तिष्क तथा शरीर में निर्देशक केन्द्र हैं जिन्हे आप आधुनिक मशीन से निर्देशित कर सकते है। बच्चो को इन बातो मे ट्रेन्ड करना सभव नही, लेकिन वयस्को को किया जा सकता है। आपको अपने बच्चो को योग की तरफ ढकेलना नही है। आपको उन्हे योग के विषय मे बताना है, बिना उन्हे यह अनुभव होने देते हुए कि योग के अभ्यास के लिए धार्मिक प्रकृति या पवित्रता की जरूरत है। योग में प्रवृत्त करने का एक ही उपाय है और वह है इनमे देखने एव समझने की क्षमता का विकास करना।

अगर मैं एक वयस्क को बोलू तो वह नही समझ पाएगा। परन्तु अगर बच्चे जानते हैं कि योगाभ्यास से उनकी देखने एव समझने की शक्ति बढेगी तो बच्चे सबसे पहले योगाभ्यास की ओर प्रवृत्त होगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

हर एक आदमी को मालूम होता है कि उसे क्या करना है। सभी बच्चो को एक ही प्रकार के रास्ते पर चलाया जाए तो यह गलत है। हर एक प्राणी विभिन्न क्षमताओ के साथ पैदा होता है। कुछ बुद्धिजीवी होने के लिए, कुछ स्वामी होने के लिए, तो कुछ राजनीतिक होने के लिए पैदा होते है। अनेक प्रकार की आतरिक शक्तिया हैं जो विकसित की जा सकती है। क्या माता-पिता को मालूम है कि उनके बच्चे मे कौन-सी क्षमता छिपी हुई है? उदाहरण के तौर पर अगर मैंने अपनी उम्र के बीसवे साल मे अपना यह रास्ता निश्चित नही किया होता तो मैं आज जीवन मे बहुत ही असफल रहता।

एक आदमी जो समर्थ है, जीवन के हर क्षेत्र में सफल नही हो पाता; बल्कि वह जिस क्षेत्र के लिए बनाया एव चुना गया है उसी मे सफल होता है। बच्चो की नियति का कौन फैसला करने वाला है, यह एक बडी पहेली है, एक बडा प्रश्न है। मैं यहां उसके व्यवसाय के विषय में बात नही कर रहा हू। डाक्टर या प्रोफेसर होना दूसरी बात है, जिसके लिए एक निश्चित तरह की शिक्षा दी जाती है। मै बात कर रहा हूं शिक्षा की उस बृहत् प्रणाली के विषय मे, जो हमे बताती है कि हमें क्या करना है, जो हमे दिखाती है कि हमारे अस्तित्व की क्या अभिव्यक्ति होने वाली है।

आज ऐसे अनेक नवयुवक है जो पतवार के बिना नाव की तरह समाज मे डगमगा रहे हैं। ऐसी बात नही है कि समाज मे कोई दोष है या वे अनुशासनहीन है। वे पतवार विहीन है क्योकि उन्हे अपने अस्तित्व का आधार मालूम नही है। अगर आप अपने बच्चो को उनके अस्तित्व का आधार बता सकते है तो आप उन्हे पूर्ण शिक्षित बनाने मे सफल हो सकते है। बच्चो के शातिपूर्ण विकास का मार्ग सिर्फ समाज मे ही नही ढूढ़ना चाहिए। आहिस्ते-आहिस्ते हमे बच्चो को योगाभ्यास की ओर उन्मुख करना चाहिए, सिर्फ स्कूल या अन्य सस्थाओ मे ही नहीं, वरन् योग स्कूलो में भी उनके लिए अलग विभाग होना चाहिए। मैं जानता हू कि बच्चो को योग शिक्षा देना बहुत ही सरल काम है। दरअसल बच्चे गुरु है और हम लोग शिष्य। कहा भी गया है "चाइल्ड इज द फादर ऑफ मैन"।

सम्पूर्ण विश्व मे लोगों के बच्चे है और वही भविष्य मे अच्छे या बुरे नागरिक होने वाले है। अगर उनके व्यक्तित्व को पूर्णतया संभाला नही गया तो समाज का आधार भी वैसा ही हो जाएगा। आज के बच्चे ही कल राजनीति, युद्ध एव समाज की अन्य घटनाओ का सचालन करेगे। अगर आप वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ पैदा करना चाहते हैं तो बच्चे आपके सामने हैं। इस तरह माता-पिता एक कारखाने के समान है और बच्चे उनमें से उत्पादित तैयार माल की तरह। यह अभिभावकों पर निर्भर करता है कि वे कैसा माल तैयार करते हैं। □

विद्यालय स्तर पर योग शिक्षा का स्वरूप कैसा हो ?

डा० जयदेव योगेन्द्र
योग इंस्टीच्यूट,
सांताक्रुज, बम्बई-400055

"शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है" यह बात नई शिक्षा नीति ने पहली बार स्वीकार की है, वर्षों पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो पर शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र के मान्य किये मूल्यांकनो को जीवन मे अपनाना था। हमे स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जाकिर हुसैन के आदर्शों को नही भूलना चाहिये, अपने भारतीय "ज्ञान" को आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलोजी के साथ मिलाना है।[1]

शिक्षा का इस अर्थ मे योग से गहरा सम्बन्ध है, योग तो जीवन जीने की कला है, जैसे Zen (झेन या ध्यान) ने जापान के जीवन पर एक गहरा असर डाला है, वैसे ही हमें योग के माध्यम से भारतीय जीवन पर असर डालना चाहिए।

योग विद्या वैसे तो कई व्यक्ति सीखते हैं, लेकिन कारण विभिन्न होते है, वेदान्त शास्त्रों मे आसन का महत्व ध्यान प्राप्ति के लिए है, राजयोग मे स्थिरसुखम की महत्ता बतायी गयी है, हठयोग मे आसन के द्वारा मनोकायिक समन्वय का लाभ दर्शाया गया है।

इसी ऊंचे आदर्श को ध्येय बनाकर योग इन्स्टीच्यूट सांताक्रुज ने ऐसी शिक्षा देने का प्रयास किया है[2] जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का सपूर्ण विकास हो और योगाभ्यास व्यक्ति की आत्मोन्नति का कारण बने, इसलिए योग इन्स्टीच्यूट मे सिर्फ आसन ही नहीं, व्यक्ति के आचार, विचार, आहार और व्यवहार की सुदृढता पर भी जोर दिया जाता है, जिससे व्यक्ति की अक्लिष्ट प्रवृत्तियों का विकास होता है, जो उसे घर ही नही समाज मे सुचारू रूप से कार्य करने मे सक्षम बनाती है।

पर बडे दुख की बात है कि आजकल लाग इस ऊंचे आदर्श को भूलकर कि योगाभ्यास का मूल उद्देश्य आत्मज्ञान है, इसका उपयोग स्वार्थ और नकारात्मक गतिविधियो के लिए कर रहे है, हर कोई इस कोशिश मे है कि किस तरह कठिन से कठिन पेचीदा आसन से शरीर को तोड़-मरोड़कर दूसरो को प्रभावित करे। प्राणायाम, जिसके द्वारा मानव अपने चित्त को वश मे कर अविद्या या अज्ञान के अधकार को दूर कर सकता है, उसी शक्ति का दुरुपयोग आज का योगी अपनी छाती पर स्टील रोलर चलवाकर वाह-वाही लूटने मे लगा है।

यह बात लगभग सभी लोग भूल चुके है कि योगाभ्यास व्यक्ति को अतर्मुखी, एकाग्रचित और सचेत बनाता है।

हाल ही मे इन्स्टीच्यूट ने स्कूल के विद्यार्थियो के लिए एक ऐसा पाठ्यक्रम बनाया था जिसके प्रयोग के बाद वैज्ञानिक ढग से जाच करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि सुनियोजित ढग से किया गया योगाभ्यास उन विद्यार्थियों के शारीरिक और मानसिक विकास ही नही, एकाग्रता और स्मरण शक्ति बढाने मे भी सहायक सिद्ध हुआ है, और वे अपने आप को किसी भी वातावरण में सुचारू रूप से ढाल सकते है।[3]

शारीर रचना और शरीर शास्त्र के नियमो से आसन का शरीर या मानस पर क्या प्रभाव हो सकता है इसकी अधिक जानकारी हमे नहीं है, परंतु जो व्यक्ति योगाभ्यास सही ढग से करता है, उसके आचरण से, जीवन के बारे मे दृष्टिकोण से हम यह जान सकते है कि योगाभ्यास का क्या प्रभाव हुआ है, ऐसा देखा गया है कि अगर योग

1 "New Educational Policy and Continuing Education." *Maharashtra Education Journal*, Vol XXXV. No. 1 (1986) p. 12

2. President Zail Singh's address at the Yoga Institute, Santa Cruz, *Yoga and Total Health*, XXX. 11 April 87 p. 7.

3 Sushma Nagarkar, "Yoga, Intelligence and Personality Trait", *Yoga and Total Health*, Vol. XXXII. 5 p. 10

बड़े दुख की बात है कि आजकल लोग इस ऊंचे आदर्श को भूलकर कि योगाभ्यास का मूल उद्देश्य आत्मज्ञान है, इसका उपयोग स्वार्थ और नकारात्मक गतिविधियों के लिए कर रहे हैं। हर कोई इस कोशिश में है कि किस तरह कठिन से कठिन पेचीदा आसन से शरीर को तोड़-मरोड़कर दूसरो को प्रभावित करे। प्राणायाम, जिसके द्वारा मानव अपने चित्त को वश में कर अविद्या या अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकता है, उसी शक्ति का दुरुपयोग आज का योगी अपनी छाती पर स्टील रोलर चलवाकर वाह-वाही लूटने मे लगा है।

प्राचीन गुरु-शिष्य परपरा और पद्धति से सीखा जाए तो उसका प्रभाव कही अधिक और दूरगामी होता है। कालिदास और पतंजलि ने भी अपने शास्त्रो मे इसी परम्परा पर जोर दिया है। महात्मा गाधी ने भी कहा है कि "शिक्षा का सही उद्देश्य ईश्वर की जानकारी प्राप्त करना है और इसके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके अन्ततः उसमे लीन होना ही है।"

जिस तरह बीज बोने के पहले किसान उसकी जमीन तैयार करता है उसमे से सारी गदगी दूर करता है ताकि अच्छी और स्वस्थ फसल उपजे और उसका लाभ सभी को मिल सके, उसी तरह योग भी सबसे पहले व्यक्ति के उन विकारों को दूर करता है जो उसकी उचित प्रगति मे बाधा बनते है[4]। प्रसिद्ध वैज्ञानिको और शिक्षाविदो का कहना है कि बच्चे के मस्तिष्क पर उसके आसपास के वातावरण का काफी प्रभाव पड़ता है और उसी के अनुसार वह अपने को ढालता है। हमारी यही कोशिश होनी चाहिए कि बच्चों को ऐसे वातावरण का अनुभव प्राप्त हो जो उनके व्यक्तित्व का उचित और सपूर्ण विकास कर सके, योग की सही शिक्षा ही उन्हे ऐसा अनुभव दे सकती है।

कक्षा पांचवी के बच्चो के लिए इसी आधार पर श्रीमती हसा जयदेव ने निम्नलिखित पाठ्यक्रम सुझाया है।

(अ) शिक्षा का आधार निम्नलिखित बातों पर हो। (Core Learning)[5]
- (1) आचरण के नियम (Behavioural code)
- (2) चारित्रिक विकास की कहानिया (Moral Stories)
- (3) परोपकारी व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित उदाहरण (Narration of altruistic activities).

(ब) कौशल शिक्षा के लिए उनका यह कहना है कि·
- (1) मानसिक अवस्था को सुदृढ़ बनाने के अभ्यास (conditioning exercises)
- (2) मस्तिष्क और पेशियो के कार्य मे एकीकरण बढ़ाने वाले अभ्यास (Neuromuscular coordination exercises)।
- (3) आरोग्य या शरीर को स्वस्थ रखने के अभ्यास (Preventive hygiene exercises)
- (4) मानसिक रोगो को रोकने के अभ्यास (Psychosomatic exercises for cultivating a 'Let go' sensation)

(स) सहवर्ती धर्म (Concomitant) की शिक्षा मे उनका कहना है कि :
- (1) उनको ऐसे व्यक्तियों से मुलाकात करायी जाये या उन्हे ऐसे स्थान पर ले जाया जाये, जिनका प्रभाव उन्हे अतर्मुखी बना सके।
- (2) वे अपने अनुभव और कौशल को दूसरों के साथ आसानी से बाट सके।

4. Shri Yogendraji, *Yoga Asana Simplified* p. 102
5. "Teaching Yoga" Edited by Dr. S. P Duggal (appendix), Smt Hansa J. in *Yoga and Total Health*, Vol. XXX. 12 p. 6.

योग का अनुभवो के साथ गहरा सम्बन्ध है। योग की ऐसी प्रक्रियाए करायी जानी चाहिएं जिनसे विद्यार्थी को शांति, संतोष, आत्मनियन्त्रण, शिथिलीकरण वगैरा का अच्छा अनुभव हो। डाक्टर मरीज को शरीर शिथिल रखने को या मन को तनावरहित करने को बारबार कहता है, पर डाक्टर मरीज को किस तरह से यह अनुभव प्राप्त करना है, यह बता नही सकता। सच पूछिये तो खुद डाक्टर ही तनावपूर्ण अवस्था मे रहता है। उसी तरह से शिक्षक विद्यार्थी को पुस्तकों मे ध्यान लगाने का कहता है जरूर मगर शिक्षक यह नहीं जानता कि विद्यार्थी किस प्रकार खुद यह सीखे कि मन को एकाग्र स्थिति मे रख सके। यह योग का ही गौरव है कि सकारात्मक अनुभवो को बढाकर मन की स्थिति को योग्य दिशा मे ले जा सकता है। □
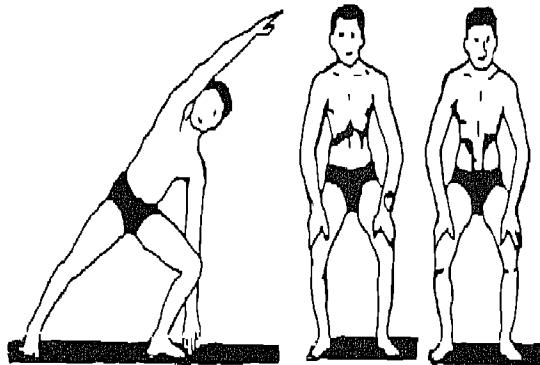
विद्यालयों में योग शिक्षा के मुख्य उद्देश्य

डा० मु० वि० भोले
सह सचालक (संशोधन)
कैवल्यधाम, लोनावला-410403

योग में शरीर, प्राण शक्ति और पुरुष की सकल्पना है। शरीर के माध्यम से प्राण शक्ति के द्वारा पुरुष तक पहुंचने का अभ्यास तथा प्रयास करना होता है। खेल-कूद में पुरुष तत्व से शुरू करके प्राण शक्ति द्वारा शरीर के माध्यम से शरीर के बाहरी विषय पर कार्य करना पड़ता है। यह परस्पर विरोधी अभ्यास तथा कार्यप्रणालियां है। अतः योग शिक्षक के लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की जरूरत है। अन्यथा योग का विषय व्यायाम के स्तर तक ही सीमित रह जाएगा। और जब भारत के बाहर के लोग असली योग जानने मे व्यस्त हो गए है, तब हम भारतीय शिक्षाचार्य अपनी नई पीढ़ी को केवल नकली योग देते रहेंगे। इसलिए योग शिक्षा के उद्देश्य ठीक ढंग से तथा सुचारू रूप से निश्चित करना जरूरी है।

प्रस्तावना

1 भारत सरकार ने नई शिक्षा नीति मे योग शिक्षा का अतर्भाव किया है। केंद्रीय विद्यालयो मे प्रायोगिक स्तर पर योग शिक्षा का प्रारम्भ हुए कुछ पाच साल हो गए हैं। इनके प्रारम्भिक परिणाम केंद्रीय विद्यालय सगठन के महासचालक के दफ्तर मे उपलब्ध हो गये होंगे।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने बंगलोर मे दो बार योग शिक्षा के पाठ्यक्रम को निश्चित करने के हेतु संगोष्ठी तथा कार्यशाला का आयोजन किया था। उनकी रिपोर्ट भी आने वाली होगी।

"आधुनिक शिक्षा मे योग को किस प्रकार से सम्मिलित किया जाये" इस विषय पर आई० आई० टी०, कानपुर, ने सितम्बर 1981 मे एक अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया था।

2. वैसे देखा जाये तो 1924 से योग को विद्यालयीन शिक्षा पद्धति मे सम्मिलित करने के प्रयत्न जारी है। सन् 1927-28 मे उस वक्त की बम्बई सरकार की शारीरिक शिक्षा समिति ने "corrective and hygienic phyical training" के रूप मे योग के श्वसन और पेट से संबधित क्रियाओ का स्वीकार करने की सिफारिश की थी। (समिति की रिपोर्ट, 9 मार्च, 1929)।

सन् 1929 मे उत्तर प्रदेश सरकार के स्वास्थ्य अधिकारी डॉ० सुजा ने भी करीब-करीब इसी प्रकार की रिपोर्ट पेश की थी और लडके-लडकियों के लिये आसनों का अभ्यास 9 साल से देने की स्वीकृति दी थी। (रिपोर्ट, 1 जून, 1929)।

इन प्रयत्नो के फलस्वरूप 1938 मे तैयार किए गए शारीरिक शिक्षा के अभ्यासक्रम मे कुछ आसनों का अंतर्भाव हुआ। आज भी शारीरिक शिक्षा के पाठ्यक्रम मे आसन पढाये जाते हैं और एन० एल० सी० पी० ई० के विद्यार्थी एम० एड० के लिये योग पर काम करते हुए भी दिखाई देते हैं।

कैवल्यधाम-लोनावला, नागपुर, सागर, पंजाब, कर्नाटक और अमरावती विश्वविद्यालयो ने योग-शिक्षक तैयार करने हेतु डी० वाई० एड० कोर्स भी चलाए हैं। गत 5-6 साल मे विश्वायतन, योगाश्रम का इस क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

योगाभ्यास पाठ्यक्रम की सद्यस्थिति

योग का असली स्वरूप आध्यात्मिक है यह बात सभी समितियो की रिपोर्ट मे लिखी गई है। इसका महत्व भी दोहराया गया है। फिर भी योग शिक्षा के पाठ्यक्रम मे आसनो को ही अधिक महत्व दिया गया है। फलस्वरूप आज यह स्थिति है कि शिक्षक तथा विद्यार्थियो के मन मे आसन ही योग है ऐसी भावना पक्की होती हुई दिखाई देती है। फिर ये आसन भी व्यायाम के तरीके से किये जाते हैं, और अब तो आसनो की स्पर्धाएं भी रखी जाने लगी हैं। और कुछ राज्यों मे यह सब

शारीरिक शिक्षा विभाग से हो रहा है। "योगश्री", "योगमति", "योगकुमार", "योगकुमारी" यह पुरस्कार भी प्रदान किये जा रहे है।

इस पार्श्वभूमि मे विद्यालयो मे तथा अन्य शिक्षा संस्थाओ मे योग शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहिए, यह प्रश्न पुनः पुनः विचारार्थ सामने आता है। केवल शारीरिक क्षमता और भावनात्मक सन्तुलन ही योग शिक्षा का लक्ष्य रखना उचित होगा क्या? शारीरिक शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। फिर योग और शारीरिक शिक्षा मे मूलभूत या बुनियादी रूप का फर्क कहा है? और यदि कोई फर्क नही है, तो फिर योग-शिक्षा जैसे नये विषय का अंतर्भाव अपनी शिक्षा नीति मे क्यो करना चाहिए? इस पर कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

योग का प्रतिपाद्य विषय

1. जैसे हरेक विषय में अपना-अपना स्वतत्र प्रतिपाद्य विषय होता है वैसे ही आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, चित्त का द्रष्टापन, समाधि अवस्था, इद्रियो का प्रत्याहार, मन की धारणा, प्राण का आयाम आदि योग के प्रतिपाद्य विषय हैं। शुरू मे ये सज्ञाए तो डराने वाली दिखाई देती है। अपनी सरकार की निधर्मी पद्धति मे कैसी बैठ पाएगी? विद्यार्थियों को कौन और कैसे यह पढ़ायेगा? यह और इसी प्रकार के प्रश्नोपप्रश्न उपस्थित किये जाते हैं। और अत मे हर बार योग (हठयोग) के कुछ आसन तथा श्वसन प्रकार शारीरिक शिक्षा के शिक्षको द्वारा पढाने का निर्णय लिया जाता है।

2. आज की स्थिति मे पुराने जमाने के व्हॉल्व रेडियो पढाने वाला प्रोफेसर जैसे आधुनिक ट्रांजिस्टर टेक्नालाजी ठीक ढग से नहीं पढा पायेगा, वैसे ही शारीरिक शिक्षा शिक्षक योगशिक्षा के मूलभूत तत्वो को ठीक प्रकार से जानकर अच्छी तरह से नही पढ़ा पायेगा। यह कटु सत्य एक न एक दिन समझने की आवश्यकता तीव्रता से प्रतीत हो रही है।

3. इतर विषयो के माफिक योग की अपनी परिभाषा, संकल्पनाए तथा मान्यताए हैं। वह शारीरिक शिक्षा की परिभाषा, संकल्पनाओ तथा मान्यताओ मे एकदम भिन्न है। खेलकूद मे कर्त्ता-भाव को बढाने पर जोर है। उससे "अहभाव" तथा "अहकार" बढता है। योग मे द्रष्ट भाव को बढ़ाने का अभ्यास बताया जाता है। खेल मे "मारूगा या मरूगा" इस भाव को लेकर व्यवहार और बर्ताव होता है तो योग मे "जियो और जीने दो" इस भाव को बढाने की दृष्टि से अभ्यास होता है।

4. आधुनिक वैद्यकशास्त्र तथा आयुर्वेद की शरीर शास्त्र तथा शरीर विज्ञान की अपनी-अपनी सकल्पनाए तथा मान्यताए है, वैसे ही योग की अपनी सकल्पनाएं है। उदाहरण के रूप मे कुण्डलिनी, चक्र, नाडी, तत्व, महाभूत, पचप्राण, शरीरशुद्धि, प्राणशुद्धि, मन.शुद्धि, चित्तशुद्धि, आत्मशुद्धि, ये योग से सबधित सकल्पनाए है इन सबको योग विषय की वर्णमाला (alphabet) कहना उचित होगा। इनको छोडकर योग विषय पढाने की चेष्टा करना याने वकीली भाषा मे वैद्यक या इजीनियरिंग पढ़ाने के बराबर होगा। आज कुछ मात्रा तक वैसा ही व्यवहार योग शिक्षा के सदर्भ में हो रहा है।

योग शिक्षा के उद्देश्य

1. "मै कौन हू?", "मैं कहा हू?", "मैं कैसा हू?" इन प्रश्नो के उत्तर मिले, यह योग शिक्षा का उद्देश्य होना सर्वाधिक स्वाभाविक है। यह लक्ष्य धीरे-धीरे हासिल करने की दृष्टि से योग के अभ्यास-क्रम की रचना होना आवश्यक है। इसके लिये कुछ प्रयत्न तथा सशोधन भी अवश्यमेव करना पड़ेगा।

दुनिया के सभी व्याकरणो तथा भाषाओ मे, सभी राजनैतिक विचार-प्रणालियो मे तथा सभी धर्म-पथों मे "मैं", "तू", "वह" "हम" इत्यादि शब्द प्रयोग किये जाते है। परन्तु केवल योगशास्त्र ने इन शब्द प्रयोगों को ललकारते हुए "मैं कौन हूं?, कहा हू? कैसा हू" आदि प्रश्न उपस्थित करके उनका शास्त्रोक्त, विधिवत् तथा क्रमश उत्तर खोजने का प्रयत्न किया है। इसीलिये योग का यह प्रतिपाद्य विषय भारत के "निधर्मी" राजकीय तथा धार्मिक नीति मे बाधा नही डालेगा, अपितु पूरे विश्व को इस शास्त्र के विधिवत् अभ्यासक्रम तथा पद्धति से फायदा ही होगा।

पाश्चात्य राष्ट्र ओलम्पिक खेलों में स्वर्ण पदक प्राप्त

करते रहते हैं, तो भी वहा योग के बारे मे उत्सुकता है। याने स्वर्ण पदक जीतने के लिये वे योग की तरफ नही आ रहे। इसके विपरीत भारत मे योग के द्वारा हमारे खिलाडी स्वर्ण पदक कैसे प्राप्त कर सकेंगे, यह प्रश्न योग मे कार्य करने वालो से पूछा जाता है तथा इस उद्देश्य को सामने रखकर योग शिक्षा के अभ्यास-क्रम तैयार करने के प्रयास किये जाते है। इस पर बुनियादी तौर पर विचार तथा कार्य होना अनिवार्य है।

2. आधुनिक विज्ञान, वैद्यक तथा इंजीनियरिंग शास्त्र मे व्याख्यान और प्रत्याक्षिको का विषय एक रहता है। उसके कारण व्याख्यान कक्ष मे व्याख्याता जो बताता है, उसी विषय को प्रयोगशाला में विद्यार्थी स्वयं जांच करके खुद के निरीक्षणों द्वारा उन्ही निष्कर्षों तक पहुंचते हैं, जो किताबो मे पाये जाते है।

योग को शास्त्र का विषय मान लिया, तो जो प्रतिपादन ग्रन्थों मे किया है और जिसको लेकर योग की तात्विक बैठक बनती है उसका अनुभव स्वय के योगाभ्यास के द्वारा आना चाहिए, यही शास्त्रोचित रहेगा। परन्तु आज योग के प्रात्याक्षिक वर्ग मे जो अभ्यास कराया जाता है और तात्विक भाग मे जिसकी चर्चा होती है उनमे परस्पर सबध दिखाई नहीं देता। बहुत बार इसके विपरीत अनुभव आते है।

इसका ख्याल मे रखते हुए तात्विक भाग से सबधित क्रियात्मक भाग और तात्विक भाग योग-शास्त्र से सबधित रहे, यह हमारी योग शिक्षा का एक उद्देश्य रहना चाहिए।

3. योग मे शरीर, प्राण शक्ति और पुरुष की सकल्पना है। शरीर के माध्यम से प्राण शक्ति के द्वारा पुरुष तक पहुचने का अभ्यास तथा प्रयास करना होता है। खेल-कूद मे पुरुष तत्व से शुरू करके प्राण शक्ति द्वारा शरीर के माध्यम से शरीर के बाहरी विषय पर कार्य करना पड़ता है। यह परस्पर विरोधी अभ्यास तथा कार्य-प्रणालिया है। अतः योग शिक्षक के लिये योग्य प्रकार के प्रशिक्षण की जरूरत है। अन्यथा योग का विषय व्यायाम के स्तर तक ही सीमित रह जायेगा। और जब भारत के बाहर के लोग असली योग जानने मे व्यस्त हो गये हैं, तब हम भारतीय शिक्षाचार्य अपनी नई पीढी को केवल नकली योग देते रहेंगे। इसलिये योग शिक्षा के उद्देश्य ठीक ढग से तथा सुचारू रूप से निश्चित करना जरूरी है।

हमारी योग शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य विद्यार्थी को प्राण शक्ति के सबध मे विचार करने के लिये प्रवृत्त करना होना चाहिए। हम आम तौर से पाचन शक्ति, ग्रहण शक्ति, स्मरण शक्ति, विचार शक्ति, कार्य शक्ति, से संबधित शब्द प्रयोग करते है। परन्तु पूरी शिक्षा प्रणाली में उस शक्ति का अनुभव कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसके बारे मे किसी अभ्यासक्रम का निर्माण आज तक नहीं हुआ। इस दृष्टि से प्रयत्न करना आवश्यक है।

4. योग शिक्षा से "योगी" का निर्माण होना चाहिए ऐसा कोई भी कह सकता है। लेखक की दृष्टि में योग शिक्षा से "आदमी" का निर्माण करने का उद्देश्य विद्यालयो मे योग शिक्षा द्वारा संभव होना चाहिए। फिर व्यक्तिगत अभ्यास से कोई "योगी" बनता हो तो कोई हर्ज नही। केवल आदमी बनाना यह हमारी योग शिक्षा का अत्यंत उपयोगी और महत्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। □

संदर्भ

स्वामी कुवलयानद, "ए कोर्स आफ योगिक फिजिकल कल्चर फार एवरेज मैन आफ हैल्थ", योग मीमांसा, I, पृ० 291, 1924

स्वामी कुवलयानद, "कम्पलीट कोर्स इन योगिक फिजिकल कल्चर", योग मीमांसा, II, 288, 1926.

बम्बई सरकार, शारीरिक शिक्षा समिति रिपोर्ट, 1 मार्च, 1929.

उत्तर प्रदेश सरकार, डा० ए० सुजा की रिपोर्ट, 1 जून, 1929.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद्, **योगासनाज, ए टीचर्स गाइड**, अक्तूबर, 1983.

महाराष्ट्र राज्य, **योग समिति का अहवाल**, 1 दिसबर, 1971

स्वास्थ्य मत्रालय, विश्वायतन योगाश्रम, **योगाभ्यास पाठ्यक्रम.**

डा० एम० वी० भोले, **"योगा एंड इट्स इंटेग्रेशन इन माडर्न एजुकेशन"**, **योग मीमासा**, (xxiv), 4, पृ० 36-41 1986.

डा० एम० वी० भोले, **"इम्पार्टेंट फंडामेंटल्स फार योगा एजुकेशन"**, **योग मीमांसा**, (xxiv) 2, पृ० 1-10, 1985.
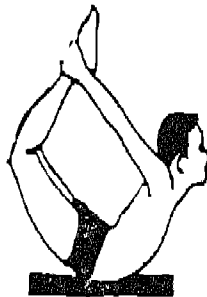
शिक्षा मतलब मुक्ति
योग मतलब नया जन्म

स्वामी मनुवर्यजी
योग साधना आश्रम
16, प्रीतम नगर, एलीसब्रिज,
अहमदाबाद-380006

योग माने नया जन्म ।

साधारण मन की मायायुक्त और मर्यादित दुनिया मे से उन्नत, विशाल, भव्य और दैवी चेतना मे प्रवेश ।

बाहर के भौतिक प्रलोभनों के जाल मे से, अहकार के कारागार से विशाल चेतना में अवगाहन ।

ऐसी भूमिका-जहा दैविक शक्ति, व्यक्ति के जीवन को आमूल परिवर्तित कर दे, और दैविक चेतना वहा काम करे ।

ऐसे आत्मप्रकाश को प्राप्त किए हुए पुरुष के कार्य को ही सच्चा कर्म कहा जाता है, क्योकि ऐसा कार्य नि.स्वार्थ कार्य होता है, विश्वहित के लिए होता है । जिस समाज मे ऐसे पुरुष होते हैं ऐसा समाज सुखी और समृद्ध रहता है ।

शिक्षा का अर्थ है मुक्ति ।

"सा विद्या या विमुक्तये" । यह मुक्ति अर्थात् आत्म-ज्ञान । मनुष्य परमात्म स्वरूप है । इस सत्य को जो समझ सकता है, उसका अन्य मानवो के साथ का व्यवहार निष्काम और सरल होता है। जो इस सत्य को ग्रहण नही कर सकता, उसका व्यवहार स्वार्थपरायण और अहकारी होता है। ऐसा मनुष्य मानव जाति का सच्चा कल्याण नही कर सकता ।

आज मनुष्यकुल छिन्न-भिन्न हो गया है। उसको जागृत करने के लिए भागीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है, सच्ची शिक्षा की आज खास जरूरत है ।

विज्ञान में प्रगति करने वाली और दुनिया की अति समृद्ध और पढ़ी-लिखी प्रजा आज युद्ध या वैर की अग्नि-ज्वाला मे जलती हुई दीख पड़ती है ।

दो विश्व युद्ध हमने देखे। विनाश का इतिहास सुना। क्या ऐसे ही विश्व का इतिहास पुनरावृत्त होगा ? नही । बुद्धिशाली मनुष्य इसको स्वीकार नही कर सकेगा। इस संहार मे से मनुष्य जाति को क्या हम उबार सकेंगे ? इसके उपाय ?

मनुष्य मे मनुष्यता के मूल को बोना—शिक्षा, सच्ची शिक्षा, ही यह काम कर सकती है ।

भविष्य की पीढी के लिये हम कैसा विश्व छोड़ जायेंगे ? बहुत लंबे अरसे की योजना है यह। जिस आम को हम आज बोते हैं, कल ही उसका फल नही मिल सकता ।

धैर्य और पुरुषार्थ के दो चक्र पर समाज का जगन्नाथ रथ चलता है । आज मानव मूल्यो को फिर से प्रस्थापित करना होगा। इसके लिए शिक्षा मे क्राति आवश्यक है। नये दर्शन की जरूरत है ।

बालक के तन, मन और आत्मा को विकसित कर सके ऐसी शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है । मनुष्य महान है, क्योंकि वह परमात्मा का अश है, इस सत्य की प्रतीति के लिये मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है।

योग यदि जीवन जीने की कला बन सके तो यह कार्य सरल हो जाए ।

दुनिया की संस्कृति पर दृष्टि डालते है, तो समझ मे आता है, हर एक सस्कृति का सच उसकी आध्यात्मिक दृष्टि मे रहा है न कि उसकी भौतिक समृद्धि मे ।

मुझे आशा है कि अदर-बाहर के कुरुक्षेत्र से आहत मनुष्य कुल अगले वर्षो में नवपल्लवित होगा। सामान्य जन के लिए यह पृथ्वी सुखचैन से रहने की जगह बनेगी, और राष्ट्रीय पूर्वाग्रह तथा जाति के भेद नष्ट हो जायेगे । सच्ची शिक्षा से यह ज्ञान सभावित होगा ।

वेद के ऋषिमुनियो को मनुष्य कुल का और उसकी एकता का गहरा अनुभव था । उनके ग्रंथो मे से यह सब समझ सके है । उनका चरम लक्ष्य था मनुष्य की मुक्ति । उन्होने मनुष्य जीवन के ध्येय को जीवन के मर्म को पाकर तय किया ।

जीवन की करुण वास्तविकता का, उसके मृगजाल का, नश्वर सुख दुख के दर्शन करके, उन्होंने अनुभव के निष्कर्ष के रूप मे इन सबमे अनुस्यूत और उससे परे रहने वाले सत्य का दर्शन किया ।

धैर्य और पुरुषार्थ के दो चक्र पर समाज का जगन्नाथ रथ चलता है। आज मानव मूल्यो को फिर से प्रस्थापित करना होगा। इसके लिए शिक्षा में क्राति आवश्यक है। नये दर्शन की जरूरत है। बालक के तन, मन और आत्मा को विकसित कर सके, ऐसी शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्य महान है, क्योंकि वह परमात्मा का अंश है, इस सत्य की प्रतीति के लिए मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। योग यदि जीवन जीने की कला बन सके तो यह कार्य सरल हो जाए। दुनिया की संस्कृति पर दृष्टि डालते हैं, तो समझ मे आता है हरेक संस्कृति का सच उसकी आध्यात्मिक दृष्टि में रहा है न कि उसकी भौतिक समृद्धि में।

जीवन और उसकी मर्यादा को स्वीकार करके, उससे ऊपर उठने की चाबी पाकर उन्होने मनुष्य मात्र मे, और सकल ब्रह्माड मे परम तत्व के दर्शन किये। और उस अनुभव को पाने के लिए मनुष्य जाति को रास्ता दिखाया। उसमे से भगवान के साथ योग होने का मार्ग जन्मा।

जीवन-परमात्मा का एकत्व माने योग। और भिन्नत्व माने जगत। अष्टांग योग परमात्मा प्राप्ति की सीढी है, जिसके आठ सोपान है।

यह समस्त विश्व परमात्मा का आविष्कार है। इस दैवी सत्य के साथ एकत्व का अनुभव करके कार्य करने वाला ही सच्चा जीवन जीता है। बाकी लोग धौकनी की तरह जीते होगे।

अर्थ और काम जीवन का परम लक्ष्य नही हो सकते।

शिक्षक, विद्यार्थी के लिए सानुकूल वातावरण का सर्जन करके उसकी शक्तियो को यू ही विकसने देता है। कोमल विद्यार्थी मे अच्छे संस्कार का सिंचन हो, तभी उज्ज्वल भविष्य की आशा सभावित हो सकती है।

शिशुशाला से ही बालकों को सरल आसन की शिक्षा दी जाये तो एकाग्रता सिद्ध करने मे उपयोगी हो जाए। नन्हे बालकों की एकाग्रता बढ़ती है, और साथ-साथ स्मृति भी तेज बन सकती है। अभ्यास सरल हो जाता है। शरीर सुदृढ और चपल तथा मन बुद्धि निर्मल बन जाती है। लेकिन हमने तो ऐसी शिक्षा प्रणाली पाई है, जो शिशु अवस्था मे ही बालको को अहकारी बना दे, उसकी चेतना को बांधकर सीमित करदे। इस शिक्षा ने उसके विकास को कुचल दिया है, उसको मुक्ति का आनद नही लेने दिया।

बालक ज्यों-ज्यो बडा होता जाता है, उसका आतरिक विकास होना आवश्यक है। वह केवल शरीर नही है, न तो मन है, न बुद्धि। इन सबके ऊपर उठने वाली जो शक्ति है—वह है। परम सत्य का ही वह एक अश है, ऐसा उसको सच्चा मनुष्य बनाने के लिए अति आवश्यक है।

जिस शिक्षा की रचना मनुष्य-मनुष्य के भेद पर हुई हो, वह अपूर्ण ही रहेगी। आज की शिक्षा मे, विविध-विषयो की परवरिश हुई है। लेकिन शिक्षा लेने वाला विद्यार्थी उनके मूल के बारे मे प्राय. अनभिज्ञ होता है।

योग-मात्र का हेतु स्वरूप की प्राप्ति है। स्व-पहचान है।

उपनिषदकार कहते है—"जीवन एक यात्रा है"। यह यात्रा सुखद बनाने के लिए यात्री अपने बारे मे तथा आस-पास के जगत और जीव के बारे मे तथा आस-पास के जगत और जीवन के बारे मे जानकारी प्राप्त करे, ऐसा जरूरी है।

हम सब प्रभु की उस सत्ता से ही टिके है। ऐसा ज्ञान अति आवश्यक है। मनुष्य के मन मे, हृदय मे, शांति हो, तभी इस सत्य को हम समझ सकते है। इसके लिए चित्त का शात होना आवश्यक है। इसके लिए योगासन का व्यवस्थित अभ्यास तन, मन के आतरिक विकास के लिए आवश्यक है। माध्यमिक शालाओं मे योग के अभ्यास को (सिर्फ परीक्षा मे पास होने के एक विषय के रूप मे नही) स्थान दिया जाए, तो हमारी शिक्षा मे एक नया प्रस्थान हो सके, नवयुग का सर्जन सभावित हो।

समाज के स्वास्थ्य का आधार उसके व्यक्तियो पर है, और व्यक्तियो का स्वास्थ्य उनके शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक विकास पर निर्भर है। जिस समाज की नींव मे अच्छे सस्कार पड़े होगे, वह महान राष्ट्र मे परिवर्तित हो सकेगा।

अब हम आसन और प्राणायाम की बात करें— हठयोग

की क्रियाए आत्मोन्नति के लिए ही विकसित हुई है, क्योंकि हठयोग का ध्येय भी समाधि द्वारा आत्मदर्शन ही है।

शरीर को सुदृढ बनाकर, अदर से स्वच्छ और सुदर करके मन को अतर्मुख करके शाति के अनुभव और सुख के लिए ही आसन प्राणायाम की हठयोगियों ने रचना की है। लेकिन बाद मे मूल हेतु की विस्मृति या लोप होने के कारण हठयोग की क्रियाए सिर्फ शरीर उन्नति के लिए ही ग्रहण की जाने लगी और लोग भौतिक काम की ओर अधिक लालायित हुए, और मूल ध्येय-स्वरूप ज्ञान को बिसार दिया गया।

आध्यात्मिक हेतु भूलकर की हुई हठयोग की क्रियाये शरीर सौष्ठव अवश्य दे सकती है, यौवन को भी यथावत् रख सकती है। फिर भी ये क्रियाएं आत्माविहीन और निष्प्राण बन जाती है।

हम सब जानते हैं कि कई असाध्य रोग हठयोग की क्रियाएं नियमित रूप से करने से मिट सकते है। विविध आसन जठर, मगज, आतरस्राव, आंत, हृदय, फेफड़े, थाइराइड और पेराथाइराइड ग्रथि, पर अच्छा असर करते हैं, पीच्युटरी और पीनियल ग्रथियो का विकास करते हैं। और तन-मन और आत्मा की कई सूक्ष्म शक्तिओ का विकास करते हैं, जो मनुष्य के लिए अति उपकारक सिद्ध हाते हैं—उसके निजी जीवन मे, और सामाजिक जीवन दोनों में।

ध्यान धारणा के साथ हठयोग की क्रियाए चित्तशुद्धि के लिए काफी सहायक होती है।

ऐसे शुद्ध मनुष्य जिस समाज मे अधिक होगे उतना ही वह समाज तन, मन, और आत्मा से सब तरह से स्वस्थ हो सकता है और सच्चे अर्थों मे विकसित और समृद्ध कहा जा सकता है। आज के विज्ञान ने मनुष्य को भौतिक सुख का इन्द्र बना दिया है। अष्ट सिद्धि और नवनिधि के उपभोग की समृद्धि उसके पास खड़ी कर दी है। लेकिन आतरिक विकास के बिना भौतिक सुख पशुता की ओर ले जाता है। उसमे से ही, उस भौतिक सुख की लालसा मे से ही, परस्पर वैमनस्य, संघर्ष, कलह और युद्ध निष्पन्न होते हैं।

विज्ञान द्वारा अत्यन्त विकसित बनी हुई दुनिया की समृद्ध प्रजाओ ने युद्ध द्वारा मनुष्यकुल का सहार तीव्र बनाया है, और गतिपूर्ण भी।

विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य को राक्षसी बल दिया है और बाहर से सस्कारी दिखने वाले और अदर असस्कृत मनुष्य ने नर-सहार ही किया है।

हमे सच्ची शिक्षा द्वारा मनुष्यो मे मनुष्यता के बीज बोने हैं। इसके लिए शैशव से ही अच्छे संस्कारो का सिंचन होना जरूरी है। जिस प्रजा के तन सुदृढ, मन बलवान और मजबूत आत्मविश्वास हो, उसी को सस्कार युक्त प्रजा कह सकते है।

विज्ञान के बल पर एटमबम बनाकर अन्य प्रजाओ का विनाश करे, उनके प्रदेश को जीतकर उन पर शासन करे, ऐसी प्रजा को संस्कारी प्रजा नही कह सकते। पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग की रचना करके मनुष्यकुल सुख से रहे, परस्पर कलह न करे, तो जीवन यात्रा सफल हो सके। शिक्षा मात्र का हेतु समता, शाति और सुख है।

वनस्पति और प्राणीका (सिर्फ) बहिर्विकास होता है, जबकि मनुष्य का आतंरिक विकास। यही उसकी सस्कारिता है।

मनुष्य के हृदय की मरूभूमि मे मनुष्यता की धारा प्रकट हो वही (सच्ची) शिक्षा है।

आज हमे चारो ओर आवाज ही आवाज सुनाई देती है चित्त को अस्वस्थ बनाने वाली अर्थहीन प्रवृत्ति चारो ओर दिखती है, जबकि मनुष्य की प्रवृत्ति मात्र का केन्द्र सबका कल्याण और आत्मानद हैं। ऐसा बोध हो जाए, तो उसका नि.स्वार्थ कार्य परमात्मा मे से प्रेरणा की प्राप्ति कर सके। ऐसे मनुष्य ही सच्ची सेवा, लोक-कल्याण और मनुष्यता की सुगन्ध को फैला सकेगे।

सच्चा नि:स्वार्थ कार्य समाज के युग की माग है।

तो आओ

हम सब उस कार्य के लिए आसनस्थ बने और सब तरह के तन मन के रोग, मानसिक तनाव, सघर्ष, व्यग्रताए, और अशातियो को परम शाति द्वारा दूर करे। □

योग तथा शारीरिक शिक्षा

डॉ० म. ल. घरोटे
प्राचार्य
गो० से० योग तथा संस्कृत समन्वय महाविद्यालय
कैवल्यधाम, लोनावला-410403

प्रस्तावना

आज योग का शारीरिक शिक्षा के साथ सम्बन्ध जोडा जा रहा है। परन्तु यह विचार कोई नया नही है। शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र मे योग का प्रवेश प्राय साठ वर्ष पहले ही हो चुका है।

शारीरिक शिक्षा के अभ्यासक्रम मे कतिपय योगासनो का अतर्भाव सर्वप्रथम 1927 मे बम्बई शासन द्वारा श्री के. एम मुन्शी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने किया था। उसके बाद 1937 मे बम्बई शासन द्वारा गठित कुवलयानन्द समिति द्वारा राज्य मे शारीरिक शिक्षा की जो योजना बनाई गई उस योजना के अन्तर्गत देशी व्यायामो पर बल देते हुए जो अभ्यासक्रम बनाया गया उसमे योगासनो को भी महत्व दिया गया। 1937 मे कांदिवली मे बम्बई शासन द्वारा जो शारीरिक शिक्षा सस्था की स्थापना हुई, उसके अभ्यासक्रम मे अन्य व्यायामो के साथ योगासन भी सिखाए जाते थे। परन्तु 1956 मे शारीरिक शिक्षा की जो राष्ट्रीय योजना बनाई गई, उसमे शारीरिक शिक्षा के अन्य अभ्यासक्रमो के साथ योग का भी एक अभ्यासक्रम स्वीकार किया गया। इस प्रकार योग-व्यायामो की शिक्षा शारीरिक शिक्षा का अग बन गई। इसे स्थायी रूप देने हेतु शारीरिक शिक्षको के लिए योग प्रशिक्षण का विचार सर्वप्रथम सन् 1959 मे केन्द्रीय शिक्षा विभाग ने किया। तदनुसार शारीरिक शिक्षको के लिए पहला योग प्रशिक्षण शिविर 1959 मे स्वामी कुवलयानन्द जी के निर्देशन में लोनावला मे सम्पन्न हुआ। तब से लगातार इन शिविरो का आयोजन शारीरिक शिक्षको के लिए लोनावला के कैवल्यधाम में आज तक किया जा रहा है।

वैचारिक पृष्ठभूमि

योग तथा शारीरिक शिक्षा मे ध्येय एव उद्देश्य की दृष्टि से बहुत समानता पाई जाती है।

"शारीरिक शिक्षा, शिक्षा की प्रक्रिया का अनिवार्य भाग है जिसका कार्य शारीरिक व्यायामो द्वारा शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक तथा सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियो का निर्माण कर शिक्षा के उद्देश्यो की पूर्ति करना है।"

योग तथा शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य एक ही है—व्यक्तित्व का सभी स्तरो पर अत्युच्च विकास। इस दृष्टि से योग का शिक्षा के साथ साम्य दिखाई देता है। योग का अर्थ एवं उद्देश्य व्यक्तित्व का आत्यन्तिक संतुलन प्राप्त कराना है।

शारीरिक शिक्षा शरीर से सम्बन्धित होने पर भी शिक्षा का अविभाज्य अंग है। योग मे भी शरीर द्वारा साध्य प्राप्त कराने वाला अग हठयोग कहलाता है। इस-लिए हठयोग तथा शारीरिक शिक्षा मे भी साम्य है। दोनों के विषय मे लोगो के मन मे कई प्रकार की गलत धारणाएं पाई जाती है। उन्हे दूर करने की बहुत आव-श्यकता है।

(हठ) योग तथा शारीरिक शिक्षा के समान उद्देश्य

(1) स्वास्थ्य एव शारीरिक क्षमता (Health and Physical Fitness)

(2) स्थिरता (Emotional Stability)

स्वास्थ्य की धारणा विशाल है जिसमे शारीरिक एव मानसिक पहलू सम्मिलित है। शारीरिक पहलुओ का विचार शारीरिक क्षमता तथा कौशल की दृष्टि से किया जा सकता है। शारीरिक क्षमता का अर्थ "विशिष्ट काल मे विशिष्ट शारीरिक कार्य करने की क्षमता" इस प्रकार होता है। शारीरिक क्षमता को तीन विभागो मे विभाजित किया जाता है। एक, शरीर-रचना, जो मासपेशियों, हड्डियो तथा चरबी के अनुपात पर निर्भर होती है। दो, विभिन्न इन्द्रियो की, विशेषकर, श्वसन तथा रक्ताभिसरण संबधी इन्द्रियो की कार्यक्षमता। तीन मासपेशियो की कार्यक्षमता जिसमे गति, ताकत, सहनशीलता, लचीलापन,

तौल आदि घटक सम्मिलित होते है तथा वे एक दूसरे से सम्बन्ध रखते है ।

कौशल का निम्नलिखित 6 प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :

(1) निजी, (2) तालबद्धता, (3) गुरुत्वाकर्षण से सम्बन्धित, (4) घर्षण से सबधित, (5) छोटी वस्तुओं से सबधित, (6) वजनदार वस्तुओ से संबधित ।

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारभूत क्रियाए सम्मिलित है जैसे—दौडना, कूदना, लुढ़कना, ऊपर चढना, तौल सभालना, लात मारना, घूमना, गोलाकार धकेलना, फेकना, पकडना, चलना, खीचना, ऊपर उठाना और ढोना, टकराना ।

मानसिक पहलू अधिकतर मन से तथा भावनाओ से सम्बन्धित होता है । मन· शांति मानसिक स्वास्थ्य का प्रमुख लक्षण है । भावनाओ के प्रक्षोभ से मन की अशांति बढती रहती है । इसलिए भावनाओ का नियत्रण मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है ।

भावना एक प्रकार की संवेदना है जिसकी प्रतिक्रिया मे मनोकायिक परिवर्तन होते है । भावना नियत्रण का अर्थ भावनाओं को प्रकट न करना ऐसा नहीं । इसका अर्थ है भावनाओं के प्रक्षोभ से अपनी विचार शक्ति को नष्ट न होने देना । भावना-नियत्रण को ही भावनात्मक परिपक्वता कहते है, जिसके निम्नलिखित लक्षण होते है ।

(1) नैराश्य झेलने की क्षमता मे वृद्धि ।

(2) भावनाप्रक्षोभ की तीव्रता तथा पुनरावृत्ति मे कमी ।

(3) आतरिक तथा बाह्य भावनात्मक प्रक्षोभ मे कमी ।

(4) आत्मभर्त्सना की अवस्था मे कमी ।

(5) भावनात्मक बाह्यदर्शी परिवर्तन के लक्षणो मे कमी ।

"जीवन की अप्रिय घटनाओ को, जिनका कारण कोई भी हो, वस्तुस्थिति मानकर उनका मुकाबला करना, न कि उनसे द्वेष करना, यह भावनात्मक परिपक्वता का लक्षण है ।" रेनि वुडवर्ड ।

योग तथा शारीरिक शिक्षा दोनो ही अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में विभिन्न साधनो का उपयोग करते हैं ।

योग तथा शारीरिक शिक्षा के साधन

शारीरिक शिक्षा के साधनो की नीव है विविध प्रकार की शारीरिक क्रियाए जिनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

शारीरिक क्रियाओं का वर्गीकरण

1. मूलवृत्तियों पर आधारित नैसर्गिक क्रिया
   - (क) अभिनय
   - (ख) लयबद्ध क्रियाएं
   - (ग) अथलेटिक क्रीडाए
   - (घ) व्यक्तिगत द्वन्द्व
   - (ङ) जल क्रीड़ा
   - (च) शीत कालीन क्रीडाएं
2. सबधित क्रिया, व्यवसाय अथवा आवश्यकता के अनुसार
3. सशोधित अथवा निर्मित क्रिया
   - (क) सचलन
   - (ख) कवायत
   - (ग) निर्मित खेल

योग तथा शारीरिक शिक्षा एवं खेलकूद मे जो आपसी सहयोग होना चाहिए वह आज दिखाई नही देता। सम्भवतः शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में योग के महत्वपूर्ण योगदान के विषय मे अब भी बहुत अज्ञान है। इसलिए शारीरिक शिक्षा के विकास में हम आज योग के योगदान का उचित लाभ नहीं उठा पा रहे है। उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होगा कि शारीरिक शिक्षा के साधनों की कुछ कमिया हैं जो योगाभ्यास के अन्तर्भाव से दूर की जा सकती हैं। योग तथा शारीरिक शिक्षा परस्पर पूरक है। इस नाते उनका आपसी सहयोग मानव के लिए अति उत्तम सिद्ध होगा।

उपर्युक्त विभिन्न बडी मांसपेशियो की क्रियाओ द्वारा शारीरिक क्षमता के विभिन्न घटको मे वृद्धि होती है तथा शारीरिक स्वास्थ्य संवर्धन होता है। खेलकूद आदि हलचलों से सचित भावनाओ का आविष्कार होता है जिससे भावनात्मक स्वास्थ्य प्राप्त करने मे मदद मिलती है।

योग के साधनो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है .

(1) आसन, (2) प्राणायाम, (3) बन्ध-मुद्रा, (4) शुद्धिक्रिया, (5) ध्यान, (6) व्यवहार नियंत्रण के अभ्यास।

आसन

शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता प्राप्त करने हेतु की गई शरीर की सुखद एवं विशेष रचना आसन कहलाती है। उसका उद्देश्य मांसपेशियो की तानस्थिति (Muscle Tone) में सुधार लाकर चेतनिक सवेदनाओ मे संतुलन निर्माण करना है। आसन केवल शारीरिक व्यायाम नही है। वह एक मनोकायिक प्रक्रिया है।

शरीर की स्थिर एव आराम से बैठने की अवस्था ध्यानोपयोगी आसन कहलाती है। हाथ पैरों की विभिन्न रचना के आधार पर बहुत से ध्यानोपयोगी आसन बन जाते हैं।

शरीर की विभिन्न मासपेशियो मे उचित तानस्थिति लाने के लिए एक स्थिरताप्रधान तानन प्रक्रिया (Static Stretching Procedure) व्यायामात्मक आसन कहलाती है। उनका उद्देश्य मेरुदण्ड को सुदृढ एवं लचीला बनाना है। इन आसनों के कई प्रकार हैं जो शरीर की विभिन्न अवस्थाओं मे किए जाते है।

शरीर को तथा मन को विश्राम देने वाले आसन विश्रामदायक कहलाते है।

आसन अन्य योगाभ्यास के आधारभूत होते है।

प्राणायाम

यह श्वमन सवेदनाओ पर नियंत्रण लाने वाली प्रक्रिया है। प्रारम्भ मे श्वास एवं प्रश्वास पर नियत्रण लाकर बाद मे श्वासावरोध किया जाता है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा अनिच्छावर्ति चेतन संस्थान पर नियत्रण लाकर मनोव्यापार पर भी अच्छा प्रभाव डाला जाता है। योग परिभाषा मे नियत्रित श्वास को पूरक, नियंत्रित श्वासावरोध को कुम्भक और नियंत्रित प्रश्वास को रेचक कहते है। ध्यान जैसी यौगिक प्रक्रिया में प्राणायाम से बहुत मदद मिलती है।

बन्ध-मुद्रा

शरीर की विशिष्ट अर्ध-ऐच्छिक तथा अनैच्छिक मासपेशियो पर नियत्रण लाने वाली ये प्रक्रियाए है। इन मासपेशियो पर नियत्रण लाने से क्रमश अनिच्छावर्ति चेतन सस्थान (Autonomic Nervous System) पर नियत्रण आता है। इनके अभ्यास से आतरिक इन्द्रियो की तानस्थिति (Tone) उचित अवस्था मे आती है, उनमे सचित द्रव्यो को बाहर निकाला जाता है तथा उनकी कार्यक्षमता मे सुधार होता है।

प्राणायाम मे उपयोगी मुद्राओं को बन्ध कहा जाता है।

शुद्धिक्रिया

शरीर शुद्धि की प्रक्रियाए छ भागो मे विभाजित की गई है। उन्हे षट्क्रियाए भी कहते है। उनके नाम है— धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।

स्वास्थ्य रक्षा मे शुद्धि क्रियाओं का बड़ा ही महत्व है। इनके अभ्यास से विभिन्न संस्थान तथा इन्द्रियो की सहनशीलता बढ़ती है। मनोकायिक संतुलन प्राप्त करने में शुद्धि क्रियाए बहुत मदद करती है।

ध्यान

किसी वस्तु, नाद, कल्पना या अनुभव विशेष पर मन एकाग्र करने की सर्वागीण तथा वैशिष्ट्यपूर्ण प्रक्रिया ध्यान कहलाती है। ध्यान के अभ्यास से मन शांत होता है।

व्यवहार नियंत्रण के अभ्यास

योग की परिभाषा मे इन्हे यम तथा नियम कहते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाच यम तथा शौच, सतोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाच नियम हैं। इनका व्यक्तिगत अभ्यास स्वेच्छा से नियत्रित व्यवहार के लिए किया जाता है।

योगसाधन तथा शारीरिक शिक्षा के साधनों की तुलना

योगसाधन	शारीरिक शिक्षा के साधन
(1) स्वरूप	
योग के साधन बहुरूपी होते है। प्रत्येक साधन की विशेषता होती है। आसन स्थिर प्रकार के व्यायाम हैं।	सभी साधन हलचलयुक्त तथा आवर्तनसहित व्यायाम के रूप मे होते है। सभी व्यायाम अस्थिर होते हैं।
(2) शक्तिव्यय	
कम ताकत खर्च होती है। इनसे थकान नही आती, बल्कि ताजगी आती है।	इन साधनो मे ताकत अधिक खर्च होती है। शीघ्र थकान आती है।
(3) शरीरसंवर्धन	
मासपेशियो के विकास की अपेक्षा इनका बल अतरेन्द्रियो की स्वास्थ्य रक्षा पर होता है।	इनसे मांसपेशियो का अधिकतर विकास होता है।
आसनो के द्वारा मेरूदण्ड का लचीलापन और स्वास्थ्य प्राप्त होता है।	इनमे मेरूदण्ड का लचीलापन प्राप्त करने पर इतना बल नहीं दिया जाता जितना कि मांसपेशियों के विकास पर दिया जाता है।
योगसाधनो द्वारा भी सामान्य मनुष्य की आवश्कतानुसार शारीरिक क्षमता के विभिन्न घटकों मे सुधार होता है।	शारीरिक क्षमता के विभिन्न घटक, जैसे गति, लचीलापन, ताकत, सहनशीलता, कौशल, तोल आदि मे सुधार लाया जाता है।
यह पाया गया है कि योगसाधन स्थिरस्वरूप होने के बावजूद रक्ताभिसरण की कार्यक्षमता बढाने मे सक्षम है। इनका अभ्यास अधिकतर व्यक्तिगत होता है।	रक्ताभिसरण की कार्यक्षमता बढ़ती है जो कि स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। इनका अभ्यास सामूहिक होता है।

योगसाधन	शा. शि. साधन
इन में स्पर्धा की भावना नहीं होती ।	इनमे स्पर्धा की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है ।
(4) भावनात्मक प्रशिक्षण	
आसन प्राणायाम जैसे अभ्यासो द्वारा तनावों से मुक्ति होती है। अनिच्छावर्ति कार्यों के नियंत्रण द्वारा भावनात्मक प्रशिक्षण होता है । फलस्वरूप मन को शाति मिलती है।	बडी मासपेशियो की हलचलो द्वारा तनाव कम होता है तथा संचित भावनाओ का आविष्कार होकर भावनात्मक स्वास्थ्य-लाभ होता है । परन्तु इस उद्देश्य की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है ।
(5) भावी उपयोगिता	
बड़ी उम्र मे जब कि अन्य शक्तिशाली व्यायाम नहीं कर सकते, तब योग के साधन अपनाए जा सकते हैं । पूरे जीवन में उपयोगी व्यापक तथा सीमारहित ये साधन है। इन साधनो से मनुष्य अन्तर्मुख बनता है ।	शारीरिक शिक्षा के साधन बडी उम्र मे बहुत काम नही आते । इन साधनो से मनुष्य बहिर्मुख बनता है तथा उसे अन्तर्मुख बनने का कोई अवसर प्राप्त नही होता जो कि जीवन का एक आवश्यक अग है ।

योग का शारीरिक शिक्षा तथा खेलकूद के प्रति योगदान

योग के साधनो का विनियोग हम शारीरिक शिक्षा तथा खेलकूद के प्रति अच्छी प्रकार से कर सकते हैं । यह निम्न प्रकार से सम्भव होता है ।

1. खेलकूद मे पहुचने वाली चोटों के प्रतिबध के लिए।
2. खेलकूद में पहुंचने वाली चोटो के उपचार के लिए।
3. खेलकूद के संवर्धन के लिए ।
4. खेलकूद मे आवश्यक शारीरिक क्षमता कायम रखने के लिए ।

1. चोटों का प्रतिबन्ध

हर खेलकूद मे जोरदार हलचले होती है । सभी जोरदार हलचलें मासपेशियों का सकोचन करती हैं तथा उनकी अत्यधिक खिचाव के प्रति सवेदनशीलता बढ़ती है। जितना ही खिलाड़ी तीव्र तथा जोरदार हलचलो से सबधित कार्य करता है, उतना ही उसके लिए मासपेशियो के खिचाव की अधिक आवश्यकता होगी । चोटो के प्रतिबध के लिए डा० हर्बर्ट डेव्रिस ने मासपेशियो के खिचाव का अभ्यास बहुत उपयोगी बताया है । जब कोई खिलाडी किसी जोरदार व्यायाम या खेल का तीव्रता से अभ्यास करता है तब उसकी मासपेशियो के ततुओं को चोट पहुंचती है । जब चोट मे सुधार होता है तब वह मासपेशियां छोटी तथा सख्त बनती है । ऐसी मासपेशियो को बार-बार चोट पहुंचने का भय होता है ।

2. चोटों का उपचार

मासपेशियो का वेदनाजनक संकोचन (Muscle spasm) दूर करने के लिए आसनो का उपयोग किया जा सकता है। मांसपेशियो का कड़ापन आसनो के खिचाव से दूर होता है । हर्बर्ट डेव्रिस ने इस प्रकार आसनों की उपयुक्तता बताई है ।

3. खेलकूद का सवर्धन

यह सवर्धन निम्नलिखित बातों पर निर्भर होता है ।

(अ) आधारभूत क्षमता के घटक
(ब) विशिष्ट खेलकूद के कौशल
(स) मानसिक घटक

विभिन्न योगाभ्यासों द्वारा विविध आधारभूत शारीरिक क्षमताओ के घटको मे वृद्धि होती है। यह अनुसधान से पाया गया है।

खेलकूद के कौशल मांसपेशियो तथा चेतनिक सस्थान के समन्वित कार्य पर निर्भर होते है। योगाभ्यास के माध्यम से इस मे सुधार होता है।

भावना का घटक किसी भी खेलकूद मे महत्वपूर्ण होता है। भावना पर योग्य नियत्रण खेलकूद का स्तर बढ़ाता है। योगाभ्यास के माध्यम से अनिच्छावर्ति चेतन सस्थान (Autonomic Nervous Sytem) के द्वारा भावनाओ पर यथोचित नियंत्रण लाया जा सकता है।

(4) शारीरिक क्षमता की रक्षा

प्रतियोगिताओ के समय ही केवल शारीरिक क्षमता आवश्यक नही होती, बल्कि अन्य समय मे भी वह आवश्यक है। सभी समय शारीरिक क्षमता को बनाए रखने मे योगाभ्यास महत्वपूर्ण योगदान करता है।

योग तथा शारीरिक शिक्षा में आपसी सहयोग

योग तथा शारीरिक शिक्षा एव खेलकूद मे जो आपसी सहयोग होना चाहिए वह आज दिखाई नही देता। सम्भवत: शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र मे योग के महत्वपूर्ण योगदान के विषय में अब भी बहुत अज्ञान है। इसलिए शारीरिक शिक्षा के विकास मे हम आज योग के योगदान का उचित लाभ नही उठा पा रहे हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होगा कि शारीरिक शिक्षा के साधनो की कुछ कमिया हैं जो योगाभ्यास के अन्तर्भाव से दूर की जा सकती हैं। योग तथा शारीरिक शिक्षा पूरक होने के नाते उनका आपसी सहयोग मानव के लिए अति उत्तम सिद्ध होगा। □

योग तथा नैतिक मूल्यों की शिक्षा

योगाचार्य भास्करानंद परमहंस
शंकराचार्य योगपीठ, सवाईमाधोपुर
(राजस्थान)

उपर्युक्त शीर्षक मे तीन शब्द हमारे सम्मुख आते है। सर्वप्रथम योग, द्वितीय नैतिक मूल्य, तृतीय शिक्षा । तीनों शब्द देखने मे पृथक-पृथक प्रतीत होते है किन्तु परस्पर एक दूसरे के पूरक है ।

योग युज् धातु से निष्पन्न शब्द है जिसका अभिप्राय मेल है। दो और दो चार होते हैं । योग के इस सामान्य अर्थ से भिन्न आत्मा परमात्मा के मेल को योग कहा जाता है ।

नैतिक मूल्य से तात्पर्य जीवन को उन्नत करने वाले तत्व यथा सत्य, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय आदि गुणों का विकास करना है । शिक्षा इन गुणो का विकास करने का माध्यम है । अत' स्पष्ट है कि शिक्षा के माध्यम से योग द्वारा मानव मे नैतिक मूल्यों का विकास होता है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मन' सत्येन शुद्धयति ।
विद्या तपोभ्या भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ।।

अर्थात् शरीर शुद्धि तो जल से हो जाती है किन्तु मन की शुद्धि सत्य से और विद्या तथा तप से जीवात्मा की और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है ।

आत्मा नदी सयम पुण्यतीर्था,
सत्योदका शीलतटा दयोर्भिः ।
तत्राभिषेक कुरू पाण्डुपुत्र !,
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।

पातन्जल योग दर्शन मे शौच[1] सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को महत्वपूर्ण माना गया है ।

वास्तव मे आज इन सबकी आवश्यकता है । पवित्रता, तप, सन्तोष और स्वाध्याय यदि आज विद्यार्थी के जीवन मे उतार दिए गए, तो ये गुण उसके सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त हैं ।

नवीन शिक्षा नीति में योग के महत्व को सराहा गया है और उसे पाठ्यक्रम मे यथासम्भव स्थान देने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। किन्तु इस शिक्षा नीति के कार्यरूप मे परिणत होने पर यह देखा जाएगा कि योग शिक्षा मे कितना स्थान प्राप्त कर सका है। यदि योग को समुचित स्थान मिल गया तो मै दावे के साथ कह सकता हूं कि बालकों मे नैतिक मूल्यों का निरंतर वर्धन होगा और बालक देश के भावी कर्णधार बनकर राष्ट्र की डगमगाती नौका को सम्भालेगे और उसे सही दिशा प्रदान करेंगे ।

इसके अतिरिक्त अहिंसा[2] जैसा गुण यदि व्यक्ति ने अपने जीवन मे उतार लिया तो समझो कायाकल्प ही हो गया । आज विद्यालयो मे अनुशासनहीनता जो सामान्य विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक व्याप्त हो रही है, उसे समाप्त करने के लिए न पुलिस की दण्ड व्यवस्था ही सक्षम है न शिक्षको द्वारा कठोर दण्ड व्यवस्था, अपितु नैतिक मूल्यो का वर्धन ही इसमे सफलता देगा । और यह कार्य योग द्वारा ही सम्भव है। योग व्यक्ति मे दृढता तो प्रदान करता ही है, साथ ही अहिंसा[3], सत्य, तप, ब्रह्मचर्य[4] आदि सद्गुणो का विकास कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारता है । ब्रह्मचर्य को पुष्ट करने मे योग आसनो[5] का सहयोग प्राप्त करता है । सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, मयूरासन, भुजगासान आदि अनेक आसन है, जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने को निरोग रख सकता

---

1. पा० यो० द०, सा० पा० 2 (32) शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेशवरप्रणिधानानि नियमा. ।
2. पा० यो० द०, सा० पा० 35 अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग: ।
3. पा० यो० द०, सा० पा० 36 सत्यप्रतिष्ठाया क्रिया फलाश्रयत्वम् ।
4. पा० यो० द०, सा० पा० 38 ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ: ।
5. पा० यो० द०, सा० पा० 46 स्थिरसुखमासनम् ।

है। साथ ही ब्रह्मचर्य को पुष्ट कर व्यक्ति दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

यद्यपि इन आसनो की सख्या 84 लाख योनियों के तुल्य अनन्त है कुछ विद्वानो ने प्रमुख रूप से 84 आसनो को स्वीकार किया है किन्तु घेरण्डसहिताकार ने केवल 32 आसनो को ही प्रामुख्य प्रदान किया है। आसनो के अतिरिक्त प्राणायाम का भी योग क्षेत्र मे प्रशस्त एव महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रक्रिया के द्वारा हमारे ऋषि-महर्षि त्रिकालदर्शी होते थे तथा हजारो वर्षों की आयु प्राप्त करते थे। आज शिक्षा नैतिक मूल्यो के अभाव मे पतवार विहीन नौका की भाति इधर-उधर थपेडे खा रही है। नवीन शिक्षा नीति मे योग के महत्व को सराहा गया है और उसे पाठ्यक्रम मे यथासम्भव स्थान देने का प्रयत्न भी किया गया है। किन्तु इस शिक्षा नीति से कार्यरूप मे परिणति होने पर यह देखा जाएगा कि योग शिक्षा मे कितना स्थान प्राप्त कर सका है। यदि योग को समुचित स्थान मिल गया तो मै दावे के साथ कह सकता हू कि बालको मे नैतिक मूल्यो का निरन्तर वर्धन होगा और यही बालक देश के भावी कर्णधार बनकर राष्ट्र की डगमगाती नौका को सम्भालेगे और उसे सही दिशा प्रदान करेगे। क्या कारण था कि हमारा भारत आज से हजारो वर्ष पहले जगत गुरू कहलाता था? और विश्व के लोग जब संस्कृति से परिचित नही थे तब उसने उनको मानवता का पाठ पढाया। हमारे ऋषियो और महर्षियो के नैतिक मूल्यो का प्राबल्य ही इसमे एक मात्र कारण था। आज हम शिक्षा मे योग को स्थान देकर अपनी खोयी हुई शक्ति को पुन. प्राप्त कर सकते है। ईश वन्दना के साथ ही विद्यालयो मे योग के माध्यम से अहिंसा, तप, स्वाध्याय, सत्य आदि नैतिक गुणो पर बल दिया जाए, कथनी और करनी मे एकरूपता लाने के लिए सुदृढ़ चरित्रवान अध्यापको की नियुक्ति की जाए अथवा योग विशेषज्ञो की नियुक्ति की जाए जो खासतौर पर बालको के नैतिक मूल्यों को उभारे। रूसो के अनुसार 'प्रकृति की ओर वापिस लौटो' के सिद्धान्त के अनुसार मै यह कहूगा कि प्राचीन सभ्यता, सस्कृति और साहित्य की ओर वापिस लौटो। जब आप वैदिक सस्कृति का अनुशीलन करेंगे और स्मृति ग्रन्थ के वचनो का आदर करेगे तो निश्चय ही आप मे नैतिक गुणो का विकास होगा और समाज उन्नति की ओर अग्रसर होगा। मनुस्मृति मे भगवान मनु ने धर्म के 10 लक्षण प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट कहा है—

> अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह
> धीर्विद्या सत्यमक्रोध: दशक धर्मलक्षणम्

अर्थात् मनु के अनुसार धर्म के दस तत्वो को फिर से पनपाने की आवश्यकता है। सभवत महर्षि पतंजलि ने सूत्र रूप मे इन्ही तत्वों को अपने साधन पाद मे दर्शाकर शरीर की स्वस्थता के साथ-साथ चरित्र पर विशेष बल दिया है। क्योकि दीर्घ जीवन के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर के लिए ब्रह्मचर्य जैसे सुपुष्ट साधनो की और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आसन, प्राणायाम जैसे अन्य साधनो की नितान्त आवश्यकता है। आसन और प्राणायाम की सिद्धि के लिए योग की उपासना करना आवश्यक होगा। साराशत: योग के माध्यम से नैतिक शिक्षा को बढावा मिलेगा। योग आवश्यक रूप से नैतिक मूल्यो का विकास तो करता ही है, किन्तु गोरक्ष[1] पद्धति के अनुसार यह दीर्घ जीवन दाता भी है। मानव मात्र का लक्ष्य दीर्घ जीवन प्राप्ति भी है।

अत मे इन शब्दो के साथ कि योग को अधिक से अधिक बढ़ावा देकर सरकार द्वारा शिक्षा मे नैतिक मूल्यो का विकास किया जाना चाहिये। यह केवल राष्ट्र के लिए ही नही, अपितु विश्व के लिए भी एक लाभकारी योजना होगी क्योकि·

> सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया:।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खभागभवेत्।।

का भाव जो विश्व कल्याण प्रतिपादक है योग मे निहित है। अत: योग नैतिक मूल्यो के विकास के लिए स्वयं मे सिद्ध एक साधन है। □

---

1. **गोरक्ष पद्धति प्रथमशतक** . 1/14
निर्व्याधि: स मृणाल कोमल वपुर्योगी चिरजीवति।

मै यह अवश्य निवेदन करूंगा कि योग शिक्षा को शारीरिक शिक्षा या खेलकूद का अंग न समझा जाए। क्योंकि योग का वास्तविक ध्येय विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व अर्थात् शरीर, मन व आत्मा का विकास है। उसका केवल शारीरिक गठन या शारीरिक कसरतो से संबंधित उद्देश्य नहीं है। अत: यह बड़ी भूल होगी यदि योग प्रशिक्षण व उसके निर्देशन कार्य को शारीरिक व्यायाम व खेलकूद से संबंधित शिक्षा विभाग का अंग बनाया जाए। खेल-कूद व योग के शिक्षकगण भी पृथक ही होने चाहिएं। योग शिक्षा का निर्देशन व उसके परिणामों का सही मूल्याकन करने का कार्यभार केन्द्रीय व राजकीय शिक्षा मंत्रालय/विभाग में किसी ऐसे उच्च अधिकारी को सौपना सार्थक होगा जो स्वयं योग के सिद्धान्तो व लाभो से अच्छी तरह परिचित हो और जिसने उसे अपने दैनिक जीवन में भी थोडा बहुत अपनाया हो। तभी योग विद्या की शिक्षा सफल व राष्ट्रहित में होगी।

योग संबंधी पाठ्यक्रम के बनाने का कार्य केवल राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् को जो सौपा गया है उसमे अनुभवी क्रियावान योगियों व विश्वविद्यालयों के योग प्रशिक्षकों को भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक होगा। पाठ्यक्रम को सरल व क्रमिक बनाया जाए, ताकि सभी मानव मूल्यो एवं अन्तर्निहित सभी सूक्ष्म शक्तियो का समुचित विकास हो। हठयोग व राजयोग से संबधित लगभग सभी सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष शामिल हो तथा एक उप-समिति का गठन हो जो माध्यमिक तथा उच्चतर शालाओं के विद्यार्थियों के लिए योग का प्रारंभिक तथा उच्चतर पाठ्यक्रम तैयार करे। उसमें योग चिकित्सा का भी समावेश हो।

योग तथा शिक्षा

योगाचार्य रामचन्द्र गुप्त
मानद निदेशक एवं अध्यक्ष, योग शिक्षा विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला-171005

प्राक्कथन

योग और शिक्षा दोनो का ही पारस्परिक एवं जीवन से गहरा सम्बन्ध है। अत. दोनो ही अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा मनुष्य के सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले प्रमुख साधन हैं। जीवन का विशिष्ट रूप से ऐसा निर्माण होना चाहिए जो दूसरों के लिये अच्छा उदाहरण बन सके तथा समाज व राष्ट्र को गौरव प्रदान कर सके। ऐसे जीवन निर्माण मे अनेक तत्वो का योग रहता है, जैसे पारिवारिक व सामाजिक वातावरण, पूर्व जन्म के संस्कार, वंशानुक्रम, माता-पिता का व्यक्तित्व, उचित शिक्षा-दीक्षा, खानपान, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि। ये सभी युवावर्ग के जीवन पर प्रभाव डालते है। मनुष्य मात्र का दैनिक जीवन सघर्षमय, चिन्ता व तनावयुक्त विवेकहीन एव स्वार्थ-परायण बन चुका है। दूषित वातावरण का कुप्रभाव युवावर्ग एवं विद्यार्थियो

मे व्याप्त अनैतिकता, दुष्चरित्रता, विनाशकारी मनोवृत्ति, घेराव, हड़ताल, अनुशासनहीनता, माता-पिता व गुरुजनों के प्रति अनादर तथा उनकी आज्ञाओ की अवहेलना इत्यादि से पूर्णतः स्पष्ट है। ऐसी भयानक परिस्थितियों का निराकरण तथा राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सम्पूर्ण विद्यार्थीगण का समुचित विकास वर्तमान शिक्षा प्रणाली द्वारा सम्भव नही, वरन योग-समन्वित शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। वह भी तब जब उसका प्रशिक्षण निष्ठापूर्वक व वैज्ञानिक ढग से किया जाए।

वास्तव मे शिक्षा और जीवन का लक्ष्य विपरीत दिशा मे चलता आ रहा है अर्थात् शिक्षा का आधार भौतिकवादी व पुस्तकीय ज्ञान दिलाने वाला है। जीवन के मूल्यो का और आन्तरिक मानसिक, बौद्धिक व नैतिक शक्तियो का विकास लेशमात्र भी नही हो पाया है। इस कारण शिक्षार्थियों की विनाशकारी और अनैतिक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिला। बालकों का सही प्रबोधन शिक्षको द्वारा भी उचित मात्रा मे और विधिवत् नही हो पाया। राष्ट्रीय नई शिक्षा नीति मे योग के विषय को स्कूल-स्तर तक समावेश करके और प्राचीन भारतीय सस्कृति पर आधारित विद्यार्थियो के जीवन मूल्यो को और राष्ट्र-भावना को विकसित करने की आवश्यकता पर शिक्षकों एव उनके अधिकारियो का ध्यान दिलाया गया है। इसके लिये सभी नई शिक्षा नीति के निर्माता व परामर्शदाता प्रशसा के पात्र है। उसे सफल व सार्थक बनाने के लिये इस लेख मे अपनी सीमित बुद्धि एव अनुभवो के आधार पर मै योग व शिक्षा सम्बन्धी कुछ विचार व क्रियात्मक सुझाव पाठक एव सम्बन्धित अधिकारीगण के समक्ष विचारार्थ रखना अपना परम सौभाग्य व कर्तव्य समझता हू।

योग का स्वरूप व उसका शैक्षणिक महत्व

योग प्राचीन भारतीय सस्कृति के प्रमुख छः दर्शनों मे से एक क्रियात्मक रूप से आत्मानुभव एव ईश्वर साक्षात्कार कराने वाला विज्ञान एव व्यावहारिक व स्वस्थ जीवनयापन की अनुपम कला तथा मनोविज्ञान है। विद्वानों व मनीषियो द्वारा "योग" शब्द की अपने-अपने अनुभवों व बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की गई हैं। उसका साधारण अर्थ "युज" धातु पर आधारित होने के कारण "जोड़ना" है। योग के विधिवत् साधन से मनुष्य अपने असली स्वरूप को यानि आत्मा का, आत्मा व ब्रह्म के गुणो की समानता का तथा उन दोनों की एकता का स्वय अनुभव करता है। तदोपरान्त उनका विवेक पूर्णत' जागृत होने पर सभी क्लेशो, रोग व शोक तथा जन्म-मरण के दुखो से निवृत्ति एवं परमानन्द व परमानन्द-शान्ति की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त शरीर व मन तथा आत्मा का एक साथ समाकलन होकर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। जो प्रत्येक व्यक्ति का मौलिक ध्येय होना चाहिए। यही विद्या हमारे जीवन मे आन्तरिक व बाह्य सौन्दर्य व हर प्रकार की सामर्थ्य प्रदान करने मे सक्षम है। यही एक मात्र अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञानरूपी प्रकाश दे सकती है। वह मन की एकाग्रता प्रदान कर सभी समस्याओ का समाधान करने मे भी अत्यन्त सहायक है। इसी के द्वारा व्यक्ति स्वयं को समाज व राष्ट्र को सर्वांग रूप से सुन्दर, समुन्नत, सुखी व सम्पन्न बना सकता है।

शिक्षा के सन्दर्भ मे योग विद्यार्थियो के जीवन निर्माण का अनुपम साधन, स्वस्थ व चारित्रिक जीवनयापन की अनुपम कला तथा उनकी बिगडी हुई आदतो व उनके पारस्परिक सम्बन्धो व व्यवहार मे सुधार लाने के लिए अति उत्तम साधक है। यही शिक्षा विद्यार्थियो के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके शरीर, मन व आत्मा मे नवजीनन व स्फूर्ति प्रदान करती है। वह राष्ट्रीयता की भावना, अपार शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक शक्ति प्रदान करके ऋषियो व मुनियो के वाक्य "न योगात् परो बलम्" को चरितार्थ करती है। वह शालीनता, आत्म-गौरव, अनुशासन, त्याग व निष्काम सेवा करने की तथा कर्तव्यपरायणता इत्यादि की अच्छी भावनाओ को जागृत करती है। यही यौगिक शिक्षा उन्हे चतुर व कर्मठ सेनानी व कुशल कार्यकर्ता, आदर्श नागरिक व समाजसेवी बनाने मे सक्षम है। यही उनका स्वय, परिवार, समाज व राष्ट्र तथा ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन तथा दायित्व का बोध करा कर उन्हे भली प्रकार निभाने की भी सामर्थ्य प्रदान करता है।

ऐसा तभी सम्भव होगा जब निष्ठा वाले व चरित्रवान व्यक्तियो को योग शिक्षा कार्य मे लगाने से पूर्व उनकी

योग के प्रति रुचि, अनुभव, क्षमता इत्यादि की भली प्रकार निष्पक्ष भाव से जाच कर शिक्षा सस्थानो व केन्द्रो मे उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण व निर्देशो के बाद ही भेजा जाए। उनके चयन मे गैर सरकारी निष्काम सेवी क्रियावान अनुभवी व्यक्तियो की सहायता ले लेना भी उचित होगा। उसका प्रावधान राष्ट्रीय नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत भी मिलता है। उनके लिये एक निर्देश पुस्तिका की रचना भी अनुभवी शास्त्रियो व योग्य योगाचार्यो (शिक्षा जो शिक्षा संस्थानों व विश्वविधालयो से कुछ वर्षो से सम्बन्धित हो) के द्वारा अवश्य करवाई जानी चाहिए ताकि प्रशिक्षण कार्य सुगमता से सब जगह एक-सा चल सके। इस प्रकार याग के अति महत्वपूर्ण शिक्षा कार्य मे नई शिक्षा नीति के उद्देश्यो की पूर्ति सफलतापूर्वक हो सकेगी।

मैं यह अवश्य निवेदन करूगा कि योग शिक्षा को शारीरिक शिक्षा या खेल-कूद का अग न समझा जाये। क्योंकि योग का वास्तविक ध्येय विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व यानि शरीर, मन व आत्मा का विकास है। उसका केवल शारीरिक गठन या शारीरिक कसरतों से सम्बन्धित उद्देश्य नही है। अत: यह बड़ी भूल होगी यदि योग प्रशिक्षण व उसके निर्देशन कार्य को शारीरिक व्यायाम व खेल-कूद से सम्बन्धित शिक्षा विभाग का अग बनाया जाए। खेल-कूद व योग के शिक्षकगण भी पृथक् ही होने चाहिए। योग शिक्षा का निर्देशन व उसके परिणामो का सही मूल्याकन करने का कार्यभार केन्द्रीय व राजकीय शिक्षा मन्त्रालय/विभाग में किसी ऐसे उच्च अधिकारी को सौंपना सार्थक होगा जो स्वय योग के सिद्धान्तो व लाभो से अच्छी तरह परिचित हो और जिसने उसे अपने दैनिक जीवन मे भी थोडा बहुत अपनाया हो। तभी योग विद्या की शिक्षा सफल व राष्ट्रीय हित मे होगी। यदि धन की बचत व अन्य किसी कारण से ऐसा न किया गया तो उस नीति के आदर्शों और निर्देशो की पूर्ति कदापि सभव नही हो सकेगी ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

यदि हमे अपने देश की हर क्षेत्र में उन्नति करनी है तो हमे योग शिक्षा को सभी स्तरो पर यानि प्राथमिक से स्नातकोत्तर तक सभी विद्यार्थियो के नैतिक, आध्यात्मिक व पूर्णत. स्वस्थ जीवनयापन के लिये योग अभ्यास के सही प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध करना होगा। यह स्मरण रहे कि बालको व युवा वर्ग की जनसख्या भारत की कुल आबादी की साठ फीसदी से भी अधिक है। और भविष्य मे राज्यसत्ता की बागडोर भी अधिकाश मे उन्ही के हाथों मे होगी। अतः योग शिक्षा को स्कूल स्तर तक ही सीमित रखना उचित न होगा। उसे किसी न किसी रूप मे सभी शैक्षणिक विद्यालयो व केन्द्रो मे लगाया जाए, जिनमे कलात्मक व अभियान्त्रिक शिक्षा सस्थान व विश्वविद्यालय भी सम्मिलित हो। योग प्रशिक्षण का किसी न किसी रूप मे पाठ्यक्रम मे शनैं शनैं समावेश करना अवश्य वाछनीय होगा। योग मे नैतिकता और आध्यात्मिकता पूर्णत: शामिल हैं। हर प्रकार से स्वस्थ जीवन-यापन के लिये विधिवत् योगाभ्यास प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक है। इसके मुख्य कारण ये है कि जब विद्यार्थियो व अन्य युवको का जीवन योगमय हो जाएगा तो भारत वास्तव मे अच्छी प्रगति कर सकेगा। वह अपने खोये हुए गौरव का पुन उत्थान करने मे समर्थ होगा। उनके चित मे जब तक स्थिरता व शान्ति नही, स्नायुओ मे बल नही, आन्तरिक पाचन-क्रिया ठीक नहीं, मल त्याग की शुद्धता नही, किसी पाठ या ज्ञान को समझने व याद रखने की क्षमता नही, मन की एकाग्रता व निश्चयात्मक बुद्धि नहीं, सुखमय निद्रा नही, जीवन मे रस नही, बुद्धि मे विवेक नही, तो उनको इन गुणो को योग द्वारा प्राप्त कराये बिना कोई भी शिक्षा प्रणाली सार्थक नहीं हो सकती। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन मे भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति करने मे सदा असफल रहेगा। विद्यार्थी को सभी विषयो मे पारगत होने के लिए प्रमाद व आलस्य का त्याग, मानसिक एकाग्रता व शान्ति, प्रबल इच्छा शक्ति का विकास तथा महर्षि पतजलि द्वारा वर्णित अष्टाग योग के सभी सोपानो का विशेषकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इन्द्रिय सयम) जो बहिरग साधन शरीर को पुष्ट, लचीला, हल्का व सशक्त बनाते है और फिलहाल दो अन्तरग साधन (समाधि के अभ्यास को छोडकर) यानि मन की एकाग्रता व ध्यान का विधिवत वैज्ञानिक व नियमित रूप से किसी अनुभवी योगी व योग प्रशिक्षक के निर्देशन मे ही दैनिक अभ्यास कराया जाना अपेक्षित है। पुस्तकों से पढकर या दूरदर्शन आदि मे चित्रो को देखकर सीखना व अभ्यास करना

भ्रामक हो सकता है। अत. योग प्रशिक्षण कार्य के लिए जल्दी से जल्दी कुशल अध्यापको का चयन व प्रशिक्षण कार्य प्रारम्भ करना केन्द्रीय व राज्य सरकारो का विशेष दायित्व है।

योग शिक्षा का चिकित्सात्मक स्वरूप

विश्वविद्यालय स्तर पर योग प्रशिक्षण व योग चिकित्सा के दीर्घकालीन सफल अनुभवो के आधार पर निश्चित रूप से मैं यह कहूगा कि इस अनुपम योग शिक्षा ने अनेक विद्यार्थियों के जीवन मे एक नया मोड़ लाकर उन्हे शक्तिशाली व विवेकपूर्ण बनाया है। उनकी आत्मिक शक्ति का भी विकास हुआ है। उनकी सफलता के प्रमुख सूत्र उनकी तीव्र जिज्ञासा, मन की एकाग्रता, प्रबल इच्छाशक्ति, श्रद्धा व समर्पण का सद्भाव तथा अथक पुरुषार्थ ही थे। यह सब उन्हे विधिवत योग साधना द्वारा ही प्राप्त हुए थे। उनमें शरीर व मन का हल्कापन, चेतनता, आन्तरिक आनन्द व शान्ति का अनुभव, प्रबल प्राण शक्ति, आत्म-संयम, भावनाओ का उत्तेजित न होना, अथक कार्य क्षमता, आत्मोन्नति व आत्सयम की तीव्र आकांक्षा इत्यादि अनेक सद्गुण भी विकसित हुए।

योग की स्वास्थ्य वर्धक, रोग-निरोधक व रोग निवारक क्षमता अनेक देशों द्वारा किये गये वैज्ञानिक अनुसंधानो के आधार पर अद्वितीय सिद्ध हो चुकी है। वह दीर्घकालीन मनोकायिक चयापचय, श्वसन, मलमूत्र का त्याग, नाडी सस्थान व मेरूदण्ड सम्बन्धित अनेक जीर्ण रोगों व विचारो का स्थाई रूप से शमन करने मे भी अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। इनके अतिरिक्त प्राणिक अवरोध के कारण शरीर की अकड़न व उसका सख्त होना उसका कम्पन, पोलियो व पक्षाघात, चेतना की शून्यता इत्यादि रोग भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक मानसिक चेतना का परिभ्रमण करने या कराने से दूर हो जाते हैं। अन्य यौगिक शोधन क्रियाओं व खिचाव लाने वाले आसनो का अभ्यास भी उसके साथ-साथ करने से अधिक लाभ होता है। हृदय व अन्य अगो व प्रत्यंगों के सन्तुलित न होने के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं वे भी योगचिकित्सा द्वारा सुगमता से ठीक हुए है। पाचन सम्बन्धी रोग जैसे गैस का बनना, वातशूल, शिरपीडा, उच्च रक्तचाप, अनिद्रा, दमा इत्यादि तनावजनित रोग जो दिन प्रतिदिन बढते जा रहे हैं उनका भी शमन योगासन, प्राणायाम, मुद्राओ व बन्धों तथा शोधन क्रियाओं द्वारा सफलतापूर्वक होता है। अतः विद्यार्थियों व आम जनता मे योग का प्रचार, प्रसार व प्रशिक्षण वैज्ञानिक ढग से जितना अधिक से अधिक किया जाए उतना ही समाज व राष्ट्र का हित होगा। समय, शक्ति व धन का दवाइयो इत्यादि पर जो व्यय होता है वह भी राज्यो व केन्द्रीय सरकार को बचेगा। योग से व्यक्तियो की दीर्घायु भी होगी और आनन्दमय स्वस्थ जीवनयापन की अनुभूति भी प्राप्त होगी।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य एवं महत्व

गीतोक्त वाक्य "अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्वकम्" के अनुसार जो ज्ञान हमे अपनी सस्कृति के अनुरूप "अनेकता मे एकता" का दर्शन या अनुभूति कराये वह सात्विक और आदर्श ज्ञान है। यही ज्ञान एकात्मवाद और मानवता का पाठ पढ़ा कर संसार व स्वदेश के सभी मानवों को एक सूत्र मे बाध कर विघटन-कारी दानवता के चगुल से हमे छुड़ा सकता है। यही ज्ञान हमे समन्वयवादी दृष्टि प्रदान कर पारस्परिक विरोध भावना से रहित धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति करा सकता है। यानि यह ज्ञान नैतिक व सामाजिक मूल्यों की अवहेलना न करते हुए भौतिक पदार्थों को, सौन्दर्य व कला सम्बन्धी मूल्यो को एव आध्यात्मिक आनन्द व शान्ति को प्राप्त कराने मे समर्थ होगा। वास्तव मे वही सच्ची विद्या है जो जीवन के शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तीनो क्षेत्रो मे सामजस्य ला सकेगी।

प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के मतानुसार शिक्षा वह साधन है जिससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक पूर्णत जो प्रत्येक प्राणी में निहित है, प्राप्त की जा सके। वस्तुत. शिक्षा मोमबत्ती के सदृश्य है जो स्वय जल कर दूसरो को प्रकाश देती है। अत: शिक्षा सभ्यता प्रदान करती हुई मनुष्य को समाज व राष्ट्र के प्रति उपयोगी बनाती है। हमारे राष्ट्रपिता गांधी जी की व्यापक दृष्टि मे विद्या मुक्ति के योग्य बनाये वह विद्या, बाकी सब अविद्या। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी तो

यही कहा था कि "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना शिक्षा है।" महर्षि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो बड़े स्पष्ट शब्दो मे यह कह कर कि "वास्तविक शिक्षा बाहर के स्रोतो से अन्दर भरी नहीं जाती वरन् अपने अन्दर ही अपार सचित ज्ञान को बाहर निकाला जाता है।" उसी भाव की पुष्टि की है।

आदर्श शिक्षा वास्तव मे ऐसी होनी चाहिये जो विद्यार्थी के समूचे जीवन में काम आ सके, उसे ऊचा उठा सके, आत्मगौरव, राष्ट्रीय गर्व एव उसके विकास व हित की भावना को तथा एकात्मवाद पर आधारित विश्वबंधुत्व और निष्काम सेवा की भावनाओ को अच्छी तरह जागृत कर सके और बाल्यकाल से ही उसे उनके रग-रग मे ही भर दे। अर्थात् व्यक्ति का जीवन केवल राष्ट्र का ही न होकर पूरे समाज का बने। तभी वह सभी भाषा, जाति, प्रान्तीयता इत्यादि के दूषित एव संकुचित विचारों व भावों को मिटाकर और व्यापक योग दृष्टि को अपनाकर अपने व अन्य देशो के प्रति अपना उत्तरदायित्व निष्ठापूर्वक निभाने मे समर्थ होगा।

शिक्षा नीति के क्रियान्वयन सम्बन्धी सुझाव

यह स्मरण रहे कि नई शिक्षा नीति की सफलता उसके आध्यात्मिक व बौद्धिक विकास के ध्येय को भावी शिक्षा नीति के बनने तक छोडना या योगशिक्षा को स्कूल स्तर तक ही सीमित रखना तर्कसगत नही है। अत इस पर पुन. विचार की आवश्यकता है। मेरे विचार मे समुचित व वैज्ञानिक योग प्रशिक्षण व्यापक रूप से सभी शिक्षा संस्थानो तथा अन्य क्षेत्रो मे शीघ्र अतिशीघ्र योजनाबद्ध करवाना राष्ट्र के हित मे तथा नई शिक्षा नीति को सफल बनाने मे अति सहायक होगा। मेरे सुझाव इस सम्बन्ध में अधिकारियो के विचारार्थ निम्नलिखित हैं

1. मैं योग शिक्षा को अन्य सभी शिक्षाओ का मूल आधार मानता हू। इसके द्वारा ही मन की एकाग्रता तथा सभी आवश्यक गुण जैसे कल्पना, विवेक, इच्छा शक्ति, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, चारित्रिक, प्राण व चेतना, स्मरण व वाक् शक्ति, वीरता, उदारता, निष्काम, प्रेम इत्यादि सभी शुद्ध भावनाओ तथा गुणो का विकास सम्भव है। जैसी भावना वैसे ही विचार व कर्म होते है। शिक्षा के क्षेत्र मे भाव व विचार शुद्धि तथा उनके द्वारा प्राप्त व्यवहार शुद्धि तथा अनुशासन पर प्रत्येक कक्षा मे पढाते समय सभी शिक्षको का पूरा कर्तव्य निश्चित किया जाये और किसी प्रकार की ढील या अवहेलना को सहन न किया जाये। अच्छे कार्यकर्ताओ को पुरस्कृत भी किया जाना चाहिए।

2 केन्द्रीय व राज्य सरकारों के शिक्षा निदेशालयो मे योग निदेशन व प्रशासन सम्बन्धी कार्य शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद वाले कक्ष से बिल्कुल अलग कक्ष (एक नये कक्ष मे) किसी उच्च शिक्षा अधिकारी को, जो योग विद्या के सिद्धान्तो व क्रियाओ का अनुभवी हो, सौपा जाना तर्कसगत होगा।

3. केन्द्रीय व राज्य सरकारो के शिक्षा मत्रालय या विभाग में एक योग परामर्शदात्री समिति, जिसमे माने हुए, निष्पक्ष व चरित्रवान योग के अनुभवी व्यक्ति हो, उसका गठन किया जाना परम आवश्यक है।

4. योग सम्बन्धी पाठ्यक्रम के बनाने का कार्य केवल राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् को जो सौपा गया है उसमे अनुभवी क्रियावान योगियो व विश्वविद्यालयों के योग प्रशिक्षको को भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक होगा। पाठ्यक्रम को सरल व क्रमिक बनाया जाये ताकि सभी मानव मूल्यो एव अन्तर्निहित सभी सूक्ष्म शक्तियो का समुचित विकास हो। हठयोग व राजयोग से सम्बन्धित लगभग सभी सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष शामिल हो तथा एक उपसमिति का गठन हो जो माध्यमिक तथा उच्चतर शालाओं के विद्यार्थियो के लिये योग का प्रारम्भिक तथा उच्चतर पाठ्यक्रम तैयार करे। उसमे योग चिकित्सा का भी समावेश हो।

5. योग शिक्षा के क्रियान्वयन की सफलता का मूल्याकन करने वाले सभी व्यक्तियो का निष्पक्ष व गुणी होना परम आवश्यक है। शिक्षको के कार्य का मूल्याकन परम आवश्यक है ताकि उन पर कुछ अकुश बना रहे और वे अपने कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकें।

6 योग शिक्षा के लिए उपयुक्त समय, आवश्यक स्थान व दरी इत्यादि का भी प्रावधान आवश्यक है ताकि

वह विद्यार्थियो के जीवन में नित्य व सुचारू रूप से आ सके।

7. सभी शिक्षको का ध्यान इस ओर दिलाना चाहिए कि विद्यार्थी कैसे सीखता है, सुनता है व स्थिर व शान्त रहता है, न कि क्या व कितना पढ़ाया जाता है। सही/ध्यानपूर्वक सुनना व समझना ही शिक्षा का मूल मन्त्र है। तोते की तरह रटने, कुंजियो का प्रयोग व उनको शिक्षको द्वारा (नोटस) लिखा जाने तथा परीक्षा से नकल करने की प्रचलित प्रवृतियों पर अवश्य सख्ती से अकुश लगना चाहिए।

8. शिक्षकों को सेवाकाल प्रशिक्षण ग्रीष्म व शीत-कालीन अवकाश में शिक्षण का भी प्रावधान होना चाहिए।

9. शिक्षकों व विद्यार्थियों का योगाचार आदर्शमय हो इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता निर्विवाद होनी चाहिए।

उपसंहार

अन्त मे मेरा यही सब सम्बन्धित अधिकारियों, शिक्षक व विद्यार्थी गणो से एव समाज कल्याण समितियो व सस्थानों के अध्यक्षो व समाज व राष्ट्र के नेतागणों से आग्रह-पूर्वक निवेदन होगा कि वे राष्ट्र की नई शिक्षा नीति को हर प्रकार सफल व सुप्राप्य बनाने में अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करें। भारत का भविष्य उन पर, विशेष रूप से युवावर्ग पर, है। यदि वे चाहे तो अपना पूरा आत्मिक व बौद्धिक बल इसी कार्य मे लगा दें। योग के सिद्धान्तों व आदर्शों का पूरी तरह पालन करके अपने प्रिय राष्ट्र का गौरव फिर से ऊचा करने में सहायक बनें। मैं अपने मनीषियो से भी अवश्य कहूगा कि अब समय आ गया है कि वे क्रियात्मक रूप से सारा आत्मबल, सद्मत्रणा प्रदान करें। □
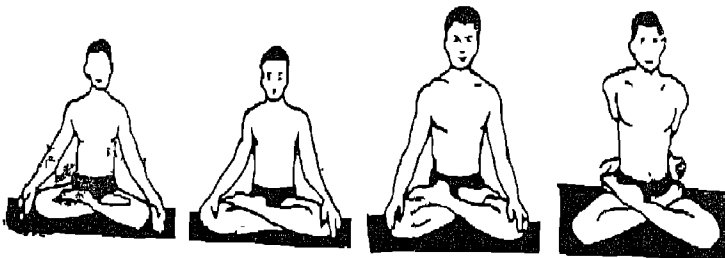
योग शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम

स्वामी देवानन्द सरस्वती

अध्यक्ष

शिवानन्द मठ एव योगासन संघ

कामरूपा, गौहाटी-10

भारतीय सभ्यता ससार की प्राचीनतम सभ्यताओ में से एक है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ भारतीय ऋषियो के मन में यह प्रश्न उठा—इस सृष्टि का उद्देश्य क्या है, मानव जीवन का लक्ष्य क्या है, सृष्टिकर्त्ता का स्वरूप क्या है ? इन समस्त ज्ञातव्य विषयो की जानकारी के लिए ऋषियों ने जो रास्ता निकाला उसका नाम योग है।

योग साधना का लक्ष्य चित वृत्तियो का निरोध है। यह उद्देश्य यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि नामक अष्ट योग क्रियाओं के क्रमबद्ध अभ्यास से पूरा होता है।

छात्र-छात्राओ तथा सामान्य व्यक्तियो के जीवन का लक्ष्य प्रधानत. शारीरिक एवं मानसिक प्रसन्नता एव उन्नति तक ही सीमित रहता है। इसलिए हठयोग की क्रियाएं छात्रा-छात्राओं के साथ ही समस्त मानव समाज के लिए उपकारी हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, नेति, धौति एवं वस्ति हठयोग की ये 6 क्रियाएं सब के लिए आवश्यक एव उपयोगी है।

विद्यालयों मे प्राय. 45 मिनट की कक्षाए लगती है। उनमे योगिक क्रियाओं को निम्नक्रम, अनुपात एव समय में सिखाया जा सकता है :

प्रार्थना	—	5 मिनट
सैद्धान्तिक वक्तव्य	—	10 ,,
आसन	—	15 ,,
प्राणायाम	—	5 ,,
ध्यान	—	5 ,,
विश्राम	—	5 ,,
कुल समय		45 मिनट

आजकल देखा जाता है कि प्राय· लोग कक्षाओं के आधार पर पाठ्यक्रम तैयार करते हैं। परन्तु हमारे विनम्र मत से योग पाठ्यक्रम उम्र के आधार पर तैयार किया जाना चाहिए। योग शिक्षा की दृष्टि से विद्यार्थियों को निम्न वर्गों मे बाटा जा सकता है·

1. 5 वर्ष से 7 वर्ष तक के विद्यार्थी।
2. 8 " 12 " " " "।
3. 13 " 25 " " " "।

(1)

(5 से 7 वर्ष तक)

प्रार्थना

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यम् करवावहै।
तेजस्विना वधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

वक्तव्य

योग शिक्षा से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में उपदेश।

आसन

नाम	बार	समय (मिनटों में)
1. पद्मासन	1	1
2. बद्ध पद्मासन	3	1
3. उत्थित पद्मासन	3	1
4. योगमुद्रा	6	2
5. पादांगुष्ठासन	3	2
6. अर्धचक्रासन	3	1
7. त्रिकोणासन	10	2
8. नाभि आसन	3	1
9. प्रलम्बी आसन	1	1
10. शवासन	1	3

कुल समय = 15 मिनट

प्राणायाम

पाश्चात्य प्राणायाम नं० 1, 2, 3, 4 प्रत्येक 1 मिनट
सहज अग्निसार 25 बार 1 मिनट
वमन धौति (कुंजल क्रिया) सप्ताह मे एक बार।

(2)
(8 से 12 वर्ष)

1. प्रार्थना — प्रथम भाग की तरह
2. वक्तव्य — ,,
3. आसन

नाम	बार	समय (मिनटों में)
1. भुजंगासन	3	1
2. शलभासन	3	1
3. अर्धचक्रासन	3	1
4. पादहस्तासन	2	1
5. पवनमुक्तासन	6	1
6. चतुष्कोणासन	3	1
7. कुम्भी आसन	10	1
8. गोमुखासन	1	1
9. पश्चिमोत्तानासन	1	1
10. धनुरासन	1	1
11. त्रिकोणासन	3	1
12 उष्ट्रासन	3	1
13. शवासन	1	3

कुल समय = 15 मिनट

प्राणायाम

पाश्चात्य प्राणायाम नं० 1, 2, 3, 4 प्रत्येक 1 मिनट
सहज अग्निसार 30 बार 1 मिनट।
वमन धौति (कुंजल क्रिया) सप्ताह मे एक दिन।

अतिरिक्त आसन (8 से 12 वर्ष के लिए)

उपर्युक्त आसनो के अलावा निम्न आसन सिखाए जा सकते हैं।

पर्वतासन, जानुशिरासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, कल्याण आसन, विभक्तासन, आकर्णधनुरासन, नौकासन, शकुनिआसन, काकासन, कन्दपीडासन, अर्धकूर्मासन, योनिआसन, भेकासन, वातायानासन, पादत्रिकोणासन, गरुड़ासन हस्तपादागुष्ठासन।

(3)
(13 से 25 वर्ष तक)

प्रार्थना तथा वक्तव्य 1 की तरह

आसन

नाम	बार	समय (मिनटों में)
1. सर्वांगासन	1	3
2. मत्स्यासन	1	1
3. भुजगासन	3	1
4. शलभासन	3	1
5. अर्द्धचक्रासन	3	1
6 पादहस्तासन	3	2
7. त्रिकोणासन	1	1
8. मयूरासन	1	1
9. गोमुखासन	1	1
10 सूर्यनमस्कार	1	1
11. शवासन	1	2

कुल समय = 15 मिनट

प्राणायाम

सहज प्राणायाम 1, 2, 3, 4, 5, 7, प्रत्येक 9 मिनट, सहज अग्निसार 50 बार।

वारिसार धौति या वस्त्र धौति सप्ताह मे एक बार।

अतिरिक्त आसन (13 से 25 वर्ष के लिए)

उपर्युक्त आसनो के बाद निम्न आसन सिखाए जा सकते हैं :

अगुष्ठासन, उपाधानासन, ओंकारासन, गोखिलासन, ग्रीवासन, त्रिभुजासन, वृश्चिकासन, हस्तपादागुष्ठासन, हस्तशीर्षासन, कन्दपीडासन, ब्राधासन, कर्णपीडासन, आशासन, नौलि, सूत्रनेति, सूर्यनमस्कार।

योगशिक्षा मे यौगिक क्रियाओ के साथ-साथ सात्विक आहार ग्रहण करने का उपदेश भी देना चाहिए। बिना

सात्विक आहार के संतुलित शारीरिक तथा मानसिक उन्नति नहीं होती। सात्विक आहार का अभिप्राय शुद्ध, ताजा, संतुलित शाकाहारी आहार से है। मांसाहारी भोजन यौगिक दृष्टिकोण से उत्तम नही माने जाते हैं। अत: हमें दैनिक भोजन मे दूध, दही, सब्जी, फल पर्याप्त मात्रा मे लेने चाहिएं। चावल, रोटी आदि भी बहुत अधिक मात्रा मे नहीं लेना चाहिए। घी, मक्खन, पनीर जैसे घनीभूत भोजन नहीं ग्रहण करने चाहिए। □

संदर्भ

सहज यौगिक व्यायाम (बगला, आसामी, हिन्दी, अग्रेजी)

विविध प्राणायाम एवं नेति, धौति (बंगला, अंग्रेजी)

ब्रह्मचर्य छात्र जीवन (बगला, आसामी, हिन्दी, अग्रेजी)

योग-विज्ञान (अग्रेजी)

योग से रोग निवारण (हिन्दी, अग्रेजी, बगला, आसामी, मराठी, स्पेनिश, मलयालम)

खाद्य नीति एवं शिशुपालन विधि (हिन्दी, अग्रेजी, असमिया, बंगाली)

ध्यान योग (बगला)

अरेंज राइट डायट फ़ार ह्यूमन बीइंग्स।

ये सभी पुस्तके संघ सस्थापक स्वामी शिवानन्द द्वारा लिखित एव उमाचल योगाश्रम, शिवानन्द मठ एव योगासन सघ, कामाख्या, गौहाटी-10 (आसाम) से प्रकाशित है।

योग शिक्षकों का प्रशिक्षण

श्रीकृष्ण वासुदेव व्यवहारे
राधा निवास, घटाली कालोनी
ठाणे-400602

विद्यार्थियों को सुसंस्कारित बनाने की दिशा में क्या किया जाए । इस बात पर गौर करे तो प्रतीत होता है कि इस संदर्भ में करने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा है। तब हमारा ध्यान सबसे पहले शिक्षकों की तरफ अनिवार्य रूप से पहुंच जाता है।

प्राचीन काल मे छात्र गुरु के पास रहकर शिक्षा पूरी करता था। गुरु गृह में रहने की वजह से उसका अध्ययन तो उत्तम ढग से पूरा होता ही था, किन्तु उत्तम संस्कारो को भी वह अनायास ही प्राप्त कर लेता था। गुरु गृह में रहकर विद्या संपादित कर लेने के बाद वह स्वगृह मे लौटकर माता-पिता तथा अन्य आदरणीय, श्रेष्ठ व्यक्तियों से भी ज्ञान अर्जित कर लेता था। किन्तु वर्तमान समय में छात्रों के अभिभावकों के पास अपने बालक की तरफ ध्यान देने के लिए पर्याप्त समय नही है। अतएव संस्कार निर्माण करने का भार अब स्वाभाविक रूप से शिक्षको पर आ पड़ा है। अत: करोड़ों बालकों का भविष्य अब शिक्षकों के सुपुर्द है। इस तथ्य को कोई नकार नही सकता ।

"पाठशाला के अनुशासनहीन छात्रो की समस्या किसी जादुई चमत्कार की भांति, केवल योगाभ्यास के जरिए हल हो सकी है।" यह कथन है ब्राजील के एक स्कूली अध्यापक का, जिसने अपना स्वानुभव उपर्युक्त शब्दों मे कैवल्यधाम के डॉ म ल. घरोटे जी के पास व्यक्त किया था, जिससे यह साबित होता है कि अनुशासनहीनता की तीव्र समस्या को हटाने के लिए जो अन्य उपाय मौजूद है उनमे से एक प्रभावी इलाज है "योगाभ्यास" ।

उपरोक्त घटना के द्वारा हमारा ध्यान इस दिशा की तरफ भी खिच जाता है कि विदेशी पाठशालाओ मे "योगाभ्यास" जैसे विषय को बाकायदा स्थान प्राप्त हो चुका है। इतना ही नही, वह अन्य विषयो के समान अध्यापन का भी विषय बन चुका है। मै स्वय अपने तजुर्बे के आधार पर बता रहा हू कि लदन के कौटी स्कूलो मे भी योगाभ्यास विधिवत सिखाया जाता है, खास तौर पर आसन, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि योगविद्या के अगों को काफी विचारपूर्वक और नियोजन सहित पद्धति से सिखाया जाता है, हालाकि इस बारे मे अधिक विस्तारपूर्वक जानकारी तो नही हासिल हो पाई है, पर वह तो खैर मंगवाकर मालूम भी की जा सकती है, निश्चय ही यह जानकारी हमारे लिए उद्बोधक सिद्ध होगी, इसमे जरा भी सन्देह नही है ।

यद्यपि विदेशी पाठशालाओ मे सिखाए जाने वाले योगाभ्यास के सदर्भ मे इस वक्त हमारे पास अधिक जानकारी नही है, परन्तु हमारे देश के मैसूर राज्य मे श्री रगपट्टण के हाई स्कूलों मे इस दिशा मे जो प्रयोग किए जा चुके हैं, उनकी जानकारी विस्तारपूर्वक रूप से उपलब्ध है। इस सदर्भ मे विशेष उल्लेखनीय प्रयोग है, मैसूर के महारानी कालेज के मानसशास्त्र विभाग के श्री पी. नटराज और श्री एम. जी. राधामणी द्वारा सपादित एक खास प्रयोग, जिसमे के. आर. एस. हाई स्कूल तथा श्री रगपट्टण हाई स्कूल के 21 लड़को और 20 लडकियो अर्थात् 41 छात्रो पर ध्यान धारणा के प्रयोग का निष्कर्ष निकाला गया, तथा इस निष्कर्ष तक पहुचने के लिए कुछ प्रयोग किए गए। ये सारे छात्र लगभग 8वी से 10वी कक्षाओ के थे। इस प्रायोगिक वर्ग के इन 41 छात्र-छात्राओ ने निरतर छ: महीनो तक ध्यान, धारणा का अभ्यास किया। इसी अवधि मे शेष नियत्रित वर्ग के 65 छात्रो ने किसी किस्म की कोई ध्यान धारणा नही की। प्रायोगिक वर्ग के जो 41 छात्र थे उनकी मानसशास्त्रीय जाच परीक्षा (Psychological Test) लेने पर यह सिद्ध हुआ कि, नियत्रित वर्ग के 65 छात्रो की तुलना मे इन 41 छात्रों की बुद्धिक्षमता (Intelligence) स्मरणशक्ति (Memory) और केन्द्रीकरण शक्ति (Concentration) तथा धारणाशक्ति (Comprehension) बहुत अधिक है तथा इन छात्रो मे काफी उल्लेखनीय प्रगति के लक्षण स्पष्ट है ।

इस प्रयोग द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि विद्यार्थियो के लिए जिन वस्तुओं की सख्त जरूरत है, वह सब योग के द्वारा सहज सभव है। किंतु केवल आकलन शक्ति,

केन्द्रीकरण शक्ति, स्मरणशक्ति इत्यादि की वृद्धि ही पर्याप्त नहीं।

विद्यार्थियो को सुसस्कारित बनाने की दिशा मे क्या किया जाए ? इस बात पर गौर करें तो प्रतीत होता है कि इस संदर्भ मे करने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला पडा है। तब अनायास ही हमारा ध्यान सबसे पहले शिक्षको की तरफ अनिवार्य रूप से पहुच जाता है।

प्राचीन काल मे छात्र गुरु के पास रहकर शिक्षा पूरी करता था, गुरुगृह में रहने की वजह से उसका अध्ययन तो उत्तम ढग से पूरा होता ही था, किंतु उत्तम सस्कारो को भी वह अनायास ही प्राप्त कर लेता था। गुरुगृह मे रहकर विद्या सपादित कर लेने के बाद वह स्वगृह मे लौटकर माता-पिता तथा अन्य आदरणीय श्रेष्ठ व्यक्तियो से भी ज्ञान अर्जित कर लेता था। किंतु वर्तमान समय मे छात्रों के अभिभावको के पास अपने बालकों की तरफ ध्यान देने के लिए पर्याप्त फुर्सत नही है। अतएव सस्कार निर्माण करने का भार अब स्वाभाविक रूप से शिक्षकों पर आ पडा है। अत: करोडो बालकों का भविष्य अब शिक्षकों के सुपुर्द है, इस तथ्य को कोई नकार नहीं सकता।

मगर शिक्षको की दृष्टि से यह तथ्य विचारणीय है कि कक्षा मे दिन-पर-दिन छात्रवृद्धि तेजी से हो रही है। छात्र सख्या के साथ-साथ अध्यापन हेतु विषयो की सख्या भी नित्य बढती जा रही है। शिक्षको के जिम्मे अन्य कार्य-भार भी समय-समय पर किया जाता है, जिससे उनके समय और कार्यशक्ति पर भी अवश्य असर होता है। परिणामस्वरूप वे स्वय ही उत्साहहीन होने लगते है। "अन्य कुछ नया ग्रहण करे" इतना उत्साह शेष नही रहता यह बात सत्य है, परन्तु राह ढूढना भी उतना ही अत्या-वश्यक बन चुका है।

जब भी किसी नवीन विषय के अध्यापन के बारे मे चर्चा होती है, तब कई किस्म की शकाएं प्रस्तुत की जाती हैं। उदाहरण के लिए, उस विषय की दैनिक जीवन मे उपयुक्तता क्या है ? उसे पढाए जाने पर कितना अधिक धन प्राप्त होगा ? कौन-सी सुविधाए प्राप्त होगी ? उसके बदले कौन-से पुराने विषय रद्द किए जाएगे ? अन्य विषयो के बारे में कहना मुश्किल है, किंतु "योगाभ्यास" को पाठ्यक्रम मे निर्धारित किए जाने के सन्दर्भ मे यह निश्चय-पूर्वक बतलाया जा सकता है कि दैनिक जीवन की अनेक समस्याओ का हल करने के लिए यह मददगार साबित हो सकता है। योग प्रशिक्षार्थियो को अच्छे ढंग से प्रशिक्षित किया जाए तो वे अवश्य ही मनःपूर्वक योगविद्या सिखाएंगे। स्वय भी योगसाधना नियमपूर्वक करेंगे। साथ ही अपने छात्रो को भी यह विषय हार्दिक रूप से सिखाएगे।

मेरा निजी अनुभव इस दिशा मे उल्लेखनीय है। विगत 8/9 वर्षों मे "ठाणे जिला परिषद" की ओर से तथा पिछले वर्ष से "ठाणे महानगर पालिका" की ओर से आयोजित योग प्रशिक्षण शिविर के मार्फत लगभग 600/700 शिक्षको को इस विषय का प्रशिक्षण देने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

इस बारे मे मेरा निजी अनुभव यह हैं कि केवल शासन का आदेश एव परिपत्रक आने की वजह से शिविर के पहले दिन नौकरी का ही एक अश जानकर शिक्षक लगभग नाखुशी से उपस्थित रहते थे। अनिच्छापूर्वक यह उपस्थिति स्पष्ट जान पडती थी। ठीक से अंदाज न लगा पाने के कारण, वे यह सोचकर चले आते हैं कि बात बन गई तो ठीक वरना डॉक्टरी सर्टिफिकेट से मुक्ति पा लेगे। किन्तु यदि पहले दिन से ही प्रशिक्षार्थियो को रजकता के माध्यम से विषय की उपयुक्तता से परिचित कराया जाए और प्रशिक्षण कालावधि मे अनिद्रा, अनुत्साह, अस्वास्थ्य, बदहजमी, बद्धकोष्ठता, वायुविकार, पित्तप्रकोप, भुलक्कड़-पन, आत्मविश्वास की कमी, हीन ग्रंथि वगैरह व्याधियो से जो समस्याए उत्पन्न होती है उनके बारे मे जानकारी दी जाए तो वे इन विषयो मे दिलचस्पी लेना शुरू कर देते है। इतना ही नहीं, वे पूरा पाठ्यक्रम नियत अवधि मे पूरा कर लेते हैं। यह परिवर्तन सीधे शिक्षको के ही माध्यम से हो पाता है।

अत: नवीन विषय को प्रारम्भ करने से पूर्व उस विषय से प्राप्त होने वाले लाभो की जानकारी देना बहुत जरूरी है। ऊपर वर्णित लाभ आर्थिक लाभ की अपेक्षा कही अधिक फायदेमंद साबित होते हैं, उचित पद्धति से योग-साधना करने पर ग्रहणशक्ति, आकलन शक्ति तथा स्मरण-शक्ति मे अवश्य वृद्धि होती है, यह बात ज्ञात कराना जरूरी है। नियमित रूप से एव योग्य पद्धति से यदि योगसाधना की जाए तो मानसिक कमजोरियो पर विजय प्राप्त होने

the transaction Until a marriageable age is attained by the betrothed children, it behooves the adults to make sure that their articles of trade are undamaged. They have developed toward this end religious beliefs in which the ancestors of the children keep close watch over them and violation of the sex code becomes not only an economic offense but a religious one as well Under customs which make sex a process greatly to be avoided and feared, sexual activity becomes reduced to sheer physical relationships which involve nothing of tenderness or compassion Viewed in this light, woman becomes a household drudge, fit only for kitchen work and childbearing Characteristically, female Manus adolescents look forward to marriage with fear and dread in anticipation of the humiliation of the sexual advances of the husband The society is highly puritanical with the males the dominating, superior and aggressive beings while the female is the frightened, frigid subordinate. The *sharing* of a "lovelife" is unknown. In Manus women, we may see the prototype of our own adults whose training has led them to regard sex as a fearful and horrid thing

We have spoken before of the maternal attitude of the Arapesh male *(187)* This attitude is closely associated with the belief that children are "born" as much by the father as by the mother Thus, after conception, the father must engage in sexual "work" since semen is regarded as essential for the proper growth of the embryo The father also joins the mother in her postpartum "lying-in" and in all ways actively assists in the development of the child The entire Arapesh culture revolves about the principle of *growth* placing all emphasis upon the development and maintenance of healthy bodies Betrothal takes place at an early age and the young girl goes to live with the little boy's people. There the two grow up together, living as brother and sister during the years prior to their marriage Consequently, ultimate sexual relations occur as a natural development of an affection of long standing It is primarily an *extension* of feelings already present and hence presents nothing of the traumatic experience that it is for the Manus woman or, upon occasion, that it is for women in our culture. Among the Arapesh, sex as

such, is but a process, similar in nature to feeding and training, necessary for the development of healthy individuals Consequently, it has little meaning in its own right

From these studies, we are led to the conclusion that sex as a problem is culturally determined, that it *may* be a warping and fearful experience as among the Manus, that it *may* serve a compensatory, substitutive function as among the Marquesans, or that it *may* take its place in society as the servant of the more important principle of adequate growth as among the Arapesh Sex becomes largely *what we make it* and carries no inherent forcefulness of its own It would seem clear that whatever attitude the *individual* in our culture may possess toward sex as well as the evaluation he places upon it is a direct outcome of the training he has received The attitude of defeatism with regard to the sex "problem" characteristic of many American adults may be seen for what it is—a refusal to face the fact combined with an emotional attempt to evade their own responsibilities. With regard to such sex training as we give, we are still in large measure, operating under antiquated beliefs and factually unacceptable opinion We have abundant evidence to indicate that as example, "boys will be boys" only when they are *trained* to be so, in fact, what constitutes "boyishness" in itself is a cultural and not a biological product [5]

We have seen that knowledge of the individual's sex gives us but partial information concerning his personality and his feelings of relationship with others. Depending upon the cultural norms, a given person may develop so-called "masculine" or "feminine" traits regardless of his biological sex In our culture, however, we have decided that the male should display a masculine aggressiveness while the female should be femininely passive We must realize that these behavior patterns are the product of our beliefs concerning the ways in which members of a given sex should behave and that they are not at all intimately

[5] For a complete and authoritative discussion of this entire question see *(232)*

related either to maleness or femaleness [6] This situation has been well described as follows The sexual identity of both male and female has been shown consistently through examinations of hermaphrodites (individuals whose external genitalia are so incompletely developed that their actual "sex" is not readily determinable) These examinations indicate that most hermaphrodites possess male gonads (sex glands) Since, however, the external sex organs often may more closely resemble female than male, they are commonly *reared* as women. Results of such training are highly enlightening Hermaphrodites having male gonads and *raised as males* showed sex urges and behavior typically masculine while others, also having the male gonads, but *reared as females* lived and behaved as such showing characteristically feminine sexual drives and behavior Some of the latter were married and played the normal sex role culturally expected of them *(238,* p 159) Such evidence makes it impossible to conceive of the human sex drive as being completely delimited by the biological sex of the organism and forces the conclusion that the sex drive and its resulting expression in behavior may greatly be modified by psychological and cultural forces If it appears that the concept of the social origin of sex differences in personality traits is being unduly labored, remember that we have suffered the burden of fallacy for hundreds of years and that quite recently, an "authority" who should have known much better wrote of the "irrevocable" differences in temperament between boys and girls *(45)* Traditional beliefs die hard and we must always beware mistaking lip service to them for the practice of them

It is exceedingly easy to give lectures pointing out what *ought*

[6] "The world is not divided into sheep and goats Not all things are black nor are all things white It is a fundamental of taxonomy that nature rarely deals with discrete categories *Only the human mind invents categories and tries to force fact into separated pigeonholes* The living world is a continuum in each and every one of its aspects The sooner we learn this concerning human sexual behavior the sooner we shall reach a sound understanding of the realities of sex " (Italics mine) From A Kinsey, W Pomeroy, and C Martin, *Sexual Behavior in the Human Male,* Philadelphia, Saunders, 1948, p 639 Reproduced by permission of the authors and the publisher

to be done and equally as easy to agree with them but it is most difficult to produce any great effect by sheer talking about things Since we learn not by talk, but by *practice*, it would be well to present what authorities in child guidance hold to be sane practices in sex education. It must be borne in mind, however, that, when all the talking and theorizing is done, the only truly efficient way by which parents can teach their children is through example. They may lecture, they may preach, they may verbalize in the best oratorical fashion but unless their *words* carry the conviction of personal practice they may be sure their children will find them out. Whether or not they like it, they *cannot avoid* giving sex training in one form or another *(54)* Even though they *say* nothing at all concerning sex functions, the child will pick up negative *impressions* toward sex from an unspoken, evasive attitude Strict and severe toilet training may also induce such impressions because of the proximity of genital and excretory mechanisms It has also been suggested that the punishing of the child for being curious about the sex organs may lead to feelings of guilt and fear concerning them *(92)* Every parent knows how extremely sensitive the child is to tiny cues to unverbalized parental attitudes, the child seeming to "sense" how the parent feels about things It should not, therefore, be necessary to point out that this empathic relationship will function with as equal efficiency in sex areas as in others.

As was indicated earlier in this chapter, sex education involves much more than the mere imparting of the so-called "facts of life" The whole scope of living with a member of the opposite sex is included Since our old ways of false modesty and overconcern so obviously have failed, it would appear that new standards must be applied Such "rules" are, and have been, available; it has been only our usual procedure of doing things as they always have been done that has prevented their application Here again, we find the problem to be one of removing ourselves from the influences of the "dead hand of the past" and of regarding sex training in the realistic light of modern knowledge *(54)*

We are told that while there is agreement among authorities

that the best place for sex education is the home, that since the home obviously is not doing the job, the schools will have to take over (52, p 75) Possibly this is a necessary expedient but there is no logical reason why such training may not and should not be as much the task of parents as is the development of the management of sphincter control and the learning of "proper" eating habits Compromises are possible of course, and have been used successfully These utilize parent consultants, advisers and group discussion techniques *(202)* Schools, too, *can* do the job alone as the experiences of the Pittsburgh program attest In this city, there has been for the past six years, a separate course in the health department of the junior and senior high schools devoted to a series of frank lectures given by specially trained teachers to segregated groups of students The course concludes with a talk by a woman physician to the girls and by a man physician to the boys after which each medical person answers unsigned questions turned in by the pupils taking the course The authors of this program expressed "surprise" that 98 percent of the parents involved consented to permit their children to take the course in sex education *(208)* From what we know of the extent to which parents evade this task themselves, it is an excellent bet that the great majority of these parents were most relieved to have the school take over for them

If adults are to do the job of sex education which their responsibilities as parents have placed upon them, they must first of all become *competent* to teach Such competence involves infinitely more than mere factual information. Parents must become acquainted with not only the biological aspects but also the psychological, social and ethical implications of sex behavior While such informational necessity may appear as a severe burden, it must be recognized that it is highly probable that feeling that the task is too great in large measure is an expression of an inner resentment against *thinking* in an area where heretofore only *emotionality* has been dominant Thus, a primary task will be the reeducation of the parent himself He must disabuse himself of this tendency to emotionalize about sex, put his new brain functions to work and set about to learn

his duties with no more affective interference than he finds in the task of learning new duties on his job The maternal parent (most of the parental education in our group of students had been given by the mother) must learn to approach her discussion with a no more emotional attitude than she took toward teaching the child how to drink from a cup or to eat with a spoon For an adult to despair about his ability to learn to think of sex in a rational way is for him to admit that his old brain governs his behavior to an unwarranted extent He is admitting that his emotions control him and that, actually, he *does not want to change* Whenever a person says that he cannot change his attitudes, beliefs or way of life he is proclaiming to the world that fundamentally, he prefers himself as he is

Assuming that a parent is willing to assume his responsibility in this matter, that he has made an honest and conscientious attempt to clear his own thinking of the hobgoblins of fear and superstition, what may he do? First of all, he must accept as a guiding principle that he will *answer his child's questions completely, honestly and in simple language that the child can understand* Remember, if you do not answer him, some one else will and there is always the danger that this "someone else" will make use of his answer as an opportunity for a vicarious thrill. In answering the child's questions, a scientific vocabulary often is of value *(98)*[7] Remember, however, that mere knowledge of technical terms alone will not suffice You must be able to speak in terms the child can understand—a by no means impossible task The efficient teacher in any area speaks in terms his audience can comprehend Remember too, that a direct and honest answer is the best antidote for curiosity.

We know something of the ages at which sex curiosity appears Usually, the first questions are asked between the ages of six and nine *(149)* At these ages a direct answer commonly suffices Hence the answer to the query "Where do babies come from" often adequately is handled by a direct, "From the inside of mother's body" and if the child follows up with: "How did the baby get in there?" he usually is satisfied with "Daddy

[7] Competent and readable information may be found in *(74)*

planted a seed" (*144*, p 183). Whatever happens, these answers must be given without an air of mysterious secrecy, and the more simple, the more direct your answers, the better Beware lengthy dissertations on birds, bees and flowers Meet these early questions squarely and honestly and the chances are strong that your answer will be accepted as readily as an explanation of "Why does the wind blow," or "Why do rabbits wiggle their noses"

It is not, of course, necessary to wait until the child queries to begin his sex education In so far as we are aware, no harm is done by "premature" explanation While the child may not understand entirely and therefore voluntarily may bring up the topic at a later date, it is far better to instruct him too early than too late If the child shows awareness of the birth of a baby either in the family or the neighborhood, he is ready for the first lesson whether or not he asks directly Also, any indications of interest in physical differences between the sexes should be dealt with as they arise. While no one can say with any accuracy that sex education for all children should be given at any one specific time, the observant parent will be able to tell about when his child is ready. Seize the moment and don't be afraid Be simple, be accurate!

Let the child also mingle as early as possible with others of his general age group of both sexes His ability to meet freely and easily with members of the sex opposite to his own should begin as soon as feasible Keep in mind that nothing that can happen as the result of sex education and training for the development of efficient heterosexual interests can be as bad as the failure of such interests to develop. Maintain a smooth progression of information, keyed to the child's ability to understand, and you will have done all that can be asked of the parent regarding his obligation to the future marital happiness of his child

Along with the sex information given, let the child experience the growth of life from seed to adult through the growing of plants and flowers. A grain of corn planted in rich earth in a glass

container may give valuable leads both to you and to your offspring. Let him also observe the preparation for motherhood of household pets, whether they be rats, rabbits, cats, dogs, or whatever. The important thing is that it should be *easy* for your child to query of you. This ease will be a direct function of your own objectivity and freedom from emotionality. His confidence will be obtained through your understanding attitude and willingness to speak.

So far, we have spoken primarily of the maternal role only. Probably the child will not inquire into the role of the father until after his initial questioning. When he does, or before he does, if in your judgment he is capable of comprehending, indicate to him that the father plays a part of equal importance and that for growth and development, most forms of life must have both a father and a mother. Tell him how the seed for babies, the sperm, carried in a liquid called semen, is deposited in the mother's body through the father's penis which is an organ made principally for that purpose. Within the mother's body there is a special cavity, the uterus, which carries and protects the baby as it grows. Indicate also that just as the grain of corn had to have protection, good earth, sunlight, etc., so too the growing baby must have the best of care. Consequently, it is kept within the mother's body under the best of surroundings until it is old and strong enough to live alone in the air (*158*, pp. 178 f.). Within the ability of the child to comprehend describe the development of human life to whatever extent is necessary *completely* to meet his curiosity of the moment. Be prepared always for a repeat performance in complete detail.

In general, the questions asked by the child will fall under the following headings *(111)*:

1. Where babies come from.
2. Interest in the arrival of another baby in the family.
3. How the baby grows within the mother's body.
4. How the baby is born.

5. The sex organs and their function
6. Physical differences between boys and girls
7. The role of the father in reproduction
8. Relationships between marriage and the birth of a baby[8]

In so far as males in our culture are concerned, a peak in sex play (and presumably interest) is reached at ages from ten to twelve By this time the child should have fairly complete information and no youngster should be permitted to enter puberty without adequate sex knowledge It is of great importance that this knowledge should have been given gradually in terms of the child's comprehension There is ample evidence to indicate that the gradual, matter-of-fact dissemination of sex information infinitely is to be preferred to sudden exposés *(149)*

More or less coincidental with this maximum in sex play will be the discovery of strongly pleasurable sensations arising from the manipulation of the genitals In the past a tremendous tumult has been made about autoerotic (self-loving) practices with masturbation being assigned as a cause of disease, insanity, feeble-mindedness, or any other dread occurrence for which actual causes were unknown While we now can say that there is no evidence whatsoever to indicate that masturbation itself is the *cause* of any form of illness, nevertheless altogether too many adults look upon the behavior with the fear and loathing indicated by the application of such terms as "self-abuse," "secret" or "solitary vice," etc Consequently, the reaction of the parent to the discovery of autoerotic practices in the child or adolescent much too commonly is conditioned by the fallacious beliefs the parent has inherited from his own training. Despite the evidence that masturbation *as such* has no demonstrably harmful effect upon the organism, many parents are certain that the practice may make their offspring "foolish" and in their

[8] Answers to these questions of demonstrated satisfactoriness to children may be found in *(111)*, and *Your Own Story*, Minneapolis, Univ Minnesota Press Information written so that the preadolescent may understand is available in K de Schweinitz, *Growing Up*, rev ed , New York, Macmillan, 1935.

dread, resort to punishment and threat as a means of control[9] Throughout the ages the use of fear as a means of controlling human behavior has proved itself to be of exceedingly little value and its use is equally ineffective here Individuals who are scolded and threatened are just as likely to continue the practice as are those who are undiscovered *(149)* In this area too, there is real need for the replacing of emotional by rational thinking.

In the first place, the evidence for the universality of the practice is irrefutable. Estimates obtained from both questionnaires and personal interviews indicate that conservatively speaking, 70 percent of males and 40 percent of females indulge in masturbation *(232)* The extreme statement is that *all* men and three-quarters of women admit to autoerotic practices (*260*, p 184) In terms of its frequency of occurrence, one must admit that the behavior is "normal," particularly since we know that the essential universality of masturbation among youthful males has been consistent for the past fifty years[10] If, however, normality is held to involve the concepts of "advantageousness" and "disadvantageousness" then, whether or not the practice may be termed as "normal" will depend upon the attitude of the individual toward it. If he regards his autoeroticism as "sinful" or "dangerous" the behavior must, in terms of the latter criteria, be classed as "abnormal" However, if the practice does not carry any guilt feelings, while we well may question its "advantageousness," we must also admit its harmlessness In the light of the usual parental reaction however, and in terms of the usual training, it must be admitted that in all probability any given individual will feel guilty about masturbating since the evidence indicates that 80 percent of our children have been threatened seriously concerning the aftermath of the practice *(125)* Furthermore, studies indicate that from 62 percent to 93 percent

[9] One must beware of the mere paying of lip service to modern knowledge It is much too easy to *speak* in terms of the essential harmlessness of masturbation *per se,* while *implying* that nevertheless dire things may occur as a result of the practice Currently, a writer in the area of Mental Hygiene although saying that no harm results from the activity itself manages to give the impression that prostate disorders may thereby be caused and speaks direly of schizophrenia (*72*, pp 234-235)

[10] A Kinsey, *et al*, *op cit*, p 394

of our male college students believe that masturbation leads to harmful consequences *(83, 212)* Characteristically, those adults who were threatened as children now possess strong guilt and anxiety feelings *(149)* Actually, the only harm resulting from masturbation is caused completely by guilt feelings, aroused by misinformation *(63)*

As we have seen throughout our entire discussion, emotion, as a way of life leads only into difficulty. Therefore, if man is to function as the rational creature he prides himself upon being, he must regard this aspect of sexual behavior realistically If we consider the question seriously, attempting to maintain new brain functions and to keep old brain activity at a minimum, we will discover that masturbation is largely a cultural phenomenon with us Whenever normal sexual intercourse socially is forbidden beyond the time when the organism biologically is able, we may expect the development of autoerotic practices. In our society, the rather typical picture is one in which the attainment of emotional maturity is delayed because of a form of overprotection by the family, the child being kept emotionally dependent upon the parents beyond the time when emotional independence should have appeared Our tendency to insist upon celibacy until economic independence has been attained and to prolong academic education with an insistence upon "bachelor" status serves to postpone marriage and hence the expression of socially acceptable heterosexual activity Consequently, individuals in our culture reach sexual maturity before they are enabled permissively to undertake normal sexual relationships This lack of opportunity for heterosexual relations at the overt level, reflects itself in masturbation *(232)* Hence, in one sense, it is unfair to assign blame to the practice inasmuch as we make no other provision for sexual expression Furthermore to speak of "will power" or "gentlemanly" or "ladylike" behavior is to engage in useless verbalisms as all of us can recall Since, too, punishment and threat lead but to anxiety and *does not prevent* we have recourse only to understanding, tolerance and realistic treatment.

In so far as can be determined, the continued practice of mas-

turbation over a long period of time may make for one possibility and one probability The possibility is that if autoeroticism is accompanied by an active fantasy of actual intercourse, it *may*, in the male, lead to the habit of reaching the sexual climax (orgasm) so rapidly (ejaculato precox) that satisfactory sexual relationships in marriage may be impaired The continuous practice in the female may likewise lead to a dependence upon the stimulation of the *external* genitalia for sexual satisfaction Inasmuch as the lining of the vagina principally is stimulated during actual intercourse, a woman who has trained herself sexually to respond to the manipulation of the clitoris and its intimate areas alone, may find normal relationships unsatisfactory However, these are scarcely insurmountable difficulties as we will see in the next chapter

The "probability" mentioned above is much more serious although it occurs only under special conditions These conditions are any which may lead to guilt and anxiety feelings regarding the practice As we have seen, the two great factors in inducing these feelings are punishment and threat Thus, the child or adolescent who is trained in the expectation of "loss of manhood," "insanity," "glandular imbalance," "foolishness" or any of the chimeras human imagination has conjured up to frighten him out of the practice, may easily develop strong feelings of worthlessness, helplessness and isolation particularly, if as is commonly the case, he continues the practice despite the threat That such feelings of personal devaluation may predispose him to any of the "one-way solutions" we have discussed should be evident It is highly important to recognize however, that it is *not* masturbation as such that is causative here but rather the *attitude* the individual takes toward it Since the attitude of the child will in large measure be a reflection of that of the parents, it is imperative that we adults cease to *fear* and come to *know*

The same attitude of realistic understanding may be applied to the "problem" of masturbation as was taken toward sex education itself Feelings of shock, horror or disgust must be carefully controlled and the practice discussed in much the same

way as one would talk about an illness that is not to be desired but is in no way shocking The approach may be made that the behavior while natural enough, nevertheless is more typical of the child than of the "grownup" Recognize that usually the habit disappears as more and more of the individual's time and energy is spent in activities outside of himself and that this emancipation from the self can be augmented by the availability of recreational sports and activities Consequently, encourage the adolescent to engage in games and sports with others Fortunately, most growing youngsters will need no encouragement in this area but for the occasional one who may, obtain memberships in organizations whose activities center around healthy, recreational diversions Regardless of what is done, one must expect occasional relapses and these, if detected, *must not be* opportunities for recrimination or blame Above all, do not *spy* on the youngster in an effort to discover how well your treatment is "working" Show him *by your behavior* the meaning of trust and confidence Remember, *nothing* that can happen as the result of the development of normal heterosexual interests can be as bad as their *failure* to develop To illustrate

The inner turmoil of a son of an unusually successful father finally drove the boy to ask for help Since his early 'teens, he had actively engaged in homosexual activities and now, as he was approaching his professional training, he began to recognize, and to be disturbed about, the possibilities of exposure.

Discussion of his life in a permissive and accepting atmosphere, revealed a somewhat common history in which his training had been left largely to a socially ambitious mother and an older sister because of the demanding nature of his father's career Further, the life plan for the son was well established by a rather complacent family expectancy Several attempts to indicate that there were other vocational areas of interest to him met with calm but final refusal, usually taking of the form of the paternal statement "Yes, that is a good thing, but it's not for you, son" This planning of his life combined with the sheltering environment of a feminine-oriented home, developed a tremendous amount of father-hostility which even now was unknown to him His reaction to it, how-

ever, was expressed in the guise of poor academic work (despite great ability) and in his homosexual episodes It was also significant that these sexual activities occurred primarily after an emotional upset involving some form of frustration They were ways of "striking back" at an essentially domineering father. Actually, the only father-son contacts within the memory of the boy were those revolving about plans for his professional future The fact that exposure would wreck father and son alike while overtly feared, was inwardly desired

It may help also to recall *your own* experiences and feelings as *you* were going through this phase of life. Often we can profit by the errors made upon us if we are willing to remember our own youth—although most of us forget

This parental approval and encouragement of activities should carry over into those involving heterosexual contacts as such The developing individual needs a wide range of satisfactions and pleasures Since restriction and protection are known *not* to be effective, it may well be time to try an atmosphere of permissiveness with regard to the heterosexual activities of the adolescent The permitting of the young person to choose his own friends of either sex, to make the decision concerning with whom he shall or shall not "go," and to have a determining voice in his own social conduct conceivably could make for better adjustment in the long run At least, the youth will have obtained some practice in the assumption of responsibility for his behavior and at the worst, his acts will in all probability be no worse than they would have been were his behavior continuously dominated and directed by parental control It is well known that sexual experimentation frequently occurs even when the parents are making strong efforts and using strict discipline to prevent it Further, in the case of severe parental interference, the youth may overreact to discipline and consequently go farther than ordinarily he would have done in an effort to "show" his family *(149)*

Another of the many responsibilities of the home to the youth is the preparation of the young person for marriage This begins, of course, with the gradual introduction of a matter-of-fact atti-

tude toward sex and sex functions. This attitude is then continued as the youth matures and leads to the development of healthy reactions to members of the opposite sex. It would seem to be clear that such wholesome and desirable attitudes can grow only under conditions where emotionality, both sentimental and fearful, is at a minimum and where the parents are able to view *all* aspects of life in rational, realistic perspective. Remember, no organism *learns* adequately when all possibilities of error have been removed from the situation. Let the young person profit by his mistakes and regard these errors as training in the estimation of character and values. Supervise his behavior, help him when you can and when he asks, however clumsy his approach to a problem may be and remember that "puppy love" thrives on denial. It is wise also to ask yourself how may the youth recognize the "real thing" if he has had no experience with early and temporary attachments to those of the opposite sex? Better to have him composing sonnets and refusing food at fifteen because of his love for a feminine age mate, regardless of the "side of the tracks" from which she comes, than to have him rush helter-skelter, into marriage at twenty-one with the first girl who is "sweet" to him. In any event, you cannot live his life for him and he will be infinitely better off if you do not attempt to relive your own life in his.

9. COURTSHIP AND MARRIAGE

Let me not to the marriage of true minds
Admit impediments love is not love
Which alters when it alteration finds
—William Shakespeare, *Sonnets*

WE HAVE seen that the adult is in large measure the person the child has been trained to be The responsibility for adequate development looms large in the lives of parents. It is their duty to so rear the child that he will be able to meet and to cope with the main problems of life Sequentially to a desirable and realistic attitude toward sex is the development of sensible, factual and workable outlooks upon the mutual meeting of life called marriage That parents may do much to promote the future marital welfare of society is a truism but it is equally true that in general, they have shirked their task Despite the author of *The Anatomy of Melancholy* to the contrary, neither marriages *nor* matches are "made in Heaven," a happy married life is the joint product of two human beings working together toward a common goal and is a function of down to earth, realistic give and take Happiness in marriage is not a divine but a personal responsibility, neither God nor man can, in overnight fashion, change you from the person you have been trained to be. There is a direct relation between the quality of the marriage and the effectiveness of premarital preparation (232, p. 190)

Marriage, in one form or another, is common to all societies. Consequently, the family is the basis upon which the culture is built In our country, the family is composed of a lawfully wedded pair, a man and a woman and their offspring While earlier sociologists spoke of the childless couple as an incomplete family, the incidence of such has become so great that we may now consider that a family is constituted by the marriage

of a man and woman whether or not the union produces children (72)

However regarded, it is unquestionable that in our culture the family has undergone great changes and, in all probability, will undergo still more. This factor of change in the functions of the family has led some Prophets of Doom to insist that the modern American family is disintegrating and that we are en route to a family-less, marriage-less and free-love culture Such pessimism is quite unwarranted. Only he who insists that the *status quo* must forever be maintained will interpret *change* as destruction Fear of the different-from-what-has-been is but the wailing of the emotionally infantile who are frightened lest they lose the protection offered them by their mother surrogate—unchanging routine

There can, of course, be no denying that, when measured in terms of the past, the modern family has lost in unity While most families still remain together throughout the lives of the individuals involved, an unduly large number do break up This means only that too many couples, fundamentally incompatible, get married Regardless of the legal reason given, the suspicion remains strong that most separations and divorces have their basis in clashes revolving about oppositions in basic attitudes and personality traits, that family disunity arises primarily out of sheer inability to get along with a spouse We will see later that incompatibility in marriage is principally the result of behavior dictated by old brain wishfulness growing out of our emotional insistence that love be something apart from reality

In like manner, it is obvious that many of the functions of the family have been lost No longer is the family (or the home) the center of the economic, religious, educational and recreational lives of its residents In large part, these functions have been taken over by the factory, the church, the school and by commercialized amusement centers Since, however, broad experience is a factor in good adjustment, the net loss is not great inasmuch as our economic, religious, educational and recreational institutions permit for infinitely more varied experiences than the individual could hope to obtain within the confines of the

home Further, as we shall see, what happens to the individual within these extra-home institutions is largely a function of what has already happened to him within the home itself The functions the home still retains quite overshadow in importance those prerogatives lost through our progressive urbanization and industrialization Moan over the loss of past grandeur though we may, if we wish to be effective we are forced to live with the present and to prepare for the future

Whatever may have been lost, the family remains *the* social institution designed above all others to regulate sex and to give emotional value to it, to raise children in an intelligently affectionate atmosphere, to train the child in the socially approved ways of behaving and to prepare him for his own marital life (226) This would appear task enough without bewailing areas of lost influence. If each and every family in America competently and thoroughly fulfilled these responsibilities, we would find, within one generation, that delinquency, divorce and crime markedly would be reduced So, rather than continuously to cry, "The home has lost its meaning," let us attempt honestly to do the job society has assigned to us As a people, one suspects that we are much too skilled in concocting alibis and too little trained in assuming our obligations

Whether considered socially or individually, the home possesses the most important function of all, that of training the individual to meet life adequately Since the home is the first and hence most fundamental situation in which "face-to-face," intimate interpersonal relations are established, it constitutes a genuine primary school for techniques of adjustment Because of the extreme interdependence that exists between the various family members, the framework is erected for the future behavior of the individual in social living This is why no factory or job-training program can make a willing worker out of a person who has developed within the home the expectation that others will assume his responsibilities for him Likewise, no church or program of religious education can instill religious beliefs and attitudes in the individual who has been taught at home (usually through parental *example* rather than precept)

that religion is a futile mixture of hypocrisy and superstition No school or educative experience can create a joy in learning in the person in whose home the school was regarded as a place that relieves the parents of responsibility for certain hours of the day and is operated by ineffectual, weak and futile personalities who teach only because they are unable to do anything else Although the actual instruction for the economic, religious and educational lives of people has been removed from the home, the responsibility yet remains for the adequate and socially desirable *preparation* for this instruction To feel that because some has been taken away, all is lost, is childishly to insist that if we cannot pitch, there will be no ball game

Socially also, much remains for the home to do First of all, the home is the social institution of choice for the perpetuation of the species As we have seen, the sex urge is only Nature's device for the guaranteeing of this process, and, when it is regarded in any realistic light, is no more "troublesome" than hunger or thirst. The home is also the transmitter, as was implied above, of social heritage It is within the home that the functional aspects of living with others should be learned Since man possesses language, he can "telescope" time in the sense that he can bring, verbally, the past and the future into the present Through the operation of this "time-binding" process, the heritage of the past can be transmitted to future generations Ultimately, the home is the proving ground for living with others, in it the future socialization of the individual is made or broken. It is within the home environment that the requisite give and take of genuine social effectiveness is developed or aborted

The realities of the responsibilities of the home recently have been structured The good home or family was found to be one in which

1. Each family member had his individual role to play and his own responsibilities to meet
2. Each member placed the family itself above his own desires

3 The family itself provided means for its members to satisfy their interests and needs
4. The family was moving toward a known and anticipated goal toward which each member actively was working (32)

Further, as an indication of the importance for society of the good family, its functions are held to be

1 To provide ways by which its members can cope with their basic physical needs and to make possible the attainment of security and belongingness feelings.
2. To find in marriage a continuing relationship between spouses in which each may fulfill his affectionate strivings
3 To have and to *raise* healthy children
4 To foster the kind of personal development that makes for the continuance of the democratic way of life
5 To maintain the desirable aspects of cultural traditions from generation to generation
6 To work out solutions between the demands made upon the individual and his ability to meet them
7 In terms of social sanction, to work out cooperative living and vocational patterns appropriate to the needs, interests and abilities of the family members (32)

It is apparent that these tasks set for the home are answer enough to anyone who feels that the home, as a social institution, has become a meaningless force Its social responsibilities are amply sufficient to make the family a lifetime job for all of its members

In the life of the individual, the home is the primary institution Within its confines his life attitudes are developed and stabilized By and large, the individual becomes, for good or ill, what the home has trained him to be Just as the attitude the adult possesses toward sex is a function of the training he has received from his parents, so too in large part his marital success is conditioned by the preparation he has been given within the

home It becomes imperative then, that young adults become acquainted with modern thought in this life area and that they regard the entire courtship-marriage-parenthood galaxy in the light of rational, realistic knowledge Let us set to the task therefore, of describing the various aspects of the marital life as modern search into the area reveals them.

In our country, marriages are based on love. At least the answer, "Because we were in love" will be most often received to the question "Why did you get married?" However, other factors may be involved We have no provision in America for marriages of convenience although actually many legal matings occur because of the social or monetary advantages the union may bring Hence, although "love" is the reason commonly given, other factors are found such as companionship, desire for a home and children, adventure and romance, escape from unhappy situations, the search for sympathy, conquest, social expectation, sexual attraction, social status and security (*74*) Any given individual could add to this reasons of his own but these appear to be the principal bases upon which our marriages are built A survey of the reasons for marrying made upon over four hundred young women in our country revealed that companionship was given first place, a home of one's own second, while the desire for children and romantic love tied for third Other factors, such as social and economic pressures, escape, loneliness, etc , followed (*74*)

While actual reasons may vary, we tend to regard marriage as the culmination of a freely made choice of mate based upon romance. Arising out of the chivalry of the Middle Ages, romantic love has come to be regarded as fundamental to successful monogamous marriage. Here again, we find the subordination of rational activities to emotional tradition in that the voyage begun in rose-scented moonlight often breaks up among the billows of soapsuds to come Since, however, part of our cultural heritage is that marriages are based upon romantic love, an examination of its features is in order The following characteristics of romantic love have been described (1) mutual physical attraction, (2) male dominance in courtship, and coyly passive

acceptance by the female, (3) strong feelings that the attraction is permanent, (4) an idealizing of personal characteristics coupled with a refusal to consider faults or deficiencies and (5) discomfort of the lovers when apart or when anything occurs to prevent the romance from continuing (*274*). This rather shaky support for permanent structure has found consistent acceptance in our culture and is the recognizably common basis for much of the output of Hollywood. If such romantic productions did not seem "real" to the mass of our populace, relatively few would appear. The success of the usual "boy meets girl" movie, however, is strong indication that this sentimentalizing of the love relationship falls into line with the beliefs of our movie-going public. Since the director can cry "Cut!" immediately after the pictured wedding of the hero and heroine, the illusion that "love conquers all" can be maintained, the Cinderella story told over and over again and stardust continuously cast into the eyes of our youth. The futures of marriages would be infinitely better assured if they were begun on a sound rather than a sentimental basis. This would in no way destroy the thrills of romantic love any more than a knowledge of the habits of the quarry destroys the thrills of fishing. Rather, the game is improved.

That romantic love is the most desirable basis for marriage is questionable. It is always doubtful that make-believe and wishfulness should be permitted to replace actuality. If then, we hold that the courtship period is one which should prepare the future partners for a happy and harmonious life, we must demand that the needs of such preparation be met. These needs center about the necessity for youth to become acquainted with sufficient members of the opposite sex that he may have some freedom of choice in the selection of a mate. With our increasing urbanization, this freedom has been curtailed until now youth commonly is limited to agemates who happen to live near them. That greater opportunity for mate selection be made available, one authority has suggested: that more initiative be taken by girls in courting, that all restraint be removed from feminine employment so that the woman would not be entirely dependent

upon masculine economic independence, that arrangements be made for greater circulation between groups of young people so the individual may have more varied experience with other-sexed youth, and that premarital counseling and advisement centers be established for the guidance of youth *(84)* There is no reason, other than tradition, why the girl should not be as aggressive as the boy in courtship Nor is there any logical justification for the insistence that the boy be the sole provider for the family It is hardly rational to continue any traditional practice just because it is traditional and for no other reason. Life possesses enough frustrations at its best without man adding to them unnecessarily It is known that the passivity in courtship forced upon the woman by social custom augments her frustrational load She needs the activity of pursuit now limited to the male *(188)*

Further, "love" that is not *love*, is infatuation The differences between love and infatuation seem to be these.

1. Love is slow in development, it is steady and constant.
   Infatuation is quick, violent, forceful.
2. Love gives rise to a "feeling of oneness" and therefore limits itself to one person at a time.
   Infatuation implies that each infatuated pair serves as a source of gratification for the other, hence persons may be infatuated severally.
3. Love tends to increase security feelings
   Infatuation gives rise to insecurity feelings
4. Love and jealousy are antagonistic.
   Infatuation and jealousy are interdependent
5. Love is "you-oriented"
   Infatuation is "I-oriented"
6. Love can wait.
   Infatuation cannot.
7. Love makes for duration, growth, responsible living
   Infatuation makes for sudden change, turbulence, reasonless behavior *(27)*

It would appear then, that it is possible to "tell" when the real thing comes along. Obviously however, the emphasis in our culture is largely upon infatuation with its concurrent romantic and Cinderella motifs. We tend, as a people, to revere the superficial, to remain emotionally childish and continuously to mistake pyrites for gold. It is, however, relatively easy to demonstrate that this condition need not be; it is necessary only that we apply what we know; that we engage in *action* at the realistic level and cease to place so much trust in a faith born of wishfulness. Toward this end, then, let us see what can be done better to guarantee marital success.

It is axiomatic that the broader one's experience has been in a given area, the more effectively can he deal with problems arising out of it. The coping with the interpersonal relationships of matrimony involves no exception to this statement. Theoretically, we have ways permitting for the premarital experiences requisite to the discovery of the mate, i.e., our common "dating" practices. However, the function of dating behavior is served only when there is both freedom and opportunity for the practices to occur. If dating is curtailed because of either parental disapproval or the unavailability of sufficient members of the opposite sex, the individual suffers and the probable success of his ultimate marriage becomes proportionately unfavorable. Opportunity for dating practices in the absence of strict parental control are therefore imperative. Here, as elsewhere, the smothering influence of the "Mom" is lethal, psychologically, to future generations *(171, 247, 272)*. It is only common sense that the youth who has had dating experience with twenty-odd members of the opposite sex and has "gone steady" with two or three will be able to select a life partner with whom he will be compatible. The young person whose heterosexual acquaintances have been limited and selected by fearful and rigid parents, however, enters into marriage with so little real knowledge that only unhappiness can result. Only through dating a variety of age mates can the young person develop the skills and confidence necessary for efficient social adjustments. When this youth enters

courtship as such, he brings a background of experience with him and should be able to make a better choice *(74)*

The use of premarital counseling services is fundamentally good, sound sense Much is now known of the factors making for a happy marriage and to neglect them is to take unnecessary chances with future happiness One thing is certain, the persons who make use of these services may rest assured that they have done everything humanly possible to be certain that their marriage is off to the best conceivable start The desirability of getting off on the right foot is sufficiently well recognized that no comment is necessary

Another fallacy in romantic love lies in the assumption that love is something sudden, something unrecognizable until it strikes, something one intuitively *knows* This is not true Love is learned behavior, when the young adult falls in love with another, he commonly follows out a destiny established for him in his early childhood experiences By and large, the young person marries one with whom he can reproduce the love relationship he found with his parents In tracing this development, two eminent authorities on marital problems have shown how the child's emotional attachment to his parents affects his later choice of mate. Their argument follows·

1. The child develops an affectional relationship with the parent which relationship is important to his later marriage
2. If this affectional relationship with the parent has been a happy one, the child ultimately will tend to fall in love with a person who possesses characteristics similar to those of the parent he loved
3. If this affectional relationship has been unhappy, the child comes to love another individual who shows characteristics opposite to those possessed by the parent. An exceptional case however, is found in the child whose love for a parent is not returned This early frustration may lead the thwarted one to seek out an adult who pos-

sesses characteristics *similar* to the frustrating parent who also gives love in return.

4 The parent who shares in this affectional relationship is usually of the opposite sex to the child

5 The adult tends to relive his childhood affectional life in the marital situation Thus, the child who loves his parents but because of parental detachment also experiences strong feelings of resentment and hostility, tends to carry over these emotional behaviors into his own marital relations *(37)*.

Inasmuch as we know the extent to which the early experiences of the child condition his relationships with others later in life, there is no reason to expect that marriage would constitute an exception to this general rule Consequently, the affectional relationships described above become extremely important for the future success of marital relations The responsibility of the family is clearly indicated As we saw in the development of a normal personality as well as in the formation of basically neurotic patterns of behavior, the affectional relationships within the home are the deciding factors Happy parents not only rear happy children, they also lay the groundwork for happy marriages. If, in the home, the child learns to love and to trust another, the prediction for his future marital happiness is that much better If, however, he learns but attitudes of suspicion and antagonism, only trouble is ahead. The burden is squarely upon the shoulders of the parents, theirs is the choice They may train the child to hate, or they may train him to love The former is the easier, more emotional, less rational, way.

Love is, therefore, not a thing of blindness except that we who observe its development are blind to causative factors. Rather it is the culmination of a long process begun in early childhood Love is something that can be *planned*, by the individual if necessary, but preferably by his parents They, and possibly they alone, can make or break the marital future Both happiness and unhappiness perpetuate themselves from generation to generation Since the factors basic to happy marriages

are *known*, it is but a form of stupidity not to apply them Again, ignorance and the dead hand of the past stand in the way If we wish to maintain the home as the fundamental institution in our culture, then we must break with the dream world of sheer romanticism and begin to regard marriage as a problem in *human relationships*, a problem of two human beings trying to get along together In the impulsive desire of old brain functions, we have already seen reason for the contention that marital disagreements are principally a conflict of *wishes (84)*

Even though a person's mate may be somewhat predestined in the sense that he will search for fulfillment of childhood expectation, he can nevertheless make reasonably certain that another is or is not for him To answer the question "Is he (or she) the one for me?" one writer would have you ask yourself a series of ten questions If your answer to *all* of them is an enthusiastic "yes," you will probably be happy but, this writer holds, if your answer to but one of them is in the negative, then be cautious Although no evidence is presented to substantiate the claim, their proponent states that they measure marital success with the greatest possible accuracy. The questions are.

1. "Am I happier with her than I am with any other woman?"
2. "When I am not with her, am I persistently wishing for her company, or does some other woman put her out of my mind?"
3. "Would I be not only willing, but glad, to spend my life with her, centering my other interests about her?"
4. "Would I gladly give up all my interests and activities that do not comport with my devoting my life interest to her?"
5. "Is she the one woman whom I would choose, above all others to be the mother of my children, both to give them birth and to bring them up?"
6. "Do I love her with her faults of face, figure, disposition, education, or what not (for she has faults and I know it), do I even love those faults or defects themselves, as being essential parts of her?"
7. "Is she apparently disposed to make for me sacrifices as great as those I am willing to make for her?"

8 "Is she disposed to adapt herself to me to a reasonable extent in interest, in temperamental matters, and in other ways, or does she expect me to do all the adapting?"

9 "Is there a community of interests and culture adequate to a joint life with her?"

10 "Do I like her family well enough to be able to tolerate them, and get along with them, or if not, is it fairly certain that I will not have to associate with them?"[1]

It is interesting that the first three of these questions bear upon aspects of courtship we have seen to be characteristic of romantic love. Any adolescent in the throes of his first love would cry "Yes!" to them. The remaining questions might give him pause. Since, however, these questions were devised for the person contemplating matrimony, we must regard them as a serious attempt to predict marital happiness. It probably is true that if you can give an honest and unqualified affirmative to each question, the one of your choice is "the one" for you.

The probabilities are strong that honest answers, born of serious thought, to these questions will aid the individual in predicting the success of his marriage to come. Reasons for this are legion. We all know that marriage involves responsibilities. Persons who marry and have children immediately assume the duty of rearing socially adequate offspring. These duties center about the tasks of directing the educational, recreational and religious training of their children. The interpersonal relationships involved in these responsibilities will need much more than the appeal of an attractive face or figure if they are to be effectively done. A firm basis is demanded in companionship, sharing and willingness to work for mutual gain. Essential to the unity of effort necessary for successful marital adjustment are several well-known circumstances. Most of these are implied in Dunlap's ten questions but his questions are directed at *you*, the individual. Therefore, they become more apt to predict ac-

[1] Reprinted by permission from *Personal Adjustment* by K. Dunlap, Copyrighted, 1946, by the McGraw-Hill Book Company, Inc.

curately because they ask you to search into your relationships to see how you feel

Since we are told that the ability to recognize "love" when it comes is a function of self-understanding *(27)*,[2] and since marriage ultimately is a highly personal affair, inquiry into oneself is to be desired over the more dispassionate query into the background factors of your prospective mate and yourself. However, background factors are important to marital success and hence must not be ignored That comparisons between you and your love may be made, the factors known to be predictive of marital happiness are:

1. Happiness of your parents.
2. Your happiness in childhood
3. Absence of conflict with mother or father
4. Firm, but not harsh, discipline in your home.
5. Strong affectional attachment to both parents.
6. Mild and infrequent childhood punishment.
7. Premarital attitudes free from disgust or aversion
8. Parental frankness and objectivity in sexual education.
9. Engagement long enough to permit for thorough acquaintance
10. Similarity in educational, economic, religious and social histories *(37, 254)*

It is important that at least eight of these background factors are determined by early experiences in the home We see once more how very important the home life of the child is for the later adjustment of the adult. Note also that intelligence, rationality, objectivity and understanding play a dominant role Obviously, happiness in childhood, freedom from conflict, severe punishment and parental injustice, and love for the parent cannot exist if the home operates under the rule of wish, desire or impulse. Again we see the need for new brain control if our lives are to be happy

In addition to the ten questions and the background factors

[2] In fact, it is probably true that *all* disturbances of an interpersonal nature center around failures in self-understanding (insight)

already mentioned we can go farther and measure potential happiness in marriage by a sort of personality test. In your answering of these questions you must be completely honest with yourself If you are not, the test is valueless Answer these questions with a "yes" or "no" and be as certain as you can that your answer is accurate and fair

1 Can you be depended upon to finish a job you have begun?
2 Were you happy as a child?
3 Are you free from morbid fears and thoughts about sex?
4. Can you decide things for yourself easily and without worry?
5 Are you objective with yourself and with others?
6 Are you free from acute sensitiveness so that you are not easily hurt?
7. Do you like people?
8. Do you get along readily with people?
9 Can you accept suggestions from others without feeling imposed upon?
10 Can you adapt yourself easily to new situations and events?
11 Do you "stop and think" rather than decide in terms of your feelings?
12 Do you try to see things from the other fellow's viewpoint?
13 Are you usually calm and relaxed?
14. Are you concerned about what other people think about you?
15. Do you believe in the standards and ideals of social conduct?
16 Are you interested in many things?
17. Are you generally carefree and happy?
18 Are you considerate of the feelings of others?
19. Do you feel reasonably well contented with life?
20. Is your emotional life smooth and even rather than continuously up and down? *(1)*

If you answered all of these questions with "yes," and answered *honestly*, you are an excellent marital bet If you did not so answer, look into yourself in an effort to discover why not All of these items bear upon personal aspects of marriage that are of the highest importance to happiness Therefore, you will need to consider carefully if your answers tended to be mainly "no." You should observe also that these questions bear strongly upon what we have called "good adjustment" to life in general.

To you who will some day select a mate, this·

Ask yourself Dunlap's ten questions and ask them of your prospective mate

Look into your own background and into hers or his for the background factors listed. Take the test and give it also to her or to him. Examine the results carefully Remember, your marriage will be happy to the extent that you agree If you and your mate-to-be vary widely in your answers, it would be wise to part friends now rather than to marry and to become enemies later.

If, however, you feel that despite wide variance between you and your loved one, you still wish to marry—then go ahead Take the chance, it may work out well and good. Some do, but many do not Keep in mind that it is always easier to obey emotional impulse than it is to follow the dictate of reason Remember also that the greater the chances against you, the lesser are your chances for success If you decide upon marriage in spite of indications to the contrary, the decision is your own Do not, then, blame "fate" if things should go wrong for you

Whatever be the case, there are some characteristics against which you should beware *(1)* Be on guard for these, and if you detect them in a possible mate, shift your field; they foretell marital ruin. Watch out for signs of *jealousy* However flattering the excessive possessiveness of jealousy may be to your ego, the jealous mate is impossible to live with. Statistics indicate that jealousy is a factor in one-half of all divorces. Jealousy arises out of many personal characteristics, all of them undesirable. The jealous person feels frustrated and thwarted He feels insecure and uncertain He feels that people are not to be trusted;

that life is threatening and fearsome Probably too, the jealous person has a "wandering eye" and projects this trait upon others Therefore, he is certain that his mate regards other men much as he looks upon other women If your boy or girl friend is constantly on the watch for signs that your affection is wanting, if he or she seems to feel that you are not to be trusted out of sight, break it off

Dunlap's sixth question aims at accepting the spouse as he or she is The reason for this is that if changes in personality do not take place before the marriage ceremony, the chances are slight that they will occur afterwards. Beware, then, of *missionary tendencies* Marriage is mutual living and if one partner assumes the task of "improving" the other, only strife is ahead It is so much more sensible to discover flaws *before* marriage and to iron them out *then,* than it is to wait until living together reveals them Look beneath the glamor prior to marriage Know your partner for what he or she is and accept or reject on this basis No marriage can survive on a superior-inferior basis, here beyond all else, there must be equality Souls lost before marriage are seldom saved afterwards.

We already have seen that neuroses are basically disturbances in human relationships Since marriage *is* two people living together, evidences of neurotic trends in a prospective mate should make you exceedingly wary If any of the characteristics of insecurity already described (Chap 3) appear in serious form either look elsewhere or visit a competent psychotherapist for advice Marriage will but increase the insecurity and disturbances basic to neurotic trends To hope that somehow things will be different after you are married is to wish in ignorance Unhappiness in marriage often is traceable to maladjustment in one or both of the mates. It will be most wise to keep in mind the criteria of sound adjustment described in Chapter 5 The more closely you and your spouse-to-be approach these desirable personality traits, the better you will be able to adjust to each other. Serious deviation from normal in any one of them is sufficient ground for great caution.

In line with this, be cautious if tendencies to alibi or rationalize behavior appear The "little white lie" can lead to serious

misunderstanding. The person who is not strong enough to stand by his own behavior will be a limber support in times of stress Excuse making is a clear-cut sign of emotional immaturity It is characteristic of the *child* that he should blame others for his own failure When similar behavior appears in the adult, it can only mean that he has not yet grown up. Marriage itself will bring problems enough You will be foolish indeed to handicap yourself with an emotional infant An excuse is an attempt to evade responsibility, a falsehood, white or black, remains a lie.

Be wary also if your prospective mate tends to avoid reality by attempts to escape from it Signs of such behavior are sleepiness in times of stress, withdrawal into self, retreat into fiction and drinking whenever things go wrong Since all of these tend to increase both in frequency and intensity as they become more and more relied upon, you can be certain that little indulgences now will become greater ones as time goes by He who runs away from reality is most difficult to live with If you marry him (or her) rest assured that *all* the problems will come to rest upon *your* shoulders Your spouse will be asleep, dreaming, reading or drunk when you need him most. To marry the escapist will be to carry a double load.

The last question Dunlap asks bears upon in-laws and relatives. No matter how you may feel about it, the fact remains that when you marry, you also marry *into* a family In a sense, when you marry a person, you also marry that person's mother, father, brothers, sisters, aunts and uncles. Of course, if you marry and at once move far away, this need not be of particular concern. But, if you plan to reside within easy traveling distance from your in-laws, take stock of them as well Living with them, or your own parents, is to be avoided as the plague. The reason for this is that far too many "Moms" having smothered their own offspring with excessive affection, will also atempt to smother you Since we have already discussed the results of maternal over-protection, you know for what to look.[3]

Finally, beware the person who has made a game of conquest out of love The probabilities are strong that once the glamor

[3] For a description of in-laws to be avoided, see *(247)*, especially chaps 5, 6, 7, 8.

of marriage has worn thin, he or she will begin to look about for new and unconquered territory The flirt, whose only real interest is in himself, hardly can be expected to be considerate of you. You will always be second to the conquests he finds necessary to support a shaky personality structure If, from all appearances, he is a true "wolf" let him run, do not try to trap him with marriage No bonds of devotion, however strong, will hold him for long

In résumé form, those individuals who cannot really love another seem to be those who·

1 Are emotionally immature and hence not capable of love as a sharing proposition.
2. Have an inordinate attachment to a parent and therefore, while they can transfer this attachment to an age mate, they cannot love another
3 Are so egocentric (narcistic) that they cannot love another except as a sort of mirror which will reflect their own infinite desirability
4 Feel a predatory attitude toward the other sex and to whom a spouse can never be a genuine love object but at best becomes a means for self-gratification
5 Have a fearful attitude toward sex and although they may simulate love effectively, yet do not really *love.*
6 Possess a basic insecurity and need for attention For these, "love" is compulsive, driven and a neurotic search for security
7 Use love as a means to escape from an undesirable home or social situation.
8. Are homosexual (latent or overt) since love for one's own sex is incompatible with heterosexual love *(27)* The line between the narcist and the homosexual is tenuous indeed Both have little to give to the opposite sex and represent serious personality maladjustment *(75).*
9. In a nutshell, anyone who cannot accept *himself,* will be unable to love *(215)*

There is much one may do better to assure happiness in marriage, but as with all realities in life, he must first be willing to

give up much of the myth and superstition which heretofore has surrounded matrimony. In a life which, at its best, is characterized largely by uncertainty, it is gross stupidity to fail to apply to the problems of life the knowledge man has accumulated We have, of course, long been aware of the relationship between hasty marriage and leisurely repentance *(46)*.

Everything considered, the crux of decision in the problem of the selection of mate resides in the person's "spouse ideal" What sort of a person do you expect your spouse to be? It is important, highly so, that either you find a person who fits your expectation or that you do some restructuring of the role you expect your spouse to play *(27)* The failure of a man or woman to "live up to" the spouse ideal of their mates can make for exceedingly serious altercations in the marital life As example, the man who thinks of a future wife as accompanying him on fishing and hunting trips, as one who is interested and active in sports and in general is adventurous minded and yet who "falls in love" with a quiet, timorous, home-loving and highly feminine girl, is breeding nothing but trouble for them both Attitudes toward interpersonal relation characteristic of the individual prior to marriage are not greatly altered after the wedding ceremony *(38, 39)*

In complete bewilderment, a college senior reported that his wife was planning on leaving him and would say only that she "didn't love him anymore" Since he was deeply in love with her and very proud of his infant son, he was quite unable to understand. Discussion with the wife revealed that her "loss of love" was merely an easy way to deal with an otherwise untenable situation She had grown up under conditions of privation and carried a deep-seated fear of poverty Her husband, who was combining the joys of family and fraternity life, saw no reason for concern so long as his Federal subsistence was adequate for the family bills To date, it had been, although only through the economies effected by the wife. She, however, could no longer stand up under the dual strain of homemaking and penny-pinching She planned therefore, to return to her old job and to live with a married sister When the husband discovered the real reason for the friction, he found employment and reported later that all that was necessary was

the additional income Now his wife, having financial backlog, economized as before but felt no threat in this since the family finances were no longer marginal.

We have seen that in general, emotional rather than rational thinking has been the basis of marriage It also has been indicated that it is quite possible to put this most intimate of human relationships upon a reasonably objective plane Since the decision to marry often partakes of lifelong obligation, it is of essential importance that the decision be made as carefully as possible. In summary fashion then, the knowledge applicable both by parent and by the marital aspirant would appear to be.

1 Dating and courtship practices should be regarded and utilized as deliberate training for marriage In these, youth can obtain trial by experience in the search for a mate The person can study and look for evidences of mutual compatibility, a search that will pay off well if its results are actively utilized in effecting a final choice.
2 Consideration should be given for the role played in marital happiness by the background experiences and accustomed surroundings of the couple If the parents of the prospective mates were happy and if the mate's childhood was a happy one, so much to the good Similarity in the background of the mate's parents is also important Since marriage *is* interpersonal relationship in its most intimate form, it is desirable that the mates have had many premarital friends of both sexes The "lone wolf" should be avoided in that sociability—a general liking for *people*—is quite important. The higher the educational level of the mates, the better the prospect for mutual happiness. Religious interests in common and a stable and dependable income also increase the chances for success. Wide differences in any of these imply risk and should be resolved during courtship
3 With regard to personality characteristics, it is important to know the *underlying* patterns of adjustment as well as the more superficial traits In this general area, the following characteristics are known to be desirable

Optimism
Emotional stability
Cooperativeness
Sympathetic tendencies
Self-confidence
Emotional dependency (as contrasted with self-sufficiency)

4. Commonality of interests must be considered. Recreative practices should be shared and if children are planned, both mates actively should desire them It is important to agree concerning friends and the role friends shall play. Both should be domestic in the sense that both want, and are genuinely interested in maintaining a home. The general outlook on life should be similar as well as a mutual agreement regarding career and vocation *(36, 39)*

As a final check on marital preparedness, let us briefly examine the question of the desirability of a premarital physical examination We know that marital happiness and successful parenthood involve skills that are teachable *(37, 251)* To prevent "I wish I had known this before," when postmarital troubles arise, one may check on what is known in advance The premarital physical examination with its concomitant explanation and advice is of great utilitarian value in the prevention of regret Obviously, however, the examination must be done by a sympathetic and understanding physician and, unfortunately, the granting of the M.D. degree does not automatically carry with it the requisite sensitiveness to need, and tolerance of understanding which the effective premarital counselor must possess Therefore, the individual physician should be selected with some care

The need for a thorough and sympathetic premarital physical examination is evident in that it will reveal the readiness of the female for intercourse, the ease and possibility of conception and what contraceptive devices will be most efficient for her Further, the examination of 650 women prior to marriage indicated that about fifteen could not bear children, in about 130 the uterus was found to be in an unusual position, while about

75 showed evidence of leukorrhea *(65)*[4] The value of this sort of information is apparent

Value also may be found in the physical preparation for intercourse the premarital physical examination makes available It has been found that some 80 percent of women need preparatory treatment in the way of vaginal dilation before intercourse is attempted *(65)*

Possibly this is the place too, for a short consideration of the question of premarital sex experimentation Because of woman's increasing recognition by man as an equal, premarital sex experience seems to be increasing. This is, however, not a problem for legislation or fulmination but rather one for understanding and effective training In our culture, social and economic maturity, as the expected prerequisite for marriage usually appear long after physiological sexual maturity It is also true that the adolescent reaches sexual maturity without developing a concomitant maturity in judgment Hence, there is real necessity for effective sex education *prior* to the development of sexual ability So, as freedom of behavior increases (and this is eminently desirable) so too does the opportunity for intimacy Consequently, sex education must be well and thoroughly done if the adolescent is to possess the ideals and knowledge necessary to postpone sexual activity until marriage[5] It is patent that control sufficient to prevent premarital sex relations may be obtained only through the understanding and knowledge that permit for the development of a personal and social sense of responsibility Equally apparent is the fact that current movies and fiction are of no help whatsoever as *Gone With The Wind, Forever Amber, Woman of Property, The Postman Always Rings Twice,* etc , readily attest The leitmotif of most of the products of Hollywood and our publishing houses is strictly emotional, and presents a highly inadequate and superficial picture of the role of sex in living.

[4] A greater than normal vaginal discharge, usually as a result of genital maldevelopment

[5] Discussion helpful here may be found in A Stephens, "Premarital Sex Relationships," in M Fishbein and E Burgess (eds), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Part I, chap 4

Some of the difficulties inherent in the active practice of premarital sex relations were revealed by a young lady who came to a psychologist expressing deep concern because of their practice Discussion soon indicated, however, that the concern was not so much an aspect of remorse for having violated social expectation as it was the fear of pregnancy. In response to the query regarding the taking of normal precautions, she replied: "Oh, I couldn't That would make it seem so *planned!*"

Significant too, is the report that 80 percent of a group of married women said that premarital sex experience was of no assistance in facilitating sexual adjustment during the honeymoon *(29)*.

Closely allied to actual premarital sex relations and often a precursor to it, is "heavy petting" This love-making technique is to be distinguished from petting as such Petting, as caressing and fondling, has been defined as pleasurable physical contact which is an end to itself and stops short of actual intercourse although often terminating in a high degree of unresolved sexual tension *(26)* Heavy petting involves the fondling of intimate bodily parts such as the breasts and thighs This, in all probability, is emotionally harmful because of the frustration of strongly aroused sexual desire To keep and maintain the "*tout excepté ça*" status often is more demanding than the enthusiastic but inexperienced and biologically ignorant young person anticipates It is reasonable to assume that thorough and adequate sex education would work to decrease the extent of heavy petting and consequent probability of "*ça*" since young persons, aware of possible implications, might better be expected to relegate heavy petting to its biological use—as preparation for successful intercourse in marriage

Reasons for premarital sex experiences run the gamut of misplaced trust and confidence, a sort of promissory note drawn on matrimony, a desire for "new" experience, the wish to please a loved one and the neurotic drive for attention and recognition Space does not permit a detailed discussion here and the individual variation is great The following cases, however, are fairly typical of youthful experience.

N B, in obvious consternation, asked for a "conference." After the usual ice-breaking chit chat, she began to talk about her love life Ultimately, it was revealed that the source of her concern was a weekend spent with her fiance This had culminated in the pair spending a night together in which they shared a bed, but N insisted rather continuously that "nothing had happened" Whether or not anything did was felt to be a moot point but the reason for the experience was a final giving in to persistent coaxing and pleading by the swain. "He wanted me to so badly that I was afraid that I would lose him if I continued to refuse."

R I became involved in a sexual escapade sheerly through a near-compulsion to be "liked" Although engaged to a boy who was living in a distant community, she was completely unable to resist her tremendous need for affection and finally accepted a date Ultimately, she and her date found themselves in a "beer joint" much frequented by their agemates and one or two drinks were all that was necessary to remove R 's rather weak inhibitions Other males were accumulated and the resulting sexual orgy was a nightmare to R the next day In complete contrition and under strong censure of conscience she came to talk things over Since no strong habit patterns had been established, it was possible to deal with her difficulty through increased insight and self-understanding R 's case is an excellent illustration of the fact that alcohol, petting and virginity are quite incompatible

One young lady's opening conversational gambit was "What do you think of premarital sex relations?" "A very interesting topic of discussion, how do you feel about it?" "Well, I had always wondered just what intercourse was like" "Would you care to explain just what you mean?" "Well, as I said, I had always wondered just what it would be like and so I decided to try it." "What do you think about it now?" "Highly overrated!"

So much for the preparation for marriage, how about the marital life itself? Here, as elsewhere in the field of interpersonal relations, we find that a realistic application of current knowledge pays off in dividends of success One of the first questions, in order of appearance, is that of the honeymoon It would appear that the honeymoon while fulfilling romantic tradition, is not indispensable Two-thirds of a group of married women felt

that it was not essential while more than three-quarters reported that the honeymoon was not necessarily the most idealistically happy aspect of their marriage Significantly entering into this latter judgment probably was the fact that nearly half of this group said that they did not achieve complete sexual harmony during the honeymoon period *(29)* It would thus appear that the honeymoon, along with a lot of romantic fiction about marriage, has meaningfulness only in so far as the participants expect that it will

Much of the same relationship between attitude and success exists for sexual adjustment in marriage. Consequently, there is real need for factual information. Sex in marriage is not the *sine qua non* many would have it, but as we shall see, it is of undoubted importance. Estimates of the incidence of sexual maladjustment among married pairs range from 50 to 90 percent. Of these sexually maladapted partners, probably some 95 percent are paying the price of faulty training which, often as not, is a reflection of the general sex taboo *(75)* Actually, this taboo has spread within our culture to include nearly all displays of affectional relations Thus, having confused sentiment with sentimentality, we take a peculiar pride in maintaining a poker-faced impassivity in situations where warm and open affection should rule.

Largely because of this, we tend to smother normal psychosexual development under a mass of socially engendered secrecy and shame What we fail to recognize, and consequently pay for in emotional under-development, is that adequate psychosexual development lays the groundwork for the later ability freely to express feelings of kindliness, tolerance and sympathy *(74)* A rather enormous account to settle for what is, essentially, sheer prudery We are seriously in need of understanding guidance and of open acceptance of this aspect of living As was indicated in the previous chapter, much can be done to promote sexual normality by intelligent sex education. A formula for the general problem here has been stated "Facts of sexuality plus personal and social ideals plus a well-balanced work and recreational program equal morally good, happy, and responsible citi-

zens In contrast to this, let us put the formula most people are struggling and worrying along with No facts of sexuality plus no personal and social ideal plus a restricted and empty work and recreational life (out of the parent's fear of the child's coming into contact with temptation) equal unhappiness, inefficiency, poor marital adjustment, neurosis and personal defects contributing to alcoholism, delinquency, psychosis and suicide" *(75, p 108)* [6] And it is this *latter* state of affairs that those who insist that sex education will but increase man's sexual difficulties, would maintain.

At best, marriage is a job of *work* The fact of two or more people living together within the confines of a home, makes problems inevitable, problems of a monetary, social, religious and personal nature One highly successful way for the married pair to reduce both the severity and the duration of these problems of marital living is to develop a functional, mutually satisfying sexual adjustment If we feel wanted, we do not feel that we are alone and to know that we are loved is to feel that we are *somebody;* that we *belong* in life Consequently, life's difficulties appear less threatening when a person does not have to face them alone and the shared ecstasy of genuinely happy sexual relations is an empathic experience that renders easy cooperative solutions Not only is it "not good for man to *live* alone," it is, normally, not quite possible The keynotes in the sharing implicit in happy sex lives, are found in the terms "freedom from taboo" and "thoughtful consideration" *(75)*

Freedom from taboo is expressed by a willingness to discuss without embarrassment such important aspects of sexual adjustment as the strength and incidence of sexual desire, how the maximum in pleasure best may be derived, how much, if any, sex play should occur prior to intromission, what position is most efficient for mutual satisfaction,[7] and any other aspect that may need working through There is, of course, no room in such discussions for prudery or smugness *(15)*

[6] Reproduced by permission

[7] Brief and pertinent are the descriptions to be found in G Kelly, "Technique of Marriage Relations," in M Fishbein and E Burgess (eds), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Part II, chap 2

Thoughtful consideration implies that each partner actively is interested in the maximum satisfaction of the other Each should recognize that the position assumed and the time and place of intercourse are unimportant in themselves since the only goal is mutual content *(75)*. *Selflessness* is the rule. If the wife needs much caressing prior to the sex act, the husband responds in full, postponing his own desire that pleasurableness may be gained by both Toward the usual male attitude here, it was Balzac, I believe, who said "A man expressing his passion is sometimes like an orangutan trying to play the violin!" He spoke, of course, in much truth For the equilibrated balance successful sex relations demand, some delicacy and finesse are indicated—the husband may much more effectively demonstrate his strength and virility in assisting with the biannual house-cleaning Love and sexual brutality are highly opposed, remember, the human being enjoys sexual pleasure only to the extent that he also gives it, the human animal enjoys rape *(215)*. As with most things in life, the individual gains to the extent that he gives Add to this an injunction to fastidiousness There is no longer any reason for a person to declaim with the 19th century French novelist who said that marriage was but a shift from bad humor in the daytime to bad odor at night

Similar enjoinders are necessary for the wife as well. If the husband wishes to kiss and caress parts of her body other than her lips, she should assist and encourage him with neither feeling anything of embarrassment, but only a heightened pleasure *(75)*. The formula would be· "Do whatever you like, whatever is pleasurable " Since pleasure is the prime goal in sex relations, it is stupid to surround the act with hedges of prim "niceties" and prudish "decencies " Thus, in satisfactory sexual adjustment, each partner does *whatever* is necessary to give the other optimum pleasure and the act then becomes what it should be—sheer, uninhibited fun

Throughout all, each must maintain an open-mindedness which permits for an uncritical acceptance of suggestion by the other If the wife expresses a wish that the husband could delay orgasm somewhat longer, his response is *not* to sulk in

wounded pride, but to make an immediate attempt to lengthen the intercourse time. If these attempts should prove unsuccessful, he then searches for medical or psychiatric assistance. Similarly, if the husband feels that the wife is not entering into the spirit of intercourse with as much enthusiasm as she might, he also feels free to tell her. She, in turn, instead of accusing him of bestiality, asks only what she may do in order actively to be more cooperative. The attitudes basic here are precisely those that would be applied to the rational solution of any problem. Each partner recognizes that pleasure in sex is a *gift* each can bestow upon the other and toward this pleasure each is willing to work (75). *Working* together is the solution, and since complete success probably will not occur immediately, a working through of the sex behavior of the partners is to be anticipated. In fact, the most common difficulty that arises during the honeymoon is one of adequate sexual adjustment (29). Evidence abounds to indicate that sexual happiness in marriage is a result achieved by the willingness and freedom of the mates to work for it. Over two-thirds of a group of married women said that knowledge and information gained from books on sexual adjustment helped to make the honeymoon a success (29). The marriage ceremony itself gives only social, legal and religious sanction to sex. The words "I now pronounce you man and wife" intrinsically possess no magic incantation to solve life problems for you. The task is yours; the ceremony but gives you the right to work at it.

10. HAPPINESS IN WORK

> Even in the meanest sort of labor, the whole soul of man is composed into a kind of real harmony the instant he sets himself to work.
>
> —Carlyle, *Past and Present*

TOLSTOI has told us that man's happiness lies in life and that life lies in labor. This is largely correct; unhappiness in one's vocation often is reflection of a generalized dissatisfaction with life. To complete the argumentative circle and to indicate that life dissatisfaction has many facets, it should be said that commonly this "generalized dissatisfaction" is, in large measure, a function of originally unwise vocational selection. Of course, the person who chronically displays any of the inefficient behavior patterns described in Chapter 6 will tend to carry over his general adjustment pattern into any specific life area, e.g., occupation. Dissatisfaction in the life vocation may be a source of unhappiness itself or merely another expression of general maladaptive behavior. Both are equally unfortunate; both are largely preventable.

While the problem of finding happiness in work has been omnipresent for civilized man, it is but relatively recently that the question of vocational choice has become acute. To primitive man, and to any man living under "primitive" conditions, a vocation as such, largely did not exist. Thus, he became a hunter, a fisher, a "drawer of water or a hewer of wood" as had his parents before him. Demands were simple, and such problems as existed primarily were ones of growing up and staying alive. In fact, the question "What do you want to be when you grow up" was quite meaningless to youth of isolated communities; everybody there did the same things in the same ways *(237)*. It has been, then, principally during the last one hundred years

that the question of vocation choice has attained a problem status The complexities in our culture, brought about by technological advancement, have so diversified the work life that the question of "what to do" has become exceedingly pertinent. However, only in the last twenty years have we had sufficient information and skills to do a respectable job in assisting youth to find themselves vocationally

As we have seen in our examination of other life areas, decision regarding vocation also is based much too often upon emotional thinking Despite the fact that the job, like the marriage, is a major issue in man's life, the customary approach is haphazard, emotionally based and usually completely unrealistic. Commonly, the job choices of youth are limited to the "socially approved" white-collar areas within the business and professional fields and seldom cover a range greater than a dozen or so specific jobs In fact, there is no relationship between the occupational choice of youth and the possibility of actual employment within the chosen work areas *(156)*

In one study involving some 13,000 youth, five out of every six wanted to enter white-collar occupations despite the fact that this group makes up but about 33 percent of workers. Further, five times more youth desired to enter one of the professions than would be necessary to meet normal demand *(16)* Another, made upon 888 college students who had already made a vocational choice, showed that but 2 percent of them had done any significant reading about the occupation of their choice while 38 percent had done no reading at all Only one-half of these students who planned a career in medicine had grades high enough to admit them to medical college and over three-quarters expected to exceed the known average income of the practicing physician Only 7 percent of the entire 888 students had information sufficient to permit them to make *plans* for the vocation they had "chosen" Among this number of students, only twenty-two separate vocations were represented while 95 percent of them wanted to enter the four most over crowded professions in the metropolitan area where the study was made *(239)* Another similar study showed that over

three-quarters of the college students were preparing for occupations in which less than one-half of the graduates from the college were employed *(237)*, while a very recent vocational guidance survey showed that 60 percent of the college students involved planned to enter the professions which support but 5 percent of the population *(9)*. In general, students show desires for occupations *higher* than the ones most of them will have to accept *(7, 146)*.

Here indeed, may the home and school cry *"Mea culpa"!* It is apparent that wishful thinking, apathy and ignorance play dominant roles in the vocational selection our youth make. Parents, feeling strongly the social prestige of certain kinds of work, attempt to steer their children into them with a fine disregard for the potentialities and interests of the child. Usually this is expressed in the form of "wanting the boy to amount to something." And, of course, in the Hollywood-clouded minds of the parents, no one who wears overalls on the job conceivably could amount to anything. This attitude, however, is but a specific expression of the general one pervading our culture to the effect that working with one's hands is base, inglorious and to be avoided at all costs.[1] As has been previously indicated, we are a people to whom, for all practical purposes, no other bodily organ exists except the larynx. Submerged in a welter of words, we accept the symbol for the reality itself, somehow feeling that when we have *discussed* a thing, we have thereby achieved it. Phonetics, not semantics, is our goal.

This attitude is reinforced and maintained by our schools which encourage youth to aspire to goals often quite beyond possibility of attainment. Despite the fact that 47 percent of all occupations in the United States demand no education beyond the ability to read, write and speak English, no more than 20 percent demand a high-school education and only 6½ percent necessitate graduation from college, students in high school are encouraged to take purely academic courses. This is indicated

[1] The general attitude of contemptuous indifference toward the laboring class was exposed in startling fashion by an investigation of a recent industrial disaster. Not only was top management found to be blameworthy, but equally so were high public and union officials *(179)*.

by the fact that in 1939, about 52 percent of Baltimore high-school pupils were enrolled in academic or technical curricula while but 36 percent were registered in commercial and vocational subjects. This, despite the knowledge that academic and technical courses prepare students for occupations comprising no more than 15 percent of the gainfully employed while commercial and vocational courses would give training for vocational areas involving some 60 percent. Around one-half of these students were being trained for occupations normally utilizing only one-sixth of the metropolitan workers (*17*, p. 73). Hardly "rational" tactics, yet quite typical of man. In preparing the great majority of its students for college work and for careers in which they are unlikely to succeed, the school is doing a serious mis-service to society. In fact, there is some evidence that the high school is not doing *this* job well (*262*). Yet, more often than not, the school sees no need for vocational guidance and placement.

If, however, it is true that education itself is a guidance process which is to provide means for the coping with the mental, physical, emotional and social needs of youth, then certainly vocational guidance has a real place within the curriculum. It is difficult to comprehend how it may be that guidance and good teaching possibly could be divorced.[2] To insist that knowledge should be gained "for its own sake" is to make an idol of what should be only a tool. In any event, secondary education needs seriously to consider the advisability of purging itself of the rather moronic optimism and complacent unrealism that has characterized its behavior to date. It needs to disabuse itself of the superstition and myth inherent in its traditional attitude toward vocational training and to get down to the factual realities of a tough-minded and truth-seeking program of action. As has been said, library shelves literally groan under the weight of publications of ways and means to bring such programs into effect (*17*, p. 187). It is, however, much easier to have faith in ignorance than it is to work for knowledge.

[2] What can be done in the small college is well described in C. Richards, *Denison: A Small College Studies Its Program*, Denison Univ. Press, 1948, esp. chap. III.

A follow-up study of members of college classes who did, and who did not continue on through graduation (graduates being compared to non-graduates of the same class year) resulted in the rather disappointing conclusion that the graduates were *no better fitted* for life in general than were those who discontinued their college work. True, the graduate group averaged a somewhat higher income and were a little happier with their life work, but when general cultural attitudes and citizenship (in its broadest sense) were considered there were no differences *(203)*. Such results might well be expected in any institution in which instruction and guidance are held to be discrete and different functions.

Nor are communities any better. In all probability, one could count a finger for each community that possesses a functional vocational guidance center for its youth and cover each finger no more than once. Yet, once public approval is secured, and such a program is well under way, no one "can understand" why it was not done long before.[3] The term "functional" applied to a vocational guidance program means that it is one in which adequately trained vocational counselors are permitted to give full time to the job of vocational guidance. Many schools and some communities have a "guidance program" which exists largely on paper and in the imaginations of the administrators. All too commonly, in educational institutions, the guidance counselor is forced to do part-time teaching or is given a load of administrative duties (or both) so that such counseling as he is able to do is sandwiched in between a host of other activities. Obviously, procedures like these render quite impossible any realistic vocational program. To meet real need with half-measures in any sort of interpersonal relationship situation is vicious compromise. Usually such conditions result from uninformed but enthusiastic administrators who feel the need but never have taken time to discover precisely what may be involved in the meeting of it. Thus, the vocational guidance program in all too many schools is an expression of a "we must do something" wish in which no one, except the unfortunate

[3] Procedures and practices requisite for the establishing of such centers are well described in *(17,* Part III)

counselor, has the vaguest concept of the realistic necessities implied by the "doing."

Yet evidence abounds to show the need for and the value of the early giving of vocational guidance. The need clearly has been shown by the bewilderment and lack of any real understanding on the part of youth who come from school into the world of work and are faced with the problem of finding a job. Untrained, uninformed and unaware, the usual response to the question: "What can you do?" is a vague "anything." This, of course, means that they can do nothing at all *(239)*. Studies of job satisfaction made upon employed individuals revealed that 40 percent of them are dissatisfied in their work and, if it were possible, would do things differently another time *(85, 250)*. Interestingly enough, another study showed that about 60 percent of individuals reached the occupational level of their high-school aspirations *(211)*. Although there is no way to tell, it is conceivable that the 40 percent who did not achieve their occupational goals of their high-school dreams may constitute many of these who in adult life are dissatisfied with their work. It is interesting also that job dissatisfaction varies with the occupation itself. Thus, 61 percent of laborers were unhappy in their work while but 29 percent of professional people so reported *(85)*. Even the latter group, however, is sizable enough to indicate that there is something seriously wrong with the bases upon which occupations are "selected" by American youth. Of course, vocations are not selected in any realistic sense at all. They are commonly the end-result of wish, desire and parental pressure, with neither parent nor youth making judgments of any adequacy whatsoever. Although over 17,000 different ways of earning a living have been described *(261)*, one study revealed that of over 42,000 high-school-senior girls, the 86 percent who had made occupational choices listed but thirty-nine separate occupations. Of the more than 34,000 boys involved, the 76 percent who had made similar choices listed but fifty-nine occupations *(42)*. Obviously, information concerning vocational opportunity is a serious need of youth.

Intelligent and rational vocational planning markedly could

decrease this incidence of job dissatisfaction. Studies show this clearly. In one, those individuals who followed the suggestions regarding vocational success which emerged from a thorough vocational guidance analysis, were twenty-six times as likely to succeed and to be happy as were those who did not *(121)*. Another recent investigation demonstrated that those persons who followed the recommendations given by vocational counselors were twenty-eight times more likely to succeed than those who disregarded the results of the vocational analysis *(263)* More recently, it has been shown that 90 percent of college students who followed vocational recommendations made good job adjustments while only 22 percent of those who ignored the recommendations were adjusting satisfactorily *(204)*. There can hardly be question that vocational counseling can do a reasonably adequate job in assisting the individual in the structuring of a wise vocational choice Once more, it is a case of lethargy induced by subservience to the customary complicated by chronic superstition. The bases for this appear to be threefold.

1 "You can if you will."
2 Faith in self-estimates and family expectations.
3. Fear of and resistance to change

Let us consider these separately We have already had occasion to speak of the fallacy inherent in the current myth of "you can if you will" and need do no more than reaffirm its mythlike nature here. Any individual can *do* to the extent that he is *able* and no more True, he may more closely approximate the limits of his potentialities through highly motivated and unremitting effort, but he cannot succeed in areas for which he does not possess the requisite abilities A person whose intelligence is not equal to the known intellectual demands of a vocation, may through hard work achieve his goal The dice, however, are loaded against him In any event, to assume, because of exceptions such as these, that any person can do anything he wishes if only he will work hard enough, is to lay out a pathway in life which leads only to embitterment To illustrate, superior intelligence is needed for success in the professional,

managerial and proprietary areas At least average intelligence is necessary for success in such jobs as are implied by the terms semiprofessional, clerical, sales, protective, skilled labor, personal service and agricultural Those with below average intelligence can do work in the semiskilled, unskilled, domestic service and fishery areas *(102,* p 171) Relationships between the job and the abilities requisite for them have been fairly well worked out, we need now only their application

We have seen likewise, that reliance on self-estimates and family expectation may also do serious disservice to youth *(193)* Self-estimates of ability, interests and personal characteristics are open to serious error In fact, the probability is that one's opinion of oneself comes closer to being in opposition to the opinion of others than in agreement with them except, of course, in the case of the very rare person who really knows himself *(229, 230)* The usual statement "I know what *I* want to do" should be amended to "I know what I *think* I want to do" This more tentative statement should then immediately carry the questions "But *can* I?" "Do I possess the requisite abilities?" "Am I willing to invest time, effort and money in the necessary preparation?" "Will there be a ready place for me when this is done?" And last but of equal importance. "Where can I find the answer?" The work life is a serious consideration, surely decision should be guided by more than mere wish. Evidence opposes the concept that the individual himself is a competent judge of his vocational future

The fear of and resistance to change constitutes a reason why vocational guidance is not made more readily available to youth In the past, educational activities have centered about the assumption that graduates rather exclusively would enter the professions Hence, the orientation was entirely academic and cultural Despite the fact that there is room in the professions for only a small fraction of our academically trained, schools and colleges still function largely under the illusion that they are to train scholars in the medieval sense As we have had occasion to see, old things die hard and demonstrably moribund practices are continuously maintained in a zombie-like state through sheer

inertia bolstered by rationalization. Possibly this is true within the academic situation as much so as in any social institution. Paradoxically (but only to those who hold man as rational) it is within the area of the academic where one would expect the greatest intellectual and the least emotional control of behavior to appear. However, man is man whether he be Ph.D or plumber.

In one college, when the question was brought to the faculty of the desirability of employing a trained person to do vocational guidance and placement work, the reaction was largely negative One of the "old guard" expressed the general attitude in these terms "When I came here, we had one Dean and he carried a full-time teaching load besides Now we have four of them and they want to add another administrator!" The fact that both conditions and college may undergo changes over a twenty-year period seemed not to occur to him at all Still another argued that since there never had been such a person employed and graduates had done very well in the past, there was no reason to indulge in frills. All of the objections were of this same general nature—an insistence that what had been must forever be, just because apparently, it *had been.*

Despite the fact that we were told nearly fifteen years ago that schools are more aptly equipped to give five years of inefficient education than they are to give five hours of competent guidance, the statement remains as true now as it was then *(165)* We are unrealistic in life, in love and in work, largely because we maintain a sluglike belief that the past must forever foretell the future. If we can do nothing (and this seems probable) to reduce the American feeling of necessity continuously to "better" our condition, then at least we can learn how to enjoy our lives more adequately Our constant effort to excel and its attendant unnecessary tensions are deeply significant in the incidence of psychosomatic illness *(2)* An effective way to work this reduction in tension would be more efficient adjustment to the life of work. It should be apparent that this can be approached, if not achieved, by the intelligent utilization of the knowledge we have amassed concerning the relationships be-

tween the characteristics of the person and the demands of the job. We need only henceforth to refuse to be impressed with the phantasies of wishfulness and to search for and to accept the realities of fact.

Toward this end, then, let us examine relationships between man and job. Here again, as with the question of successful marriage, a series of questions present themselves Some of them concern the individual, others concern the work If the approach to the important question of a life vocation is to be done intelligently, it is essential that both series be answered with an honest realism One must, therefore, continuously be alert for the wishfulness that will creep into judgment, insidiously presenting itself in the guise of. "Wel-l-l, I don't fit this exactly, but . " This human tendency must consistently be safeguarded by a more thorough self-questioning in which one persistently asks. "Just what does 'exactly' mean?" "How wide in reality is the gap between job demand and my present ability to meet it?" "Is this lack on my part something I can correct or is it so firmly fixed, either by nature or nurture, that it will be too great a task to change?" The central question of all: "Am I in danger of fooling myself?"

In the light of a considered and honest attempt to reconcile the demands of the job with your own characteristics, these questions may be asked

About You

1. What are the educational needs of individuals who are engaged in this occupation? Is my present educational status sufficient, or will I need more? If so, can I obtain it?
2. Is my intellectual ability sufficient to meet the educational and occupational demands this vocation makes of its participants? Will I be able to cope with such specialized training as may be expected of me?
3. What, if any, special abilities, talents or aptitudes are requisite for success? If such exist, do I possess them? If not, is there any way by which I may?
4. Will my present array of interests, likes, dislikes, aims and ideals be compatible with those making for happiness in this work?

5. Is my general personality structure such that the work will be congenial? Will I fit in with those who are already so engaged? Does this work make any special personal or character demands? If so, what are they and how will I fit in?
6. Have I any annoying traits that might mitigate against success? Any deficiencies or disabilities that would limit me? If so, can I do anything to overcome them?

About Your Job

1. What are the opportunities in this field? Where, in the range of income, must I start? What may I expect as my skill increases? If special rewards exist, what must I do to obtain them?
2. What about constancy of employment? Is it hazardous, seasonal, intermittent or variable? What degree of personal security does it offer?
3. Is it a blind alley job? Is advancement possible and regular if one does well? Is the job itself a kind of training program for better ones?
4. What is the relationship between supply and demand in this work? Are more people being trained than the work can accommodate? Will I be faced with competition too strong for me to meet? *Am* I a good competitive worker, or do I become too discouraged with "second place"?
5. In what kind of community will I probably be living if I enter this field? Will it be one well adapted to domestic living, the rearing of children and the happiness of my spouse?
6. What is the social prestige of the job? Does success in it bring approval by others? Are the skills demanded by the work those which "not just anyone" may develop? (24, p 5.)

   (Let it be said at once that this last question must be asked because of the strong variances in preferences for jobs current within our society and hence among youth It must also be said that no one who has observed—or better still tried to do—the work of a stone mason, electrician, machinist or plumber, would deny the *very skilled* and socially approvable nature of the task)

Since man spends a majority of his lifetime in work and job-connected activities, the choice of vocation is not to be made lightly. In searching for answers to the questions listed above,

it is important to consider them in the light of some facts known to be related to job satisfaction. First of all, employed personnel demand that their work conditions be such that they are given credit for what they do, that the work be interesting, that they be treated fairly with understanding and appreciation *(109,* pp. 118 f.) Often, it is a failure in achievement of these personal satisfactions that underlies unhappiness in work. Consequently, a person in search of a vocation, must seriously consider the question: "What do I expect from my work?" "Is my standard of success measured in terms of money, social prestige, much or little responsibility, continuous pressure or its absence, leisure time, service to others, inner feelings of contentment, or what?" The general framework in terms of which you think of a life vocation will be an important factor in assisting you toward decision. Obviously, the specific questions you ask of yourself and of your prospective job must be considered in terms of what you expect work to bring you. So it is that one person may find happiness in the relative freedom and lack of pressure found in college teaching, more happiness than *he* would find in an industrial job that might give him a salary twice or three times as great. In this case, money is subordinate in importance to what he considers "peace of mind." Another individual might find happiness only in an ever increasing bank account with the attendant things that "only money can buy." In essence, you must consider your future work life in terms of the *value judgments* you have made about life in general.

In our culture much attention is paid to the factor of social prestige in the work life. Of interest then, are the rankings made of various occupations by college students. The changes in these estimates, over nearly a twenty-year span, appear in Table 2.

We see in these an expression of the emphasis our culture places upon the professions and "working with the mind" over the trades and "working with the hands." That this difference is a cultural product and not, as many apparently assume, something inherent in occupations themselves is shown by the differences in rankings obtained in another society. Russian youth placed the trades relatively high and the professions relatively

TABLE 2 ORDER OF OCCUPATIONAL PREFERENCES OF COLLEGE STUDENTS IN 1929 AND 1948

	1929 *(7)*	1948 *(242)*
Banker	1	6
Physician	2	1
Clergyman	3	8
Lawyer	4	2
Professor	5	5
Manufacturer	6	3
Artist	7	11
Men of leisure	8	16
Engineer	9	4
Factory manager	10	7
School teacher	11	10
Merchant	12	9
Basketball player	13	17
Farmer	14	15
Insurance agent	15	12
Salesman	16	13
Bookkeeper	17	14
Machinist	18	18
Carpenter	19	19
Barber	20	21
Factory	21	20
Blacksmith	22	24
Soldier	23	22
Chauffeur	24	23
Ditch digger	25	25

low in comparison to the rankings above *(60)*. Plague, however, exists in both houses In a theoretically vocationally balanced society, jobs could not be ranked in any order of preference, since all would be "preferred" equally and no particular occupation would be "looked up to" more than any other While such recognition of human occupational worth may be recognized as an ideal toward which we might strive, the fact that culturally instigated job preferences do exist must be faced and somehow resolved by the individual in search of a vocation Again, the place to begin is within the home. Patently, vocational guidance centers can do little if, in the thinking of parents, only a professional career is worthy of their child. We must, then, be willing to recognize that a youth must become a medical

technician or a nurse rather than a physician; a sales person rather than business executive, an electrician or mechanic instead of an engineer. These factual realities must be recognized and accepted by *us* before vocational guidance really may come of age

In terms, therefore, of your own feeling for what you *want* out of a work life filtered through a tightly and realistically woven mesh of factual information, you can do much to assure happiness in work First of all, you must have a definite occupational goal in mind and the earlier you can achieve this, the better. In this task of self-orientation, it will be of assistance to ask yourself whether you prefer working with things, people, ideas, or with some particular combination of these Add to this a list of courses you like in school Do these center about cultural, literary, mechanical, scientific, humanistic or interpersonal questions? Being wary of snap judgment, seek to discover what relationships may exist between activities preferred and academic areas enjoyed From this examination well may come pertinent suggestions for your future vocation, since out of it should emerge some concept of the nature of the things you can do well and find enjoyment in the doing

In answer to the next question. "Where can I find a work pattern that fits the things I enjoy and can do?" examine the list in Table 3. Although, over 17,000 varied ways of earning a living are known to exist, the following 150 occupations utilize 75 percent of all workers *(199)*

TABLE 3 [4]

PROFESSIONAL

Actors
Architects
Artists
Assayers, metallurgists
Authors
Chemists
Clergymen
Agricultural and home demonstration agents
Dentists
Editors, reporters
Engineers, chemical
Engineers, civil
Engineers, electrical
Engineers, industrial
Engineers, mechanical
Engineers, mining and metallurgical
Lawyers, judges
Librarians
Musicians

[4] From *(199*, pp 27 ff) Reproduced by permission

Nurses
Personnel workers
Pharmacists
Physicians, surgeons
Public relations workers
Social workers
Teachers, professors, educational administrators
Veterinarians
Managers of filling stations
Managers of hotels
Managers of offices
Managers of theatres, recreational services
Managers of stores
Officers, pilots, pursers, and engineers, ship
Officials, lodge, society, union
Postmasters
Public Officials
Purchasing agents, buyers

SEMIPROFESSIONAL

Athletes, sports officials
Airplane pilots, navigators, meteorologists
Dancers, showmen
Designers, draftsmen
Funeral directors, embalmers
Medical service workers
Optometrists
Photographers
Radio operators
Religious workers
Surveyors
Technicians, laboratory and others

CLERICAL, SALES AND KINDRED WORKERS

Accountants
Agents and collectors
Attendants, Physicians' and Dentists'
Bookkeepers, cashiers
Canvassers, solicitors
Clerks
Demonstrators
Insurance agents and brokers
Mail carriers
Messengers, office boys and girls
Office machine operators
Real estate agents and brokers
Salesmen
Shipping and receiving clerks
Secretaries, stenographers, typists
Telegraph and telephone operators
Stationary engineers, cranemen
Structural and ornamental metal workers
Tailors, furriers
Tinsmiths, coppersmiths, sheetmetal workers
Upholsterers

OPERATIVES

Brakemen and switchmen, railroad
Chauffeurs, truck drivers
Dressmakers, seamstresses
Laundry workers
Miners
Motormen
Oil- and gas-well workers
Operatives in occupations listed under "Craftsmen"
Sailors, deck hands
Street-railway workers
Telephone and telegraph linemen
Welders, flame cutters

DOMESTIC SERVICE WORKERS

Housekeepers, private family
Laundresses, private family
Servants, private family

PROTECTIVE SERVICE WORKERS

Firemen
Guards, watchmen, doorkeepers
Marshals, constables, sheriffs, bailiffs
Policemen, detectives
Soldiers, sailors, airmen

FARMERS AND FARM MANAGERS

Farmers (owners and tenants)
Farm managers

PROPRIETORS, MANAGERS AND OFFICIALS

Advertising agents
Buyers and department heads, store
Buyers and shippers of farm products
Conductors, railroad
Credit men
Foremen, supervisors
Inspectors, government
Managers of buildings
Managers of industries

CRAFTSMEN

Bakers
Blacksmiths
Boilermakers
Cabinetmakers
Carpenters
Compositors, typesetters
Decorators, window dressers
Electricians
Electrotypers, stereotypers, photoengravers
Glaziers
Inspectors in industries
Jewelers, watchmakers
Locomotive engineers, firemen
Machinists, millwrights, toolmakers
Masons, brick, stone and tile
Mechanics, repairmen
Millers
Molders, metal
Opticians
Painters
Paper hangers
Pattern and model makers
Plasterers, cement finishers
Plumbers, gas and steam fitters
Pressmen
Rollers and roll hands, metal
Roofers, slaters
Sawyers
Shoemakers and repairers

OTHER SERVICE WORKERS

Attendants, filling stations and parking lots
Attendants, hospitals
Barbers
Beauticians, manicurists
Cooks
Elevator operators
Housekeepers, except in private family
Janitors and sextons
Porters
Ushers
Waiters

LABORERS

Farm laborers
Fishermen and oystermen
Gardeners
Garage laborers, car washers and greasers
Longshoremen and stevedores
Lumbermen
Road-building and repair workers
Teamsters
Unskilled laborers

Examination of these jobs in terms of your present knowledge of yourself may reveal several occupations in which you believe you could succeed. Your task now will be one of a direct comparison between yourself as you are and the demands of the job that appeal. In general, success on the job is a function of three things:

1. Abilities
2. Interests
3. Motivation

The first of these, "abilities," will be used to refer to such attributes as intelligence, special skills, and personality characteristics. You must have a reasonably sound approximation of your ability to learn, of such mechanical, literary, clerical, artistic, manual and social skills as you may possess, and some understanding of the structure of your personality. All of these are testable and, with greater or lesser accuracy, measurable in amount. You will, however, need technical assistance in determining them. Since, somewhere near you, there will be a school or a clinic where you may obtain such information, it is up to you to search it out.

Once you have this "reasonable approximation" of your abilities, you are in a position to align them with the qualifications of the jobs in which you are interested. While the assistance of a vocational guidance counselor will be of tremendous value to you, nevertheless you can determine many of the important relationships by yourself. Any good school library will have a vocational guidance section where you will find material bearing upon the particular demands of the vocations you are examining. Further, you are acquainted, in all probability, with someone engaged in these occupations. Go to these persons and ask what their job demands. If you can, spend some time with them observing what they do, what is expected of them and, in general, the kind of work life they lead. Better still, arrange, if you can, to help them on week ends or after class hours, offering your services sheerly for the experience you may obtain. The value of this is that you will see the job in most of its aspects

and will be less likely to be impressed with some single and possibly isolated facts

This overall examination of future work is of great importance to you because much too often youth is influenced by aspects of vocation which actually are of slight importance A young person may think of nursing as a "laying on of hands" and of comforting the ill without recognizing the bedpan, cleaning-up-after-surgery and cantankerous patient side of the profession at all Another may consider law as a battle of wits in the courtroom without being aware of the hours of pouring over references and plodding through cases that may precede the trial One may think of the long vacation and joys of instruction with its attendant authority as the principal activities of the teacher while failing to consider the class preparation, the paper work, the committee obligations and the conflict between administrative fiat and personal conviction that may be the major time and energy consumers. The life of the physician may be thought of as prestigious healing with no thought for the years of preparation, the numerous night calls, the grave responsibilities and the subservience of the person to the group the profession demands Throughout, whatever work life is under consideration, be certain that you obtain as *complete* a picture as it is within your power to get. The more you *know* about yourself and about the demands of the job, the more adequate will be your decision concerning it.

The second term, "interests," means "What are the things in life you *like* to do?" Inasmuch as it has been shown that these experientially determined and relatively stabilized dispositions toward certain activities exist in characteristic patterns for various occupations, they become important predicators of happiness in work *(249)* That is, individuals, successfully engaged in various occupations show patterns of interests which are separate and distinct from each other. It therefore becomes feasible to determine the interest pattern of an individual and then to examine it in terms of the known interest patterns of various occupational groups The extent to which agreement is found between the individual pattern and the occupational pat-

term indicates the extent to which the person will find compatibility and enjoyment with others who are engaged in the same work. Obviously, if the things in life *you* enjoy are wholly different from the things enjoyed by other members of your occupation, you will not "fit in" and will find yourself out of step with your co-workers Since happiness in work depends greatly upon feelings of belongingness, it is highly important that you like to do the things normally enjoyed by your occupational peers A community of interests promises friendly and effective interpersonal relationships and therefore a feeling of belonging To obtain a measure of your interests compatibility, you will again need the services of a trained person.

Numerous tests for the measurements of interests compatibility exist Probably the two most used are the Strong Vocational Interest Blank and the Kuder Preference Test. The former gives interest profiles on specific jobs, e g , Accountant, Artist, Banker, Carpenter, Dentist, Farmer, Lawyer, Life Insurance Salesman, Minister, Office Worker, Physician, Policeman, Printer, Realtor, Sales Manager for men, and Artist, Author, Housewife, Librarian, Nurse, Office Worker, Physician, Social Worker and Teacher for women. In all, some forty occupations appear on the Strong Blank for Men while nineteen may be measured on the Blank for Women More, of course, are being added as research data accumulate.

The Kuder test complements the Strong since the former measures in general occupational areas such as Scientific, Clerical, Mechanical, Musical, Artistic, etc Nine general work areas are covered and again the individual's preference profile may be compared with the known preferences of persons successful in various occupations

A great deal of evidence has been accumulated to show that the interests possessed by youth are potent indicators of work happiness It has been shown that the interest patterns of youth at ages fifteen and sixteen are sufficiently well stabilized that vocational counseling may be based upon them (249, Chap. 13). Since about one-third to one-half of all sixteen- and seventeen-year-olds are employed, the utilization of interest tests presum-

ably could make for more efficient and happier employment (*17*, p. 101). In any case, ample evidence exists for the value and necessity of vocational guidance in the high school and the college. As always with man, however, we need less wishing and more action.

That vocational guidance on the basis of compatibility of interests may pay off in dollars and cents is indicated by the results of a study which showed that Life Insurance Salesmen whose interests were highly compatible were ten times more likely to sell $150,000.00 worth of insurance a year than were those salesmen whose interests were incompatible (*248*). Another investigator found that of those insurance salesmen who made high interest scores on the Strong Blank, 78 percent were rated as fair or outstanding while 22 percent were rated as failure by their managers. Of those who scored low on the test, 76 percent were rated as failures while 24 percent were given fair or outstanding ratings (*23*). Illustrations of the value of the use of tests in vocational guidance and employee selection in general could almost endlessly be multiplied but those already given demonstrate the point. It is possibly better to assure happiness in work through the application of scientific methods already known and tested (*25*). All young adults can be helped toward a more adequate vocational adjustment if only we will take the time and effort necessary to apply already developed procedures.

The third aspect of job success, "motivation" asks the question "Do you really want to do the work?" An answer to this should arise out of the information obtained from the examination of your abilities and interests. If you have made a serious attempt to discover precisely what workers in your prospective vocational area actually *do* while on the job, you are now in a position to make factual answer to the question of motivation. If you are not blinded by projected glamor or judging in terms of insufficient and therefore unrealistic information, you should now know enough about the task to determine whether or not your probability of happiness is reasonably strong. Again, you must not request *certainty*, the best you can hope for is reason-

able *probability* of success Life may be a gamble, but, as we have seen, there are ways by which the element of chance may greatly be reduced A very real question is posed. "Why bet your vocational life on emotion and pure chance when you can place your stakes in terms of a rational probability?"

Assuming that a vocational decision has been made, what may one do to obtain the kind of work for which he is best fitted? Once more, tried and tested techniques are available. We will see, as we examine them, that in this life area as in all others, pay-off is found in a you-oriented direction of behavior and that success comes to him who utilizes the potentialities latent within his new brain Let us reaffirm that success in interpersonal relations is a function of the subordination of sheer ego-strivings to the recognition of the existence of the "other one" in life

By and large opportunity on the job goes to him who is prepared for it Part of this preparation begins during the school years Although you may feel that the grades you get may be no more than "paper" credits which approximate the amount of energy you have expended, you will discover that often grades are accepted as indices of willingness to work and of ability Commonly, whether they are from high school or college, grades are interpreted by the employer as evidence of your ability to learn and to utilize your knowledge Consequently, grades take on an importance not usually assigned to them in the thinking of youth. Other things being equal (such as experience, personality characteristics, impression, etc) the job will go to the applicant who has made the best academic record There is real danger in just getting by Life will demand continuous and persistent effort; you cannot succeed in it, as you may in school, by being one-half right Further, one study of the relationship between academic record and vocational success showed 66 percent of all Massachusetts Institute of Technology graduates who were given space in various *Who's Who* publications had graduated among the top 40 percent of their classes *(175)* If education, in any real sense at all, *is* part prepa-

ration for the work life, then it is efficient planning to get as much from it as possible

Hand in hand with educational preparation for vocational success goes preparation in personal characteristics The first part of this book was devoted to descriptions of the development and structure of maladjustments, with ways of avoidance continuously emphasized. Characteristics basic to healthy personal adjustment were also described Here, we shall limit ourselves to a presentation of the importance of personality traits to job success

The causes for discharge of about 4,000 employees of large business concerns were examined to discover the bases for failure on the job Broken down into two large categories, this study showed that while 10 percent of these job failures were due to a lack of specific skills necessary to successful performance, the remaining 90 percent failed because of character and personality traits incompatible with job success Over one-half of this latter percentage failed because of such specific faults as carelessness, lack of cooperation, laziness, absenteeism and dishonesty *(122)* We recognize all of these as stemming from inefficient training practices and as symbolic of basic maladjustment. The lesson is apparent, on the job as elsewhere in life, the *whole person* is involved.

In general, industry and business are vitally interested in trained personnel who also possess such traits as cooperativeness, dependability, alertness, cheerfulness and honesty The interest in these characteristics is as great, in actuality, as is that in experience and training In fact, employers hiring engineers are reported to have indicated that they place first emphasis upon personality *(199)* We have seen that intelligence and ability function inefficiently indeed when they must operate under a heavy overburden of emotionality To be successful in any life area necessitates being able to behave freely and easily in the absence, as nearly as possible, of the inertia imposed by old brain functions

Asuming now, that you know what you want to do in the work life and that you are aware of *why* you want it, what can you do

to assist yourself in landing the job? Again, strategic planning that utilizes techniques known to be effective will be of tremendous assistance to you First of all, you must consider what is involved in your task of selling yourself to your prospective employer. You must face squarely the fact that he owes you nothing and that you must show him that he has need of you. A common error in attacking this problem is the tendency to speak and think in terms of your own needs and wishes and therefore to talk mainly about yourself

During some time spent in the personnel department of a large manufacturing company, the writer had the opportunity of assisting in the interviewing of applicants Man after man would come in and spend nearly all of his interview in detailing reasons why he *had* to have a job In over two weeks of daily contacts with this situation, no prospective candidate once gave evidence of having considered what he might have to offer the company Toward the end of the interviews, the personnel manager's patience had worn badly Complete breakdown in his tolerance occurred when a man, known to have a poor work record, pled in some emotion that the company had to give him a job because "I have nine children" The personnel manager's reply is unprintable but indicated strongly that the company was more interested in initiative on the job than in procreative ability. Brutal though it was, it was but an expression of patience overwhelmed by men who could or would not regard work beyond the myopia of their personal feelings

Employers, by and large, are not interested in what you may *want* but they may be highly interested in what you can *give* to them Consequently, as is true in all sales procedures, a need for the product must be created before it can be sold profitably The product you have to sell is composed of your education, experience and personality In order successfully to sell it, you must create a need, or at least an interest This can be done.

It is only fair, after all, that you should investigate yourself in terms of what you may have to offer an employer that will coincide with what he needs You have, already, studied yourself in the light of the demands of the occupation you have chosen; now your task is to present these relationships in a

manner that will indicate that you have a genuine *interest* in, and a willingness to work for the organization you have selected Procedure here may be described under three headings

1 Letter of Application
2 The Interview
3 Maintenance of Contact

Most individuals can write a reasonably adequate letter in so far as grammar and spelling are concerned and often, effort and ingenuity are spent in niceties of wording and expression In point of fact, most employers are relatively unimpressed with phraseology as such They also are not especially interested in you as an individual, they are interested in the extent to which you can contribute to the efficient and economical operation of their business It is this latter aspect that the letter of application should stress However, there are ways of doing this As an illustration of what *not* to do, the following letter, written by a highly intelligent college senior, is reproduced (with, however, all identifying material deleted).

Mr John R Doe
Director of Personnel
Blank Manufacturing Co.
Metropolis, U S A

Dear Mr Doe

It has been brought to my attention that there is a position open in your department in which I might be interested I wish, therefore, to make application for it

I am a senior at College University, majoring in Personnel Administration and will graduate with the B A degree in two months While attending this institution, I have taken courses in Economics, Government, Sociology and Psychology which, with the many courses in my major area, I am certain would be of great value to me in my work with you.

At college, I have been active in numerous extra-curricular activities and have been a high officer in my fraternity the past year Academically, my work has averaged in the

above-average category My health is excellent and I meet people easily and well

I shall be much interested in talking with you about the opportunities within your organization.

Sincerely yours,

Fortunately, this letter was not mailed. One suspects that no more than the first sentence would have been read and it is a reasonable certainty that neither the student nor his school would have been given any serious consideration by Mr. Doe. The general tone of the letter indicates that the organization would be fortunate to get this student on its staff Notice the disproportionate use of the personal pronouns "I" and "my" contrasted with the number of times "you" or "your" appears Unfortunately, however, this egocentric style is typical of the great majority of letters of application.

Since the purpose of the letter of application is to obtain an interview, it must, first of all, be a letter that will be read Second, it must be sufficiently informative of the applicant's education, training, experience, etc., that the employer can determine whether an interview is worth while With these criteria in mind, the letter reproduced above was rewritten in the following form

Mr John R Doe
Director of Personnel
Blank Manufacturing Company
Metropolis, U S A.

Dear Mr Doe

Your personnel practices seem to be to be the most adequate of any within the Metropolis area Because I feel that your department is an effective one, and I very much would like to locate in Metropolis, I am particularly anxious to be granted an interview with you concerning the possibilities of employment in your organization

Enclosed for your convenience is a summary of my education, military and work experience, including a recent photograph and other pertinent information which, I

trust, will give you a quick and general description of my qualifications and background

Although my graduation from College University will not take place until next June, I am writing to you at this time in the hope that an interview with you may be possible during the coming school vacation I shall be in Metropolis from March 28th to April 3rd inclusive, and will take the liberty of contacting you during this interval, if I do not hear from you before then

I shall greatly appreciate any suggestions you may care to offer.

Sincerely yours,

The enclosed material referred to in the above letter appeared as follows

Personal Experience Data

June 1939	*Graduated from Feedur High School, Metropolis, U S A*
Aug 1939	*Kull's Market, 119 Ford St., Metropolis, U S A*
Oct 1940	*Clerk and delivery-truck driver* *Salary $13 00/week*
Nov 1940	*Restorf and Son Dairy Company, Elm St , Metropolis, U. S A.*
Dec 1941	*Route-Salesman* *Deliver and collect on a 300-customer milk route* *Solicit new business* *Salary $35 00/week*
Jan 1942	*Tanlac Refining Company, 75 Consumer St , Metropolis, U S A*
Sept 1942	*Training School (1 month)* *Manager of Service Station (4 mos)* *Commission-Dealer (4 mos)* *Operate station on commission basis without supervision* *Earnings $55.00–$60 00/week*
Sept 1942	*Enlisted in U. S Navy*
Oct 1943	*Bulldozer operator in Seabees* *Two promotions to Machinist's Mate 3/C* *Selected for officer training*

Nov. 1943 College University, Collegetown, U S A.
Feb 1945 Navy V-12 Unit
[illegible]
Mar. 1945 [illegible] *U S A*
June 1945 [illegible] *School*
Line Officer training
Commissioned as Ensign U. S N R.
July 1945 Naval Net Training School
Aug 1945 Training in supervision of submarine net construction
Sept 1945 Duty aboard small ship (38 men, 4 officers)
July 1946 Executive Officer
Supervise ship's overall activities
First Lieutenant
Maintenance and repair of ship
Placed on inactive duty
Sept 1946 College, Collegetown, U S. A
June 1948 Personnel Administration major

Personal Data

Name — *Frederick van Sull*
Permanent Address — *97 Camber Ave , Metropolis, U S A*
Temporary Address — *Box 153, Collegetown, U S. A*
Age — *26*
Height. — *5′ 8″*
Weight — *158 lbs*
Marital status — *Single*
Date of Birth — *17 July, 1921*
Place of Birth: — *Metropolis, U S. A.*
Education — *Graduate, College University, June 1948, B A Degree in Personnel Administration*
Experience· — *See personal experience sheet attached*
Health — *Excellent during lifetime*
Military Service· — *46 months in U S Navy*
Discharged with rank of Ensign

Educational Data

Courses required and recommended for Personnel Administration majors which I will have completed by graduation in June 1948

(Numbers represent credit-hours)

Psychology

2 General Psychology
3 Industrial Psychology
3 Personnel Counseling
2 Personnel Testing
3 Problems in Personality
3 Social Psychology

Economics

6 Principles and Problems
3 Corporate Organization and Finance
3 Labor Economics
3 Elementary Accounting
3 Intermediate Accounting

Government

8 Business Law
8 National Government
3 State Government

Miscellaneous

3 Public Speaking
3 Journalism
3 Social Statistics
6 Sociology

In addition to the above are 72 credit-hours of Navy V-12 training in preengineering Largely mathematics and science

My work at Midshipman's school was made up entirely of Naval Sciences On a 4-point scale, my overall grade average is 3 2

An important difference between these two letters is found in the greater emphasis placed by the second upon the organization in which employment is sought. Further, much less egocentricity appears Finally, educational, experimental and personal data are clearly summarized on separate sheets instead of being condensed in vague and uncertain form in the body of the letter itself Sufficient information is given so that an employer can make some decision concerning the worthwhileness of an interview and the information itself is presented in concise and readable form Perhaps additional evidence for the value of this approach is found in the fact that the application was sent to four companies and four interviews were obtained From these, came offer of employment by three of the organizations approached.[5]

If the letter of application fulfills its function and obtains an interview, it is necessary actively to prepare for it The interview gives both applicant and employer an opportunity to examine

[5] For more detailed information see *(112,* chap 14)

each other against a background of mutual interests and problems. It is accepted that each has something to offer the other and that a mutually advantageous arrangement may arise out of the interview situation. Assuming that you know what the company has to offer you (and you should know), your problems will be to present yourself and your abilities in such a manner that the employer will recognize that you have something, real or potential, to offer him. In effecting this, specific preparation is essential.

First of all, be certain that your personal appearance is as adequate as you can make it, but do not overdress. Just be certain that your clothes are neat, clean and pressed, that your shoes are shined and that you have obeyed the advertising dicta regarding personal hygiene. Be polite and as assured and calm as you can.

Since assurance is a direct function of adequacy feelings, you can prepare for the interview by anticipating what will be demanded of you. Be prepared therefore, for personal questions such as "Tell me about yourself," "Do you have to work for a living," "Why do you want to work for this organization," "What is your father's occupation," "Do you have any relatives working for us now," "What can you do that would be of value to us," "Do you know what we can expect of our employees," "What salary do you expect," "How important is money to you," "Why do you want to change from your present work," "What would you like to be doing five years from now," etc. You can expect to be questioned, and often questioned closely. The more accurately you can anticipate what these questions will be, the more adequately can you prepare your answers for them. Expect also, to be asked something you have not anticipated and be prepared to organize your thinking as efficiently as you can. Expect, of course, to be nervous. Most people are in strange situations. However, the more efficient your preparation, the less strange the situation and hence the less your nervousness.

Try to speak clearly and evenly. Answer the questions fully and completely, but do not ramble. Permit the interviewer always to direct the conversation but be prepared to make an

honest and sincere statement of what you believe you have to offer his organization Be confident, but do not boast, although it is well within your rights to indicate special qualifications you possess if the interviewer has overlooked them Further, if *you* find unanswered questions in your own thinking about the job, feel free to ask The interview is a meeting of minds to mutual advantage Consequently, it is unwise to disregard *any* aspect of yourself or the job that may have importance for either of you The employer has the right to know of you and your qualifications, you have the right to know the specific demands of the job and what future potentialities it holds for you

In answer to the question "What are some of the principal errors young job seekers make in the employment interview?", a group of personnel managers indicated the following (not ordered in importance)

1 Lack of assurance and self-confidence by the applicant
2 Disregard for obvious rules such as "No Smoking" signs
3 Overacting Trying to give the impression of being something they are not.
4 Carelessness in grooming and in make-up
5 Gum chewing
6 Failure to do a complete and accurate job in filling out an application blank
7 Failure to talk freely and easily during the interview.
8 Running a bluff
9. Failure to be polite and civil
10 Inability to "sell" self (59, p. 37)

All of these are failures arising out of carelessness, ignorance and fear None of them are unavoidable, all may be negated through considered and intelligent preparation Just as a marketer of any product must study the product itself as well as the potentialities of a probable market, so too must the job aspirant discover what his real selling points are, where they may best be sold and what kind of a campaign will be most effective in creating a "need" for his product Failure to effect such preparation can but pit ignorance against knowledge during the em-

ployment interview and lead to the outcome inevitable whenever these two clash.

It is well to consider the possibility that, despite your preparation and planning, you may not be hired. This, however, must not discourage you. If no offer of employment is made and even if it is suggested that you do not meet the job requirements of the organization, try to keep the door open for future consideration. Above all, do not feel that you have failed. You should not, in any case, depend upon one string on your job-hunting bow. Rather, you should investigate several employment possibilities. After each interview, if you feel that you have made a reasonably desirable impression, follow up with a telephone call, a letter or a request for another interview a few days later. In job hunting, it is exceedingly important to keep your contacts alive and thinking about you. In doing this, ordinary politeness and courtesy are of the essence.

It is advisable to send brief notes of thanks to the people who recommended you. Likewise, it often helps if a note of gratitude is sent to the person who interviewed you, expressing your appreciation for his consideration and time. In this, reaffirm your interest in his organization and your hope to become an employee in his firm. This letter of appreciation is good business whether or not it looks as though there may be a job for you within the company. Pleasant interpersonal relations are always desirable and, even though the interviewer may have nothing for you, he may know or hear of something else for which he might be willing to suggest you. Maintain your contacts at all cost, try to develop more of them and keep all of them on a pleasant, congenial basis.

Getting the job is only the introduction to a life of work. The problems of keeping it and of gaining promotion will still face you. Once more there are known ways of procedure. First of all, try your best, if you need to, to cultivate a genuine interest in the job you have been given. Learn it completely so that you can do it so well that your efficiency can be recognized. Demonstrate that you can be depended upon to do a task thoroughly and well without constant supervision. The willingness to work

is still a valuable capacity, despite considerable popular propaganda to the contrary.

Certain characteristics are known to be of assistance in getting ahead on the job. One of the foremost is *trustworthiness*. Your employer will expect you (and rightfully so) to do your best every day. Constancy of performance is to be desired over sporadic flashes of brilliance. Establish yourself as trustworthy by being on time and by refraining from long and repeated absences from your place of work. Try not to be too influenced by the attitudes and behavior of older employees but rather examine the work situation for yourself and develop your own work habits. Give real value for pay received.

So long as you are exchanging your energy and skill for payment by a particular organization, be loyal to it. Do not carry your employer's business or personal affairs outside of the concern. Be careful not to criticize in a deprecating way your employer, your fellow workers or the organization's policies. If you cannot find reasonable happiness in your job, if you find that company policy is completely incompatible with your own attitudes, you should in all fairness, search for more agreeable work elsewhere. For such time as you may be associated with an organization, however, you owe it your loyalty, fidelity and allegiance in good faith.

In all of your work contacts, do not permit your courtesy to slip. Keep in mind all that has been said about the necessity in good adjustment for a "you-oriented" way of life and keep your interpersonal relations at a friendly and cheerful level. Remember that 90 percent of job failures occurred because of unfortunate and avoidable personality traits. Be cooperative, go the extra mile, do a little more than bare necessity demands. Your fellow workers and your employer are human beings and respond to common courtesy and consideration just as you do. Ask yourself always "What would *I* like to have done in this case if this were *my* business?" Proceed, then, in terms of your answer.

Set a definite goal for yourself within the organization of your choice. Recognize that the attaining of it may involve a

lifetime of effort, but know where you are going, know what to do to get there and keep the aspiration constantly before you In effecting this, make use of spare time in further study of your job and its implications Read the trade journals, talk with men who are doing similar work, keep always alert for ways and means to improve both yourself and the ways of handling your work. There will probably be many ways in which you can increase the efficiency of your job but insight here will probably not be revealed to you in a dream Instead, you will have to *work* for and at it. Your motto well could be: "Service undivided, or none!"

11. THE SEARCH FOR GOD

> What does the Lord require of thee but to do justly, to love mercy and to walk humbly with thy God
>
> —Micah

MAN'S technology stand as a monument, stalwart and enormous, to his quest for control and certainty in life This quest, however, has not been limited to the world of things and people As an extension of the drive for self-preservation (which was basic to technological developments), man eternally has sought for ways to defeat death. Out of this fear of the black blankness brought by that ultimate of sleep he called "Death," man has struggled unstintingly to obtain a measure of certainty where, in so far as he can *know*, only complete uncertainty is promised Toward this end, he has postulated numerous hopes in which guarantee of a life after death may be obtained through varying procedures Some of these hinge upon a death found in an aggressive defense of a particular solution, others are obtained by a passive acceptance of whatever life may bring, still others call for a retreat into the self in which the earthly life is spent in withdrawn contemplation whereas another necessitates an active and continuous "proving" of the right to eternal life through stereotyped actions and protestations Almost every religion, preliterate and literate alike, bears directly upon the maintenance of some kind of personal integrity in a more or less well-structured world after death

In some, e g , ancient Egyptian, the soul left the body at death to return and reanimate it at a future time. Therefore the body was preserved and food and weapons were interred with it that the soul might be sustained and protected during its journey in the afterworld For other groups, life in a world to come was

spent in pining for the world of reality among the shades beyond the Styx (ancient Greeks) through the continuum of war and feasting of the early Norsemen to a life of sensual pleasure with houri and music of the Mohammedan. Even for the Hindu, for whom Heaven is oblivion, the individual became merged with the Godhead and, although losing in individuality as such, partook of Diety itself and thus was rewarded. The attainment of this "reward" was largely contingent upon the living of a good life in terms of the culturo-religious beliefs active at the moment

Religion, therefore, has grown largely out of man's search for certainty in an uncertain world and is thus an extension of the striving for self-preservation that characterizes all animal life *(167)* Applying our thesis that only through the skills accumulated knowledge has made possible may man be able adequately to meet the problems of life, let us see how apt may be its application to this most tenuous of problems, man's search for God

As has been the case with the problems of sex, marriage and vocation, so too in this life area will it be of great assistance to us if we can disabuse ourselves of our characteristic tendency to emotionalize and bring into prominence such intellectual abilities as we may possess We must remember, however, that a real measure of our success in applying rational tactics to this aspect of life will be an inverse function of the amount of *emotion* the discussion generates. We have had ample evidence to show that emotionalizing and thinking are antithetical It is important therefore, that we strive to keep and maintain an intellectual orientation and to be constantly alert for the signs of the disintegration in thinking that emotion brings In this area, as in no other, it is essential that we keep in the foremost part of consciousness our dictum "It is easy to feel, difficult to think!"

In terms of our previous discussion, religion is seen as a natural process growing out of man's search for security. It is allied closely with other end-products of this search, namely, marriage, education, vocation and all the institutions of culture whose function it is to make life more effective and durable for man If we accept this description of the function of religion in life, we are in a position to discuss it at a reasonably realistic

level And it is imperative that we do so. Religion, as a social institution, has suffered unduly because traditionally its concepts have been developed largely in revelation and handed down as dogma Since the validity of fact by revelation is questionable and the value of knowledge by fiat uncertain, only too often has the process aroused only feelings of negation

This is understandable when we recall that just as the child rebels, in one way or another, against an authoritarian regime in the home, so too the adult, carrying with him residues of childhood frustrations, experiences resentment when patterns of behavior are dictated to him. As an adult organism with reasonable autonomy in other life areas, he often emancipates himself from religion as he does from a dictatorial parent In fact, the frequency with which modern children are found to hate and fear their parents, makes the whole concept of the "fatherhood" of God immediately suspect to many individuals Just because, over the centuries, we have insisted that the child should honor his parents, we have tended complacently to assume that such devotional relationships were therefore automatically established That such is not the case can be attested by any child therapist. Since this is true, it is certainly a procedure of questionable value to attempt to instill positive attitudes toward religion by representing God as a person similar in nature to a child's father. Such practice can be effective *only* when the interpersonal relationships within the home are affectionate and warm We have already seen that much too often this is not the case While this is but one example, it is illustrative of the necessity for considering religion, as we have considered other problems of life, in the light of what we *know* of man and his nature Here, as in other areas, we need to start afresh and to examine our concepts in terms of their contribution to the growth of the organism, trimming off the dead wood cleanly and fearlessly Practice in this will follow our procedure elsewhere We shall hold to our criterion of that which makes for growth is good, that which retards or distorts growth is bad The good we shall try to keep and to stimulate, the bad we shall discard

If we examine religion as it exists within the framework of our

culture, we immediately discover that much of it is indeed "good" in terms of the criterion we have erected for ourselves We will discover also, however, that worthwhileness of goal is not necessarily reflected in the goodness or effectiveness of the methods used in its attainment In human relations, ends seldom justify means It would seem but common sense that if we agree that a goal is worthy of attainment, we should exercise the greatest of care in the selection of the means by which we shall work toward it While we might agree, then, that religion is devotion to what man holds to be of supreme value, we also would have to admit that most of his practices of the past aimed at attainment have been characterized principally by a wishfulness approaching stupidity. Let us be honest If religion is to be an expression in essential form of man's search for security, then by all means let us be intelligent and seek to determine in calm and dispassionate fashion by what means this security may most readily be attained

It is well within reason to hold that there is much of similarity, even identity, between the teachings of Jesus and the principles of good adjustment If, as illustration of the former, we take the Sermon on the Mount, we discover that the primary emphasis in these rules of ethical behavior, is an emphasis upon the other fellow It is important to note that throughout, Christ enjoins us to forget our selfness and to consider living in terms of the behavior of others We are, apparently, to *accept* man much as he is and continuously to look within ourselves to discover the bases of antagonisms towards our fellows We are warned clearly and honestly against the practice of using *our* attitudes and *our* outlooks as criteria for our estimates of others. Strong and effective is the plea for intellectual and emotional *honesty* in our judgments of others We are urged to face ourselves squarely and to recognize and accept ourselves as we are and to take man as we find him

These are indeed principles of hygienic and effective living whether viewed from religious or psychological frames of reference. Throughout our discussion of man and his nature we have emphasized the necessity for a complete and tolerant rec-

ognition of the other one if our own lives are to be adequate and happy. Consider the principles of good adjustment enumerated in Chapter 5, their entire direction is you-oriented, they are diametrically opposed to selfness, movement is strongly centrifugal There is no antagonism here, good adjustment makes for growth in or out of the church and hence for adequacy and effectiveness in living. In a very real sense, (within the framework of our culture) the psychologically effective and the Christian life go hand in hand

It is perhaps characteristic of man that much of his energy has been directed toward the demonstration of differences between areas when an emphasis upon similarities would have been infinitely more valuable The religionist has commonly accused the scientist of "living in sin" while the scientist often has scoffed at the religionist for "living in error" Both of them are reminiscent of the seven blind men attempting to describe an elephant Both of them have viewed life from too narrow an outlook, each has been so busy demonstrating his own inherent rightness that there has been no time for work on interrelationships This does not mean that scientific justifications of religion must be made as has been attempted by du Nouys in his *Human Destiny (73)* Such attempts warrant only the criticisms leveled at them by science and religion alike It does mean that both areas, religion and psychology, are attempting a description and understanding of human nature It would seem intelligent then, to work together if such be possible So long, however, as each regards the other with marked suspicion, little cooperation is feasible

How may such cooperation be attained? We begin again with the question of attitudes, and their role in behavior Religion has long held that, for reasons never clearly stated, its concepts partake of a universal and absolute nature in so far as their infallibility is concerned. The interpretation of these concepts often has been the outcome of cerebrations by theological philosophers who were bound only by the limits of a rational logic But those who are familiar with the development and operation of human mentality commonly cannot accept the objectively un-

verifiable conclusions of "pure reason." We know all too well of the extent to which human wishes and desires condition the conclusions to which thinking may arrive. So long as logic alone is the criterion of acceptance, the outcome of reasoning will be a direct function of the value judgments with which man begins. It is, therefore, relatively easy to "prove" that matter does or does not exist, that there is or is not a God, that man is or is not a rational being. So, rather than immerse ourselves inextricably in a maze of philosophico-theological ponderings, let us try to see what religion has to offer *man as he lives* his life span.

In this attempt, it must be recognized and accepted that both religion and psychology will have to escape from the rigidity of their own particular assumptions. Religion will have to question, sincerely and honestly, the eternal validity of many of its traditional concepts. Psychology must be willing to admit the reality of the human need a functional religion may fill. Each has much to offer the other but neither can succeed on all or nothing bases. We must recognize that the insisting upon complete and unchanging acceptance of any interpretation of human behavior is but a thinly disguised version of the child's: "Do it *my* way!" In any event, the system of human affairs that cannot withstand searching scrutiny without fear must be rather shakily based. Just as the poorly adjusted individual, touched upon a psychic "sore spot," hastily begins to assemble defenses against potential threat, so too does the inadequate system of human relations react against change. In the person or in the institution, basic insecurity breeds sensitivity to threat. An instant and emotional reaction to the suggestion of "imperfectness" is almost *prima facie* evidence of the existence of present, although often quite unrecognized, insecurity feelings. That which is secure withstands, that which is insecure withdraws.

Religion, of course, ever has fulminated against change. It is within the life span of most of us that the "devil" has appeared in the various guises of Physics, Biology, Psychology and Sociology. By and large, as each of these areas began to adduce facts that religion felt to be threatful, it has reacted violently and forcibly. Rather than to search for ways to incorporate the

discoveries of science into itself, its practice has been to reject and deny It is impossible, of course, forever successfully to deny verifiable fact Consequently, religion has paid in price for its reactionary behavior a full measure of skepticism and disbelief on the part of man in general

Religion's steadfast refusal to move with the changes in human knowledge time and experience have brought is an important reason for its loss of vitality in the lives of mankind today It continues to utilize concepts and practices which were evolved hundreds of years ago when the masses of people were ignorant and superstitious. If these same tactics fail to be effective at the present, religion has only its own intransigence to blame

Much of the refusal of religion to adopt scientifically discovered facts is the result of human attempts to interpret the teachings of Jesus To all such attempts, the human organism has the right to ask "How do you know?" "What is the source of knowledge?" and kindred questions To the commonly given answer that these truths were "revealed," human intelligence has the right to be skeptical We know far too much of the manner in which wish and desire may be answered in dreams or in hallucinatory experience to be convinced or especially impressed by their occurrence Nor does it bespeak rationality in man to accept evidence uncovered in times when dragons, ghosts and witches were as real as cats, dogs and horses We are only amused at the advertising techniques of the 18th century but we continue to try to sell religion with tactics developed in the 4th and 5th

That this is not mere rebellion nor yet skeptical twaddle may be discovered by anyone interested. He has merely to read translations of the works of St Augustine (*ca* 400 A D) and then to examine these same concepts dressed in the "new look" of the Neo-Orthodoxists as portrayed by Reinhold Niebuhr. One finds in both the same condemnation of man as an intrinsically weak and wicked vessel doomed to destruction unless he supplicates God's grace. "Original sin" is as inherent an aspect of human

life as intelligence and man is damned before he begins [1] One can understand how Augustine might write in these terms, little was known about man then and myth, superstition and knowledge were accorded equal status However, it is most difficult to understand how an intelligent man writing on human nature today can insist upon the maintenance of concepts so decidedly out of line with what is *known* The knowledge psychology has brought to bear upon what we call human nature is distinctly opposed to the inborn characteristics apparently so dear to the heart of the religious traditionalist. It looks very much as though the latter merely *suspects* man, while psychology *knows* him

But this is not the worst From what is known of motivating factors in the guidance and direction of human behavior, it is sheer defeatism to give the assurance of failure before a task is begun. How effective can be any program of training when it is initiated with the statement. "You never will be able to make it, you're too stupid However, if you do exactly as I say and follow me in unquestioning obedience leaving all decision to my judgment, I shall be willing to assist you in what probably is a hopeless task " The blind leading the blind indeed

Modern psychology contrariwise, regards man as infinitely potential It is literally true that we do not know what limits have been set upon man's ability to accomplish, we know only that the abilities of individual men exist in varying degrees. Rather than being bound by inherently directed behavior patterns, psychology finds man *free, plastic, docile* Man becomes, as has been indicated, what he has been trained to be, but to the best of present knowledge, he is *not born that way* Man, in a very real sense is free to choose his behavior but we know that this choice is a direct function of the kind of early experiences given him It would seem much the more reasonable way to seek to determine what life experiences are requisite to the development of the "good" life and to put them into practice rather than to rail against man's supposedly inherently sinful pretentiousness Strongly ironic is the practice of the religious

[1] For a healthy antidote to the Augustine-Niebuhr vindictiveness see

traditionalist who, accepting as rationality the rationalizations of an ancient converted sensualist, continues to reify the end-products of human frustration into actualities. Of these Burns wrote.

> *But och, I backward cast my e'e*
> *On prospects dread,*
> *And forward, though I canna see*
> *I guess, and fear*

We have already seen how fearful seers predict ruin for the home because of the changes social progress has effected in its functions. We find identical reactions in those anxiety-bound souls who see religious nihilism in scientific advancement. For these latter also, change is chaos and they fretfully seek forever to lurk within the pseudosecurity of their mother surrogate—tradition. Consequently, they regard psychology, psychiatry and all mind-healing psychotherapy as unauthorized invasions into the sacred prerogatives of religion. If, however, religion has lost ground in this area, it is interesting to discover why the loss has occurred.

In general, mental healing has become the province of secular technology because religion has insisted that the needs of man are those formulated by traditional religion itself. Thus man, weak and sinful, must be given comfort and solace by the church. Now, in medieval times, this may have sufficed. Times, however, change, and traditional religion has not. Attempts, therefore to meet the problems of modern man with procedures developed under entirely different social conditions can but meet with failure. Unfortunately for religion, man's difficulties have augmented and a real and pressing need for assistance in living has developed. While it may be true that a factor in the increasing insecurity of man is his loss of functional religious ties, it is not difficult to show that this loss has arisen out of religious intransigence and not out of inherent wickedness. Religion has failed the pragmatic test of usefulness in ministering to the soul diseased. Man will not be content with futility however holy, if he can find reality, however secular. Psychology

and psychiatry were, in a sense, *forced* to take over in a life area after religion failed.

The reasons for this failure have been structured Medicine (in the broad sense) took over psychotherapy from religion because *(148)*

1. Religion insisted upon approaching all human problems in terms of ultimates All mankind was treated in precisely the same way as though all had slightly variant aspects of the same problem This procedure went the way of all panaceas, and medicine, interested in the individual and willing to work in terms of his uniqueness was a natural gainer However essential it may be to orient man toward the ultimate, it remains more essential to meet him and his problems in terms of the present.
2. Most religious issues are also moral issues The individual, suffering and in anguish because of unfortunate life habits, was more likely than not to be given a moral lecture when he took his problem to the minister. Approaching the psychotherapist, however, he was treated only as a sick human being without the unnecessary and futile exhortations against perversion and sin The psychotherapist sought to understand him, the minister to convince him of his "guilt"
3. Religion has remained fixed in its absolutes Steadfastly, it has fought against progress in medicine, psychology and life. It has opposed anesthesia, vaccination, educative processes in venereal disease and sex education Inconsistently, it has damned man as a sinner and yet insisted upon maintaining the ignorance that led him to become one All of this has rendered religion suspect in the thinking of mankind Man has come to expect that from the pulpit he will hear only a condemnation of things current and a plea for the return to the "faith of our fathers" (When, coincidentally enough, religion was *the* top dog in society)[2]

Characteristically in life, when either a person or an institution fails to do a job society has assigned to it, some other, more

[2] One may suspect the Neo-Orthodoxists of a bit of Machiavellianism here Promoting, as they do, an ultraconservative theology linked with a highly radical sociology it is not unthinkable that they may contemplate a time when, within a general social chaos, only the church stands unchanged Obviously, man would rush for the security and sanctuary provided by a religion rampant over confusion and the social dominance of the medieval church would be reestablished

effective agency takes over. In the area of psychotherapy, this has happened to the church It failed to keep abreast with changes in the understanding of the causes of behavior disorders, and since it could not, therefore, meet a real and pressing demand, man has looked elsewhere for the acceptance and assistance he could not find within the church Whenever an individual or an organization of individuals loses contact with whatever is reality for the time, life passes them by leaving only bewilderment, fear and resentment in its wake In the area of psychotherapy, the church has failed to meet a legitimate social expectation The application of a known principle of mental hygiene is indicated· whenever the person cannot change a disturbing situation, he must attempt to change himself

This the church can do, this the church must do if it desires to become a part of reality rather than remaining apart from it In some religious areas, attempts are already under way to reduce the gap between modern psychology and religion *(139)* Joshua Liebmann has written wisely and forcefully in his *Peace of Mind (157)* Straws appear in every wind indicating the direction religion must take if it is to become again a truly functional force in the lives of men. *The Journal of Pastoral Care* began its first volume in 1947 and is devoted to the extension of understanding of the role psychology can play in religion Several seminaries are beginning to stress the clinical aspects of the ministry and to give prospective ministers more psychology and less theology *(79)* Religious *thinkers* are striving against the forces of reaction to bring an intelligent liberalism into theology *(270)*. All of these trends are fortunate for religion as a live agent in society and desirable for psychology as an effective aid to adjustment.

Rapprochement between psychology and religion is possible and essential We have already seen that the insecurities, anxieties, fears and deviant behaviors of the adult are in large measure functions of what happened to him as a child The causes of behavior disorders in both the normal and the abnormal populations are well enough understood to permit a comparison between psychological and theological descriptions of

human nature The psychologically normal and the religiously good adult is one who is free and able to love without the hindering apprehensiveness of anxiety Both are able to perceive themselves in their relations to others and feel no compelling need to assert *their* individuality Both are capable of suspended judgment and of the postponement of present pleasure for future happiness Further, all of these behaviors are carried out in the absence of renouncing, denying or avoiding defense mechanisms There emerges a close identity between the behavioral ideas of normal (efficient) adjustment and those of Christianity Other than fear of the unfamiliar, there is no reason why the religionist should not make use of the knowledge and concepts of contemporary psychology in his descriptions of human nature *(139)*

One may go farther and show, that at the fundamental level of understanding, there is a strikingly close resemblance between the Christian doctrine of sin and the psychological concept of emotional immaturity. We have already indicated that when the child meets with serious frustrations, he responds variously with withdrawal, attack or fawning dependency. These behaviors were also shown to be protective devices by which the individual attempts to meet the threat he perceives in an apparently hostile world. These trends were seen as the bases for neuroses as well as the underlying structures for inefficiency in daily living. Christian theology sees the roots of sin in a basic egocentricity and ego-protectiveness characterized commonly by what is called an absence of faith Presumably this means that such a person has faith only in himself, fears and suspects all others and sees life, past, present and future, as fundamentally threatful So too, does the maladjusted person. Theology also holds that when man is of little faith, he reacts in an aggressive pridefulness or retreats in slothful fear It is readily conceivable that these terms describe what we have called the "search for apathy" and the "search for antipathy." Pride and fear may well be central to the Christian concept of sin and the psychological concept of maladjustment Such differences as have appeared may be resolved in terms of a se-

mantic unity, providing, of course, that both sides are willing to work toward solution

We have been told, on reasonably good authority, that the foremost concern of ethical religion is "personality" or the "Spiritual man" *(150)*. If this is true, then the reactions of both sinful and maladjusted man arise out of common factors In both we may discover defensive reactions of a personality or soul too fearful of its limitations or too proud to admit them In both there may be an overassertiveness or a panicky retreat whenever the possibility of frustration appears on a life horizon *(139)*. Both are too weak to stand alone and to face life freely, both are forced to search for the artificial support of defense mechanisms. Man, whether called "sinful" or "maladjusted," *may* be expressing identical forms of behavior, only subservience to traditional presuppositions precludes the possibility

Another common meeting ground between religion and psychology is to be found in the area of the treatment of the sick soul or unhealthy personality We know that basic to the success of the psychotherapist is the establishing of *rapport*—a permissive and accepting situation in which the ill individual experiences confidence and faith in the therapist. In this situation, the sick person recognizes and feels that he is being understood *as a person* and that the therapist not only has respect for him and his difficulties but also feels that these can be markedly reduced in intensity. That is, the person senses a sort of joint attack on his problems and hence a commonality of purpose He, therefore, no longer feels alone and defenseless but rather gains strength from the conviction that *now* he has an ally, competent and skilled. Out of this faith in the therapist and belief in the aid he can give there arises an ultimate ability to cope with life alone The therapist, however, does *not* gain the respect and confidence of his patient by lecturing to him or by moralizing about his problems Rather, he *accepts him as a sick individual for whom there is every hope of ultimate relief.*

In gaining this relief, the patient must be led back into the maze of his habit patterns until those situations basic to his difficulties have been discovered and, in a sense, relived This

process inevitably is painful and distressful to the patient and great therapeutic skill is needed to be certain that these pain-producing experiences are not uncovered too rapidly nor yet before the person is strong enough to deal with them. In essence, the person must undergo a measure of pain and struggle before he can find any lasting relief. A whole personality arises out of suffering and out of the development of strength with which to deal with it. Psychological maturity therefore, becomes in major part the ability to endure and effectively to cope with the suffering and anxiety which arise out of frustration. With such maturity should also come the faith in, and feeling of, belongingness with all mankind that religion has held to be one of the tasks of man. The wholesome personality therefore implies the kind of security feelings that apparently are requisite to the successful life application of the Christian doctrine of the cross. Effective adjustment whether considered psychologically or in terms of Christian ethics appears in the *actual living of life*. Witnessing it in operation is the most potent argument for its value.

It takes no stretch of the imagination to accept the fact that just as the psychotherapist may assist the person to psychic wholeness, so too may the adequately trained minister assist the individual to find faith in God. Both procedures demand an increased personal integrity coupled with the development of faith in man and in life. Just as confidence in oneself and the development of inner strength is the outcome of successful psychotherapy so likewise may confidence and trust grow out of an effective relationship between minister and layman within the redemptive fellowship of the church. In both, the person *grows* in frustration tolerance and in the capacity to endure.

This growth in personal integrity, whether it be in personal or superpersonal relations, serves to free the individual from the compulsiveness of egocentric living. He becomes, consequently, more readily able to accept the effects of his behavior and to search for varied ways of coping with his problems. He becomes more plastic, less rigid, he is no longer bound, but is free. He becomes capable of making the kind of choices that enable him to behave as a member in good standing within his group.

Presumably this greater personal freedom in the selection of life patterns permits for the freedom of choice theology has insisted man possesses *(139)* In this sense, only the psychologically efficient and effective personality is really *free*

The concept that freedom is attained only through efficient adjustment carries important implication for religion If it is true that the "good" life is a function of the adequacy of the individual's adjustment techniques, then it immediately becomes apparent that much that has passed for "religion" in the lives of people has been only a manifestation of a neurotically driven search for security. Religion must be willing to recognize therefore, that religious acceptance and belief *may* be the result of sheer anxiety strivings and hence possess no more intrinsic worth than any other escape mechanism the emotion-tormented personality may develop Just as all of the behavior patterns of man do not have equal value in his attempts to adjust, so to all religious belief is not equally desirably based Religion itself must attain sufficient maturity so that it can accept the fact that much too often it provides a sort of superficial sanctuary for the psychologically inefficient person A genuinely effective religion, truly functional in the life of the individual, can come only from a freely given response by the person It cannot be the result of inner compulsion alone When the religious life is an outgrowth of compulsiveness or fear it is superficial and transient, it has no real meaning or value

Religion has erred seriously in its failure and refusal to recognize these possibilities It has been accustomed to point with pride to the fact that, in times of stress, man has sought religious consolation It also has failed to admit that, often as not, once the stressful situation has passed, man's need for religion ceases to exist That religion has felt that this "place of sanctuary" was an exceedingly important aspect of its being was attested by the glee with which the statement "There are no atheists in foxholes" was welcomed by it during the war Is there any real evidence that this stress-induced orientation to religion has maintained itself? Actually, a recent study showed the veteran to feel less religion need than the non-veteran *(4).* Religion

must recognize clearly that man, over the centuries, has used it, with or without deliberation, whenever he has felt seriously threatened With such recognition conceivably could come a search into ways by which the church could become a *constant* rather than an occasional force in the life of man

Other evidence to show that man tends to seek religion primarily when he is threatened may be found in the much disputed relationship between religion and civilizations Some scholars of history, e g , Gibbon, have seen religion as a menace to culture and in large part responsible for its downfall since as a civilization fell there has been a resurgence of religion Others, e g , Toynbee *(259)*, advance an opposed explanation in which civilizations are but a kind of stepping stone on which religion mounts in ever increasing progress There is, however, at least another explanation of the fact that as civilizations weaken and die, religion flourishes If it is true that man, an emotional animal, adapts with some facility so long as he feels reasonably competent to cope with life, but seeks protection and security to the extent that he feels threatened beyond his ability to cope, then religious resurgence in times of stress would be expected and predictable. Just as the child, frightened by what it does not understand, runs crying to its mother, so man, faced with forces too intense for him to meet, searches avidly for his mother surrogate, religion No credit is due religion for this, it becomes merely a larger, somewhat more tangible, protective-escape device man *utilizes* when the things and events about him possess a frightening unpredictableness. This is all the greater reason why religion, like psychology, should emphasize and be principally interested in the well-adjusted and adequate personality

Religious feelings, when growing out of a compulsive necessity or fear of threat, must be recognized as only a symptom of a self-centered insistence upon, and search for, a reestablishment of the security the child may feel in the arms of its mother It is probably true (although so far as can be determined, no evidence exists) that much of what passes for religious faith partakes strongly of this wishful search for a parent surrogate.

Infinitely more desirable would be a response to God as the ideal fulfillment of human capacity and power, a response freely given without any undercurrent of fear. For man to make free responses however, he must be able to meet life on a face-to-face basis and must have come to know through the strength-giving crucibles of experience that growth and therefore freedom come only through a personal victory over frustration. Toward this end we need to apply the knowledge we possess concerning how adequate and free personalities may best be developed. If we know anything about this, we know that the most *inefficient* techniques are those centering around authoritarianism and fear, the very procedures of control religion traditionally has used. Their failure to be effective should be evident enough by now to the most rigid of traditionalists and man may well ask "*What* has religion done for me?"

Let the church be honest, let it put its value to the test. Let us do our best to rear effective and adequate individuals, individuals who are capable of meeting life frontally and who are competent to cope with it. In this, let us apply what is known of mental hygiene and become as personally adequate a people as is humanly possible. If under these conditions man still feels a need for religious faith, then the church will know that it has something real and worthy to offer mankind. Until, however, the church becomes willing to accept the gauntlet, it can only fulminate, rationalize and threaten. In a mental hygiene movement the church can be, as religious liberals tell us, a potent force for the betterment of all of man. It remains to be seen whether the church has the courage to try.

In any procedure, the church would have to give up its traditionally favored techniques of control, i.e., threat and fear. In terms of any intelligent criterion, it should do this anyway. The use of hellfire and an eternal damnation to it probably was highly effective in an era when man in the mass was accustomed to a slavish obedience forcibly thrust upon him by the lord of the manor. To the unlettered, superstitious and gullible person of the middle ages for whom heaven was "up" and hell

was "down," the threat of burning forever was real and potent[3] Consequently while even then fear was not a desirable means of control, it was nevertheless an effective one. We may well question, however, its effectiveness today At best it can but add to the guilt feelings and anxieties many individuals carry about with them and therefore aid in breakdown rather than in adequacy

The use of fear, in whatever form, in the control of human behavior serves only to induce repression, to develop false ego-ideals and thus to enliven and aggravate feelings of guilt. Since we know that the human being arrives at a functional maturity only through self-realization and self-acceptance, we can hardly expect unity to arise out of procedures whose only ultimate result is increased disunity. Personal effectiveness and freedom will not be developed by continuous repression and a refusal to admit moral failures, but arise only after these failures have been recognized, examined intellectually and accepted as an integral part of the personality The psychotherapist knows that his patients can come to do this only when they are convinced that he accepts and likes them, failures and all When the minister and his religion come to accept man *as he is*, with respect for his successes and tolerance for his failures, then religion will have come of age and may hope to begin to be an active agent in man's life Said another way, when religion is willing to *apply* the teachings of Jesus to everyday life, it may find a sanctuary of its own in the hearts of mankind

It is a serious commentary on religion that its maintenance of blind obedience to traditional tenets actually has done very little in improving the world In major part this has been a result of the failure of man in general and of religion in particular to respect that most basic of human rights, the dignity of the individual. The central task, both of religion and psychology is that of leading man to understand himself if he ever is to be-

[3] Actually this was a vicious practice All of us have had experience with the intense pain induced by a burn Imagine, if you will, such pain spread over your entire body and continuing without letup for the remainder of eternity Some idea of the horror and fear developed by this threat may then come to you.

come able to understand others and to be understood by them. Only through the trial by strength of self-understanding may come the mutual respect for human integrity we label "Christian Brotherhood." Too often have we humans mistaken paternalism for fraternity *(91)*

Such attempts to arrive at a mutual understanding of man are feasible only if we are willing to engage in more consultation and to insist upon less "ought," if we can learn to cooperate more and to cry "must" less and if we are able to search for increased understanding and to make use of fewer "don'ts" *(178)*. As in problems of individual adjustment themselves, these are harder ways

Both religion and psychology have been remiss in meeting their obligations for greater understanding of and within mankind Historical religion with its traditional and antiquated self-image of a structure absolute and unchanging in which "truth" is given once and for all, has tended only to add to the conflictful burden of man It has made for an increasing disunity of personality and therefore has failed to meet the test of utility in life. Religion's worth is to be measured in terms of what it *does* for man.

Psychology has failed in that its own traditionalized ego-ideal as a fact-finding science has worked seriously against its application to practical problems in life This traditional aspect of the field, which still has a large following, has proved futile for the understanding of man It has been said, and probably in much truth, that a person who insists upon the accumulation of isolated facts is deficient in imagination More may be said It is probably true also that the person who seeks the cloistered security of the scientific laboratory as a way of life is just as compulsive, just as driven and just as basically insecure as the person who searches within the narrow limits of pure logic for the revelation of a personal God. It is doubtful that much of genuine utility for everyday problems of living may arise directly out of the motives that force an individual to conceal himself behind barriers—whether these be made of scientific fact or of wishful myth.

Fortunately for both fields and for man in general, many workers are recognizing the need for synthesis. When, therefore, the expert in theology and the expert in psychology sit down together to work out and to relate the contributions of these areas to the betterment of man, the actual and potential knowledge thus obtained will serve as a stabilizing function for both. Isolated attempts to do this are numerous but real and lasting benefit will accrue only to a united and frontal assault upon the problem of man. Then, and then only, may psychology and religion come of a mature age and may man become truly free.

The potential contributions of the two fields to more effective living are worthy of note. We have said that God, the supreme value for man, is to be considered as a complete realization of man's capacities and abilities *(270)*. This may be understood as *growth* in meaning, understanding, relationship and kinship in the world *(269)*. This growth may be considered as a supreme value because

1. The greatest worth for man is to be found in this experience of growth.
2. Its potentialities are unknown, it possesses an inherent worthfulness that transcends present knowledge.
3. It is basic to increasing effectiveness in living.
4. It makes possible and implies the most efficient (in terms of interpersonal relations) world that can be realized and is the only way by which this efficiency may be attained *(269*, p. 51).

We may, therefore, consider God as being this growth of meaning and value in the world. So understood, God becomes a superhuman process but not a supernatural one. God is to be found in the means by which man may attain full and complete realization of himself and of his relationship to and kinship with others of his kind. The understanding of God and the attainment to him become a verifiable reality in life whenever man is able to cast off the binding strictures of egocentricity and thereby obtain the integrity and freedom that will permit him to search. But before he can begin it, he must be strong with the strength that only good and efficient adjustment can

give In the structuring and development of this adjustment, the knowledge psychology has made available is essential In a sense, we already have the "know-how," the technology, for assisting man in his search for God but we have been criminally lax in its application It is true in large measure, that in others we find not only ourselves, but also God Abdul Mansur (Firdausi) the 11th century Persian poet said this in four lines.

No one could tell me what my soul might be.
I searched for God, and God eluded me,
I sought my brother out, and found all three,
My soul, my God and all humanity.

Psychology has other, and possibly more direct contributions to make to religion These lie in the knowledge and skills available to those who seek to transmit religion to men There is a vast store of utilizable and practical information waiting for the minister or Christian educator who is willing to search it out One religious authority has structured these contributions as follows

1 Objective rather than subjective understanding of human behavior
2 The ability to regard man more as an engineer looks at a bridge than as a judge may view a case
3 The general principles of growth and development
4 Knowledge of the conditions under which "normal" growth is optimum
5 Understanding of the laws of learning and those bearing upon the guidance and control of behavior
6 Understanding of the typical problems man faces and of the forms his inefficient resolution of them takes with a consequent ability to recognize the symptoms of behavior disorders
7. A practical understanding of the principles of adequate personality development
8 Insight into the important causes of maladjustment
9 Skill in the special techniques of interviewing, counseling, obtaining a case history and of establishing rapport
10. Learning the techniques of adapting therapeutic procedures to the unique demands of the individual (269, p 428)

Basic to the successful utilization of this knowledge, is the permissive and accepting attitude of the person who is interested *genuinely* in his fellow man *as an individual* and who does not regard him as a "soul to be saved" Despite the fact that Jesus warned us repeatedly against tendencies to sit in judgment upon man or to use our own standards to judge him, the religious proponent traditionally has attempted to guide and control human behavior by a moralizing directiveness. By and large, in the church or in the clinic, directive, advice-giving, exhortation-via-threat procedures have failed signally to produce durable changes in the life styles of men We have abundant evidence to show that the most effective behavioral changes *grow* out of a situation that

1. Emphasizes personal growth rather than personal problems
2. Is sensitive to emotional feelings rather than to intellectualized attitudes
3. Attempts to understand the *immediate situation* as it is influencing the person's behavior *now*
4. Recognizes that the counselor-counselee relationship itself is an opportunity for *a growth experience (214, 223)*

Only the person sufficient enough to resist the love of authority (which unfortunately appeals strongly to preachers and psychologists alike) is able to forego the ego-bolstering desire to "do good" in the lives of people The attitude fundamental to the successful application of these principles of effective interpersonal relations approaches the personal humility and the trust and faith in the inherent ability of the individual to make his own good choice of life style that Jesus taught Once more we see the necessity for good adjustment if the individual is to be at all effective in either the role of the leader or the led The need for the intelligent application of available knowledge to the behavioral development of man exists in all of the institutions of society. A firm and pressing mandate that this need be met clearly faces the church The evasion of this through verbal

appeals to authority and tradition is but another attempt by fearful men to find security in fantasy.

The minister, who is equipped with the knowledge of man psychology has obtained and who is sufficiently adequate personally so that he can work with others in the absence of any need for self-enhancement, can assist those who suffer because of guilt feeling through understanding and acceptance. He can help the grief-stricken to regain balance and optimism, he is able to increase the faith in life of the fearful and anxious and to aid the embittered to find goodness in man. In general, he can assist his fellow man toward an increased sense of personal worth, toward a feeling of fellowship with all mankind and toward a trust and faith in life. He also will be capable of effectiveness in the guidance of youth and in assisting them in the working out of an adequate philosophy of life *(133)*. In the absence of this knowledge and of personal integrity, he can only confuse the thinking and increase the anxiety of the individual.

In consideration of the desirability for good adjustment in man, let us examine the concepts of a liberal religion to see how they fit with the criteria for growth. Keeping in mind that the Fundamentalists (by whatever Neo-hyphenated-term they describe themselves) while marching resolutely into the past, still insist upon a completely authoritarian regime whose King is a personalized, jealous, vindictive and threatful Being, let us contrast the credo of the Liberals.

We believe that the chief end of man—what he truly wills when he is fully conscious of his will—is the fulfillment of all his capacities and powers, in their rational unity.

We believe that what this fullness of life means is gradually learned through the sincere struggle to attain it.

We believe that each man's self-realization includes that of all men.

We believe that the universe is such that righteousness has at least a chance to triumph.

We believe that God is to be thought of as the perfect fulfillment of all our capacities and powers, as the Perfect Person of our ideal, that this ideal is the supreme reality of life, that He ever exists on earth in the degree that life unfolds toward His perfection.

We believe that we are free, that, in the last resort, we ourselves are responsible for our lives, that, included in the determinism of science is our own self-determination

We believe in science, together with its necessary faiths, as an integral part of our faith, and we encourage it as the most efficient means man discovered for transforming both nature and human nature toward the end of life which is our supreme faith and for which all our other faiths exist [4]

We find in this description of faith a rational, *reasoned* account of man's relation to and with the ultimate in life There is no appeal to pure reason, no emotionalized pleas nor threatful dogma, here indeed do we find new brain application to the most difficult and uncertain problem man has to face There is a tolerance and permissiveness implicit in this credo that is totally lacking with traditional precepts In fact, we are asked to revise these beliefs as we will, as best fits our own needs, being cautioned only that we do not, in so doing, go beyond the bounds of rationality *(270,* p. 71) This structure of human-superhuman relations fulfills all demands for the efficient life These demands succinctly may be described as a task, a plan and *freedom* for fulfillment Within the bounds of these criteria lies hope for man, indeed, in so far as we know, the growth potential within the task, plan and freedom outline of life contains the only real hope for an effective, efficient and adequate man Any narrowing of the freedom to explore within the plan while engaged in the task serves only a stultifying and restricting function Unnecessary "thou shalts" and "thou shalt nots" reduce the plasticity of response that is man's most fortunate gift, a plasticity originally broad enough to include feelings of kinship with the world of others *if* no authoritarian and fear-producing restrictions distort and trammel its growth As the authoritarian parent may rear a shrinking, retreating and ineffective child, so may an authoritarian church continue and maintain feelings of worthlessness within the adult In this process, both parent and church as vampires have drained security from man to main-

[4] J Hudson, "The New Orthodoxy and Human Progress," in H Weiman, and others, *Religious Liberals Reply,* Boston, Beacon, 1947, pp 70-71. Reproduced by permission of The Beacon Press

tain a semblance of life in a type of behavioral control moribund for centuries

It already has been said that the attitudes and behaviors of the well-adjusted individual are characterized by such terms as "balance," "stability," "integrity," "optimism," "sociability," "courageousness," "consistency," etc It was also shown that only through freedom to learn by doing may these desirable traits be developed Religion can be and should be a motivating agency in their development and maintenance but it can only work against them so long as fascistic authority is its mode of control Ironically, it was an essentially fascistic regime that crucified Christ

Midnight and blackness for mankind
because men ever refuse to be themselves
to be what God created them to be
In their futile and poignant search for happiness
in their mania for escape from reality
their lives are mean indeed
In their quest of power
and its misuse when finally attained
are surely the seeds of disintegration
For man would come by happiness with ease
with slippery methods
with over quick results
Yet happiness we know too well
is solely the product of inner peace
This is what I now prize and hold dearest worth,
The knowledge that happiness will come
only when the mind is at peace
only when one feels within oneself a soul pulled
together with one consuming purpose
Now I know that to live completely
is to live selflessly
to give with all one's might to one great ideal
Now I know that true happiness comes from service to
one's fellow creatures
that the losing of life for your ideal of life
is the discovery of life
Now I know that giving is the way for both the
giver and the receiver

If I write, I shall write with the joy of others as my purpose
If I heal, it will be for the satisfaction of the healing
to my brother
If I build, it will be to give man the comfort of a home.
If I sing or play, it will be for the pleasure that is
mine to give
If I walk with men as guide
it will be for the happiness I seek in giving all I have
for the love of them
If I love (as surely I must), I shall give myself completely
to my lover, and if I marry for the child
our love produces
If I teach, it will be for the youth I hold within the spell
of knowledge
If I go on missions, it will be without regret to give all I
have in selfless dedication.

Now I know that happiness is the mastery of oneself which
comes from settling what one is and living with that self
without regret.
Now I know the cardinal sin, the one monstrous deception—
is self-deception.
First of all, be what you are and with the help of God
what he would have you be
Now I know that the light men truly seek comes ever
from within
This light from within alone will pierce the midnight
and the blackness
You and I and everyone can hold this light of peace and
happiness to all those lost in darkness
If we but be the light[5]

[5] Reproduced from *Motive,* May 1947, vol vii, No 8, by permission of the editor and author, Harold Ehrensperger

12. MATURITY IN OLD AGE

A happy youth, and their old age
Is beautiful and free
—Wordsworth, *The Fountain*

THROUGHOUT our discussion, we have emphasized the necessity of *plasticity* in behavior if man is to be an effective organism. Nowhere is this need so important as in later life However, just as the time to prepare for the adjustments of adulthood is found in earlier years, so too, the time to prepare for old age is *now* Actually, of course, old age, as an inevitable result of living, should be part and parcel of the ordinary expectations of life But, since man customarily attempts to postpone action on a problem until he is faced with it bluntly, most of us live into senescence with little or no understanding of its nature or preparation for its advent. It shall be our task in this section, to show that while all of us must *grow* old, there is no logical reason why we must *become* old

We shall see that in terms of social stereotype the word "usefulness" connotes definite age ranges We shall also see that abundant evidence exists to show the complete fallaciousness of the accepted belief that man "outlives his value" As we attempted to dispel the myths typically surrounding sex, marriage, vocation and religion, we shall also strive to exorcise the malignant superstitions that too long have forced the old person into psychological stagnation and a too-early death We have only to examine the life attitudes and behavior of the "typical" aged individual in our culture to discover how tragically accurate is the statement "What people believe to be true *is* true for them" The old person, cast in the role of dotard by a society-director steeped in traditional myth, accepts his part

and waits, in resigned despair, for the final curtain This need not be Further, since we are becoming a progressively older culture, this must not be if life, as we know it in the United States, is to maintain itself

Something of the changes that have occurred in the past and
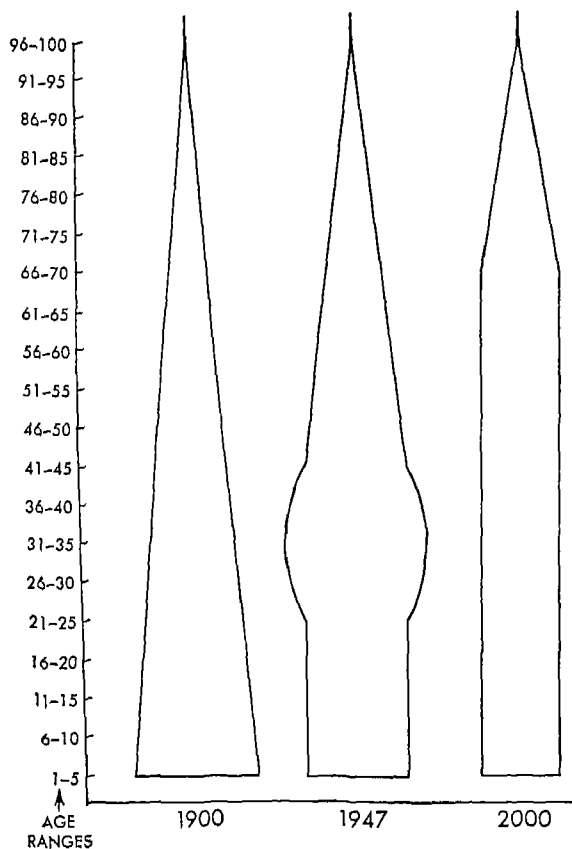
FIG 6 Schematic Diagrams Showing Variations (actual and expected) in the Age Distribution of Our Population Drawn from a description given by L Frank, "The Older Person in the Changing Social Scene," in G Lawton (ed), *New Goals for Old Age,* New York, Columbia University Press, 1943, p 38

that are to be expected in the future may be seen in the facts that around 400 B.C., the average age of man at death was twenty-nine years. By 1800 this had increased to thirty-five and a century later had risen to forty-four. In 1935, life expectancy was sixty-one, in 1942 it was at sixty-two (*151*, p. 12), and now is at sixty-seven.[1] At present, there are 9,000,000 men and women in our country over sixty-five years of age, and, if present trends continue, there will be at least 26,000,000 in this age group by the year 2000. Something of the situation here may be gathered from Fig. 6 which shows in graphic and schematized form, the age changes in our population during the current century. It is obvious that we rapidly are becoming an older people. We cannot escape these facts.

Our traditional attitude toward and treatment of the aged within our society have been characterized by an irrationality so complete that only man could have conceived it. However much as we may wish to remain in the slough of tradition, we must, as we hope for survival, begin to recognize and to accept the old person for what he *is*, a valuable, useful and necessary adjunct to society. We have spent years and millions fighting for the conservation of our forests and our wild life. Should we not work with equal vigor for the conservation of man? Someone once said, succinctly: "We pay infinite attention to the incubator and neglect the egg."

We have carried on unchanged for centuries, a social attitude that was verbalized by Thomas Hood (who died at forty-seven), a hundred years ago.

> *When he is forsaken,*
> *Withered and shaken,*
> *What can an old man do but die?*

We are coming to realize that the withered and shaken aspect of old age is a direct function of the social habit of "forsaking" the aged. Men age almost entirely in terms of their *expectation* of aging and as a direct consequence of the reflection of this expectation they perceive in the behavior of others. Just so long as individuals regard the aging process as a con-

[1] *Science News Letter*, August 28, 1948, p. 142.

tinuous and inevitable decline in all of the useful attributes of life, just so long will age and futility appear synonymous to man When a change occurs in man's attitude toward old age, then will there come a change in the social stereotype of the aged person since custom and social attitudes merely reflect the beliefs of the majority. This makes for optimism and hope because what man has made, he can unmake, what he has built, he can remodel The hope is expressed in the lines of Walt Whitman (who lived to be seventy-three)

Youth, large, lusty, loving—Youth, full of grace, force, fascination!
Do you know that Old Age may come after you, with equal grace, force, fascination?

The optimism is latent within the facts that have been discovered concerning what happens to man as he ages We will see that the stereotype contains elements of truth indeed, but elements only As usually is the case, when fact and stereotype collide, the latter collapses like the punctured balloon it is And puncture we must the stereotype that age and progressive inutility go hand in hand If we are, as we are, becoming a progressively older people, then we must admit usefulness to age or shortly be living within a culture one-fifth of whose population is parasitical.

There is, however, a danger more grave than this In terms of the current stereotype, "old dogs" cannot learn "new tricks." So long as the "old dog" *believes* this, it is very likely to be true In fact, it has been shown that the liking for progressive people drops sharply after age forty-five (*249*, p 22) Although this fact results more from attitudinal expectation than any necessity, its presence may be cause for considerable alarm. We know that the probabilities are strong that we face an era of marked and rapid change that will call for extensive social reorganization. It will be tragic if we attempt to meet and adapt to these changes with a population containing an increasing number of older people who, generally speaking, are convinced that they are too old to change If any significant number of persons within a culture feel, and therefore *are*, unable to change with conditions

and that culture is undergoing the impact of tremendous technological forces, the chances of its survival decrease accordingly. We are in serious need of more understanding and less myth about the abilities of the old

Age is a quality of mind
If you have left your dreams behind,
If hope is cold,
If you no longer look ahead
If your ambitions' fires are dead
Then you are old

But if from life you take the best,
And if in life you keep the jest,
If love you hold,
No matter how the years go by,
No matter how your birthdays fly,
You are not old

—*Author Unknown*

It goes without saying that body activity slows down with increasing age. This is a natural and normal result of having stayed alive No one expects an automobile to function as efficiently ten years after its manufacture as it did during the first Nor do people tend to blame the motor when, after thousands of miles of driving, it begins to show signs of wear Further, everyone knows that the car owner can do much to prevent an undue wearing of his car Regular lubrication, oil change, and mechanical checkups tend to maintain the car's efficiency and to mitigate against the possibility of sudden breakdown Along with this constant care and maintenance, the car owner expects that as the car ages, it will become increasingly inefficient With reference to himself, man has only to apply similar precautionary procedures if he wishes to maintain his own efficiency at top performance. Just as he anticipates that as his car gets older, he must be aware of the possibility of ignition or carburetion failures, so too should he come to be aware of the failures aging will bring to him. As he might say of an old and faithful auto. "The body's in bad shape, but the motor runs fine," so if he is

willing can he maintain his personal motor in good working order.[2]

Because of interpretations implying that such results are absolute and final, man believes that he becomes increasingly ineffective intellectually as he becomes older. True, his intelligence as measured by *intelligence tests* tends, on the average, to decrease from its peak between twenty and thirty until, at age fifty-five, man scores at about the level of the fourteen-year-old *(135, 190)*. To reduce the seriousness of the usual implication of intellectual failure that these data often carry, let us indicate at once that they represent *average* scores and that the individual differences within each age group *exceed* the group differences themselves. There is, therefore, very little accurate reference to the individual himself. In fact, the accuracy with which intelligence may be predicted on the basis of *age* alone is pure chance *(190)*. That is, no one, knowing your age alone, can do more than hazard a guess of your intelligence. In any event, if intelligence is the principal factor in the ability to learn, would one consider the average fourteen-year-old youngster an *inefficient learner?*

Whatever *actually* may happen to innate intelligence as the person ages is relatively, at least, an unimportant point since the pay-off in life, for youth or old age, is what the person *does* with such abilities as he may possess. If then we consider intellectual ability rather than intelligence as such, we find that youth readily defers to age. By and large, the best years in such diverse areas as writing, invention, science, dramatics, philosophy and history are between forty and sixty *(151*, p. 23). Other studies show, however, that individual differences are great here also with some precocious persons hitting their productive stride before twenty while others were still producing vigorously at eighty-five *(154, 155)*. Further, the suspicion is strong that the person who maintains an active intellectual curiosity throughout his years is less likely to undergo a decline in ability as he becomes older. There is no reason why the *habit* of "intellectual

[2] An excellent account of the basic biology of the aging process may be found in E. Stieglitz, *The Second Forty Years*, Philadelphia, Lippincott, 1946.

exercise" should not make for the maintenance of intellectual alertness so long as the person may live and remain in average health In fact, it has been shown that the originally more able person shows a lesser deterioration of intelligence over the years than does he who originally had lower ability *(95)*. While positive evidence is lacking, it is probably true that the motivated, intellectually curious person will show greater intelligence at whatever age he may be tested However important innate factors may be for the demonstration of intellectual ability (and we are becoming increasingly unimpressed with them), it is true that a person who utilizes actively such ability as he may possess can do nothing but grow in intellectual stature It would be expected then, that, barring accident, he would continue to grow and to make increasing use of the judgment and skills experience had taught him as he becomes less able to rely on "pure intelligence" alone Probably, almost certainly, intellectual *vigor* decreases in old age as does the vigor of all bodily functions However, much of the apparent decline may be reduced in the person who began an active intellectual life early and who has maintained it consistently That activity is important is shown by the fact that sixty-year oldsters who were engaged in regular gainful employment showed superior intelligence when compared with a group of age mates who had been unemployed for a year or more *(96)*

Certain intellectual skills deteriorate consistently with age Possibly the most obvious one of these involves the ability to recall recent events This inability often is a source of great discouragement and concern to the old person, although it need not, and should not be. Studies indicate that individuals in the seventh decade of life (sixty–sixty-nine), show about a 40 percent loss in the immediate retention of material read when compared to an equated (for intelligence) group of twenty to twenty-nine-year-olds *(97)* Apparently, some loss in this ability is to be expected and therefore must be accepted and dealt with In any realistic sense, there is no serious threat involved Just as the older person may have to rely upon eye glasses to correct failing vision or upon a hearing aid to compensate for a hearing dif-

ficulty, so too can he rely upon notes as a substitute for, or adjunct to, immediate memory From one point of view, the "note habit" is a desirable one at any age Only the person who is unaware of the tricks memory can play upon man will trust implicitly his own ability to recall with precision.[3]

Counteracting this apparently real loss in immediate memory is the fact that, the "highest process of interpretation and imagination" show no decline whatsoever Both young and old show equal ability to exercise such creativeness as they may possess *(191)*.

This finding is reason all the more why it is necessary for man to remain intellectually *alert* throughout his life If creative imagination is ageless, then there is little excuse for him to maintain the myth of mental deterioration, rapid and complete, as he approaches senescence. Many an oldster is as feeble intellectually as he has *expected* to become.

We already have had occasion to see that an overburden of emotion may interfere seriously with the adequate expression of intelligence Even if there were *no other factors* involved, we might well expect the usually discovered decline in intelligence test scores concurrent with later maturity sheerly as a result of the inadequacy feelings, the insecurities, the feelings of worthlessness and hopelessness and the isolation that traditionally are imposed upon the aging individual Our cultural attitude toward age, based as it is upon outmoded belief, almost forces the old person into an emotional turmoil in which futility is the dominant motif. We *know* that emotional upheaval may seriously impair the young person's score on tests of intelligence There is no reason whatsoever to assume that the old person's socially engendered feeling of futility may not have similar deleterious effects. Until we know the extent to which the intellectual deterioration of old age is influenced by emotional factors, we shall need to be exceedingly cautious in our interpretation of test scores made by varying age groups It is by no means improbable that much of the differences found are artifacts of emotion and therefore not "real"

[3] The skeptic is referred to F Bartlett, *Remembering A Study in Experimental and Social Psychology*, Cambridge Univ Press, London, 1932

As was indicated earlier in this section, man, as an individual, tends to reflect in his own attitudes those beliefs that are current in his culture. When these beliefs are in line with a factual reality, all is well However, it is all too commonly true that such beliefs are only *beliefs* and have no basis in fact. The cultural expectation, reflected in our treatment of the older person in industry, that as man ages he becomes progressively useless, is a vicious social error

In the first place, as we have already presented some evidence to indicate, it is not *true* In the second place, as long as this social lie exists, man will tend to *live* it Reasons for this are not difficult to understand. We have shown abundantly that man becomes the sort of person he has been trained to be We also saw that as a result of this training, man develops an ego-ideal (the person as he sees himself as being) We tried to show that when this alter-ego was compatible with reality, adjustment was facilitated and that maladjustment was in large measure a direct function of the size of the gap between the person as he exists and the person as he believes himself to be. Thus, man of any age responds to life situations in terms of his own interpretation of reality. It is as though the realities of life were filtered through a more or less distorting set of lenses which convert life experiences into inaccurate images of themselves By the time adulthood is reached, these lenses are quite permanently fixed, and the person has developed his characteristic outlook on life.

Since living involves continuous change, it is quite understandable that the world outlook a person has developed and fixated in one era of his life may become incompatible with things as they exist at a later time So long as we continue to insist that the past is the only reliable guide to the future, we can expect these incompatibilities to exist and to make life adjustment in old age the more difficult A hundred years ago, when life expectancy was forty years, it probably was true that a man of fifty was *old*, but the maintenance of this now, when life expectancy is sixty-seven, is sheer anachronism Yet, so long as we behave as though it were true, it will be true in so far as its

consequences are concerned And, just this long will people age in the conviction that as the years pass so too does their usefulness While this belief is inconsistent with reality in terms of accumulated knowledge, it is well in line with "reality" as traditionally conceived

The problem, therefore, is one of creating a reality compatible with what we know of human abilities and needs *(151,* p. 48). Within such a reality would be recognition of the changes in the human organism that occur with increasing age but there would not be the attitude of defeatism and fatalism now current. Rather, reality or society, would be restructured with due consideration for the contributions the older person has every right and all ability to make Since society is an expression of the summated behaviors of the individuals composing it, this restructuring will come about as a result of the factually based training for life we have emphasized Adequacy in old age as adequacy at any age is a direct function of the effectiveness of the training the individual has been given Once more the burden for the development of adequate individuals and hence a realistic society lies squarely upon the home, the school and the church So long as these institutions are tradition bound, however, we can expect only a continuation of the status quo And we have had much occasion to indicate that old things are not, *therefore,* necessarily good things

Along with the slowing down in biological and psychological vigor old age brings, go other probabilities man must recognize and accept if he wishes for efficient adjustment He must acknowledge to himself that after sixty he has:

- 8 chances out of ten of having defective vision
- 3-4 chances out of ten of having defective hearing
- 4 chances out of ten of developing arteriosclerosis (hardening and thickening of arterial walls)
- 3-4 chances out of ten of being annoyed by constipation
- 3-4 chances out of ten of undergoing some kidney dysfunction *(31)*

If illness is to strike after age sixty-five, the probabilities are strong that it will be (in frequency of occurrence):

1. Respiratory
2. Digestive
3. Circulatory
4. Cancer
5. Diabetes *(53)*

In all of these however, modern medicine has markedly reduced both the seriousness of the illness and the possibility of fatal outcome Of all of them, the circulatory diseases are the great killers of old age Despite the possibility of statistical error because of the use of heart failure as a blanket cause for death as medically certified, one must recognize that circulatory disorders are symptoms of a wearing out process They must, then, be met with the same anxietyless attitude that is part of adequate adjustment to any life problem

Another inevitability, to be faced and accepted, is the climacteric This change in body metabolism which occurs ordinarily between the ages of forty-four and forty-nine in the female and between ages fifty-five and sixty-five in the male, is, like puberty, a stage through which normal development takes man It is not to be feared, but understood, not to be dreaded, but accepted Again, the entire process has been surrounded with myth and hidden beneath a shroud of superstition.

First of all, the climacteric is no threat to the well-adjusted person. He knows that there is no necessary reduction in sex desire or enjoyment as an aftermath of the change of life Since he has not used physical attractiveness and sex to bolster a basically insecure personality structure, he feels no sense of loss as his body changes from the curves of youth to the lines of age. The normal person, of whatever sex, maintains his status of man or woman regardless of his age

Despite belief to the contrary, woman does not lose her sexual desire at menopause In fact, it often is increased Nor in man, is there commonly any organic reason for impotence before age sixty That sex behavior ceases after the climacteric is a fiction maintained by "old women" of both sexes Kinsey has shown clearly that the incidence of sexual activity in the male while declining steadily from its peak in the middle teens, *shows no*

sudden drop at any age range Actually, his group of seventy-year-olds reported an average of 0 9 sex acts weekly One can predict safely that very similar information will be discovered in his current study of the female. Clinical evidence already indicates that there is no decline in the older woman's interest in and desire for a sex life, although both interest and desire suffer strongly because of the myth of decline and the general taboo which envelops sex at any age (*152*, pp 126 f) Thus such change of life as may occur is more of a reflection of a socially forced attitudinal expectation than of any real change in bodily functioning or desire There are life enjoyments at all ages and they are much the same To realize them, in late maturity, however, we need to be guided by the courage in Whitman's "grace, force and fascination" rather than by Hood's "withered and shaken" cowardice

The menopause becomes just another change *in* life to be greeted with expectation and to be dealt with intelligently. The person who has formed a life habit of accepting if not welcoming change will not be defeated by this one Biologically, a man may be as "old as his arteries" but psychologically man is as old as his adaptiveness. So long as he can shift his points of view with changing conditions, so long is he young. Rigidity in behavior is the purest symptom of agedness whether the person's chronology be sixteen or sixty He whom the possibility of change frightens is *old*, whatever his years may be.

Although age itself need carry no fears for man, the attitude men take toward it may have serious consequences Prior to World War II it was the custom to retire industrial employees after age forty-five on the grounds that they were now too old to be effective If this were *true*, then something is seriously wrong with our industrial procedures However, we have all reason to suspect that there was no more actual truth in this than is found in any myth man has made

Such information as is available shows that there is *no* relationship between industrial productivity and the age of employees, there is no evidence for the commonly assumed decrease in earning power with advancing years Further, labor turnover

is less with older employees than with younger, while in terms of continuance on the job, men of forty or over are greater industrial assets than men in their twenties *(184)*

One of the great industrial myths centering about age is that the older employee is more accident prone than the younger and therefore a poorer employment risk As has been demonstrated repeatedly, this simply is not so! In one representative study involving 26,000 employees of four different industries, the accident rate was highest for the *younger* workers. Workers between forty and fifty-four had an accident rate two-thirds lower than that of men under twenty-one In general, when accident frequency is plotted against age, the resulting curve drops consistently as employee age increases This same relationship between accident frequency and age is found in highway accidents *(184)*

It must be admitted, however, that the older workers tend to have somewhat more severe accidents and that they also recover from them more slowly In general, a worker of fifty-five will take about thirty-four days to recover from an injury that incapacitates a man of twenty-two but twenty-three days. Despite this, the evidence indicates that, by and large, the older employee is *less* expensive in terms of accident cost than the younger *(184)*

The advantages the older worker (compared with the younger employee) has to offer industry are·

1 He has fewer accidents on the job
2. He holds his job longer and hence reduces job-training costs
3 His output at least equals that of younger employees and he has a lower spoilage record
4. He tends to be a more dependable, loyal and responsible employee.
5. He needs little or no supervision

The disadvantages of the older employee to industry (contrasted with the young adult) are

1. He loses more days of work because of sickness

2. He shows a lesser readiness to adapt to changes in job assignments.
3. He possesses less strength and agility (184)

By and large, however, his greater experience and skill counteract such losses in speed and strength as he may have undergone Since industry actively is interested in prolonging the productive lives of its workers and since we are rapidly becoming an older people, it is incumbent upon industry to examine the potentialities of older workers. Possibilities here include the following suggestions.

1 Shifting the worker as he ages from tasks placing demands upon strength and endurance to those necessitating judgment and work experience
2. Initiating retraining programs that would assist the older worker in adjusting to the demands of jobs compatible with his capacities
3. Installing medical programs that would assist the older employee in maintaining his efficiency and to prevent illness from becoming chronic
4. Educating him regarding the role of nutrition, exercise and play in the maintenance of health
5. Training management itself in the facts that are known of the older worker and thus correcting the discrimination against him.
6. Recognizing that the solution of the problems of older employees is *not* to be found in pension and retirement programs so much as it is in ways to keep the worker producing that he may feel needed, wanted and a useful part of the industrial economy. Pensioned idleness serves only to accelerate deterioration in old age *(184)*.

The belief, long current in American industry, that the older worker was a hindrance to production has been thoroughly exploded, as the "Forty Plus Clubs" have insisted for some years. The evidence for the real, tangible values latent within the older employee are becoming too obvious for industry to ignore However, some educational procedures with management per-

sonnel probably will have to precede its actual acceptance And the speed with which the men of management (who, by and large, are in the older-age brackets themselves) accept this evidence will, in itself, attest to their own adaptability—or lack of it.

Another way in which industry could increase the productive life of its workers and keep them happier longer, centers around the design of industrial equipment In the past, machines have been designed solely in terms of industrial efficiency with little or no recognition of the abilities of the *men* who must operate them. A more intelligent procedure would be to build the machine around the man instead of the usual design with man left out. An industry-wide program of machine-design modeled after the current Army Air Force research projects on instrument design strongly is indicated In these researches, every attempt is being made to center the design of airplane instruments about the "natural" movements and skills of youth. When the results of these studies are put into operation, efficiency in aircraft operation should show a considerable rise It would seem but obvious that industry, interested in efficiency in production, would be more concerned with what could be than impressed with what had been However, Procrustes himself had to learn the hard way.

Whatever industry may do in this regard, there are things man can do by himself better to prepare himself for the problems "retirement" may bring Man rarely has *planned* for a life after work, usually, when asked what he will do upon retirement, he says "Oh, I don't know, loaf, I guess" All too commonly he finds that loafing wears extremely thin After vainly trying haphazard ways of filling in his days, he often dies

W C had risen from a maintenance foreman to vice-president in charge of production in a large manufacturing company. Actively and aggressively he had worked for the organization for over forty years. It was literally true that he "lived" in and for his job. Since he had been with the company since its beginnings, he had grown as an intimate part of it and seemed to feel a personal responsibility for the success of each production procedure, however small At age sixty-five,

although still alert and vigorous, he was retired after the usual swirl of dinners, parties, and grateful well-wishing. Within a week, he could be seen puttering about his home and grounds, pacing back and forth while grinding endless cigars into moist fragments. Whenever opportunity offered, he would question company executives about the outcome of plans made during his tenure. His interest was pathetic. Gradually, as he apparently became convinced that his retirement was actual and not a sort of bad dream, he became less and less active. The Country Club saw him no more and to inquiries his wife would reply that he was "resting." Within three months from the date of his farewell dinner, he was dead. Although it is not certain, it is probable that W. C. had ten years of active and efficient service left in him when he was retired. Since his estate was valued at over $4,000,000.00, money matters were unimportant, it was the doing *nothing* that could not be borne.

W. C. presents a rather typical picture whether the central figure be executive or mechanic. Man, in his struggle for "success," drives hard to get what he wants only to discover, with tragic frequency, that having obtained it, he has forgotten how to enjoy it. In our competitive battle for money with the power and prestige it brings, we often lose contact with other realities in life so that, when our goals are achieved, there is literally nothing to do but die. During our life of vocational activity, we tend to feel that there is no time for the development of hobbies or for any of the recreational outlets termed "play." These appear as a waste of time because, you know, there is *work* to be done. Even such relaxation as may be tried usually but brings the "office" outdoors and we plod grimly about the golf course fighting off the competition of "par" or opponent.

Beginning with the entry into a vocation, we should commence to plan for a life after work. To say to ourselves that when we retire we will read, write, garden, do woodworking, metalcraft, photography or whatever, is but a blind promise impossible to keep. Yet we delude ourselves with fancy only to discover that when retirement comes the hard fact is that we cannot suddenly shift from one occupation to another. If *you* contemplate filling in the life after work with a particular activity, *now* is the time to prepare for it. Begin now to test

yourself for adequacy, interest and enjoyment If you find that you *can* do the thing effectively, continue to do it in increasing amount as you approach retirement age. Then when the day comes you will move into another area of activity for which you have prepared and in which you will continue to find the sense of accomplishment so necessary to effective living In all of life, sudden changes may be traumatic, gradual ones seldom are.[4]

The essence of maturity in old age is that *we do not* cease living As we have seen, the *living* of life is a process of continuous self-improvement through the extension and welcoming of experience Whatever the chronological age of the person, he who ceases to learn and ceases to *do*, ceases, for all practical purposes, to *be*. Functional living is a privilege of old age. After a lifetime of experience, man can begin to put loose ends together and to reflect upon life and its meaning For the person who actively has prepared himself for late maturity, its arrival is an event anticipated and planned for. His own trip through the years of childhood, youth, young and old adulthood with the inevitable frustration, pain and suffering life implies should leave him warm toward and understanding of the lives of those who are following him through time These are the values of understanding to be obtained through experience Characteristically in life, we have actually to experience them in order for their implications to become clear

A young physician, two years away from his internship, was painfully injured when the small plane he was piloting crash landed. As a result of his injuries, he was hospitalized for six weeks, most of which time he spent with his legs in traction splints. Apparently, for the first time in his life, he became acquainted with constant pain A few days after his crack up, he remarked to a visitor. "I shall never, if I possibly can avoid it, *hurt* a patient again!"

Experience can be the great enlarger in life and it should be If any virtue whatsoever attaches itself to living, it is that the living should equip the person to make continuously more efficient adaptations to life's demands Although we have seen that

[4] Helpful suggestions and programs may be found in (*152*, chap 8).

precisely this broadening of response horizons occurs in the well-adjusted individual, it is unfortunately true that many individuals retract and retreat as they age While encysting (total withdrawal of the organism into itself) may be an adequate response for the one-celled paramecium whose liquid life medium has undergone a sudden drop in temperature, analogous behavior in the human is only self-defeating The only justifiable reason the human can advance for staying alive, is that he make something *constructive* out of the experience life has granted him Too often man himself stagnates as his age increases. Since he attempts to stand still as time swirls past him, he comes to view the world as a strange and hostile place presenting only threat where, in the past, he had found security But we have already indicated that fancy is infinitely to be feared over fact Further, it must be remembered that security is not to be obtained through standing still, however efficient the original pose may have been

The aging person needs to be conscious of this tendency to encyst. First, because it is a highly inefficient way of behaving and secondly because it represents a rejection of the world This is a process no human can afford Concurrent with the attempt to turn back time goes a process insidious in approach, vicious in result. This is the rather human tendency to remember the "self" as predominantly "good" Characteristic of man in his attempts to justify a maintained position, is a process of selective recall, in which only those aspects of life favorable to himself are remembered. It is the *old* person who reacts against time and often sees himself only as virtuous and the current world only as wicked Forgotten are the waywardnesses of his yesterdays: "*We* certainly never did things like this in *our* day I don't know what the younger generation is coming to!" Since recorded history, this has been the cry of the ancient rebel against himself Forgotten are his own violations of the social code or, paradoxically, so vividly recalled that he must repress them with blustering self-righteousness. Indeed, only the secure can be tolerant.

King Solomon and King David
Led very merry lives
With very many concubines
And very many wives

Until old age came creeping
With very many qualms
Then Solomon wrote the Proverbs
And David wrote the Psalms.[5]

Beyond the fact that attitudes of youth damnation are evidence that the colonic rigidity sometimes characteristic of age has invaded the cortex, the right of the older person to them is often based upon a fallacious assumption. Briefly stated, this is the belief that age and wisdom accrue together in automatic fashion. There is nothing of the inevitable between them. "Age" does not equal "wisdom", wisdom, and the respect we accord it, is something that must be earned. It is *not* an honorarium automatically granted by the passing of years. Only when the knowledge upon which wisdom is based is garlanded with understanding and tolerance, can the old person demand the right to respect. We commonly forget that the young fool grows only into an old one and that even a moron may mature. Probably those oldsters who insist upon a personal omniscience just because they are *old*, are the same people who, in earlier years, insisted upon their rights just because *they* wanted them. (See Chap. 6.)

Consistent with the life attitude that only in so far as one's behavior is *constructive* is he owed anything by society, is a realistic and fearless outlook upon death. In the attainment of the ability to accept death as a natural end to the life man knows, the prescription Horace Mann wrote is basic. This was "Be ashamed to die until you have won some victory for humanity."[6] By and large, it is the person whose *life* has been futile and empty who fears the endlessness we call death. Whatever be the case, we must recognize that it is not death as such that many find so fearful but the *fear* of death, the apprehensiveness with

[5] From (*152*, p. 55). Reproduced by permission.

[6] Horace Mann, Commencement Address, 1859, Antioch College, Yellow Springs, Ohio.

which we have surrounded the event. In a sense, we often are frightened of a fear itself. Of course, to be *afraid* of something that inevitably must happen, is basically a neurotic reaction

The well-adjusted person does not fear death. He does not fear it because he has prepared himself for it just as he prepared himself for other events in life Recognizing its inevitability and his own necessity for meeting it, he may regard death as another *experience* or as a normal end to a life well filled and adequate. He would share with Whitman

Come lovely and soothing death
Undulate round the world, serenely arriving,
arriving,
In the day, in the night, to all, to each
Sooner or later, delicate death.

In the main, death does arrive serenely, without awareness and without fear This is not difficult to understand. Think of the thousands of times you have drifted into sleep Were you aware of the instant that sleep overcame you or were you frightened of it? Until you awakened, were you aware that you were asleep? Supposing, just for the sake of argument, that you did not awaken, that during your sleep, you died Would you have known it? No, of course not Only those who may survive you can *know* that you have died. What may there be of fearsomeness in this? If it is true as Joseph Fouché said that "Death is eternal sleep," and in sleep we are unaware, how, reasonably, can we be frightened of that of which we are unconscious?

Facing death squarely, as the square facing of any problem, reduces its threat and prevents the development of stultifying emotionality A deliberate and realistic orientation toward it can make for a peaceful acceptance the anxiety bound never can know The recognition of death as the end to life makes it intelligible and gives it the only meaning we can know Just as it is more efficient to break life habits (smoking, drinking, etc) once and for all, so too is it desirable that the habit of life should be broken sharp and clean at death When death arrives, how much better staunchly to say to life, "Farewell!" than to murmur wishfully, "Au revoir?"

E B in her middle 80's, was a cheerful and vigorous lady Throughout her life (and it had been a hard one including some years in a sod hut in central Kansas) she had maintained a vibrant interest in life and in living Although she was afflicted with an increasing deafness that hearing aids could not mitigate, she lost none of her optimism toward, and happiness in life Until the week of her last illness, she welcomed new experiences and knowledge and was actively interested in the things and events about her To the moment that the merciful coma precedent to death encompassed her, she was *youthful* in act and attitude Toward the end, as her children stood about the bed, she said "I want no tears You have done enough for me already, please do not grieve, I am content I have had a good life, a full life, I have no regrets Now, I am tired and I am ready" As she faced life, she died—smiling

From youth to age mate, her many friends and acquaintances agreed, "She was a wonderful woman" Could one ask for a finer epitaph, or more real immortality?

Man must recognize that the enemy of humanity is not death, but is ignorance with its twin allies, prejudice and dogmatism *(151,* p 179)

> *So live that when thy summons comes to join*
> *The innumerable caravan, which moves*
> *To that mysterious realm, where each shall take*
> *His chamber in the silent halls of death,*
> *Thou go not, like the quarry-slave at night,*
> *Scourged to his dungeon, but, sustained and soothed*
> *By an unfaltering trust, approach thy grave,*
> *Like one who wraps the drapery of his couch*
> *About him, and lies down to pleasant dreams*
>
> —Bryant, *Thanatopsis*

In both action and attitude there are definite things a person can do better to avoid the common troubles of old age[7] Perhaps the most common trouble centers about activities at the table and refrigerator The old person, therefore, should not have too excellent a cook

As man enters into late maturity, the needs of the body (as a result of the general decrease in vigor) diminish and consequently, less energy is needed Although appetite often falls

[7] The following information is taken largely from *(152,* chap 13).

off concurrently, this too frequently is not the case and the person continues to be an efficient trencherman more out of habit than bodily need. Many of us, then, dig our graves with our teeth—or their replacements.

In addition to the habit factor, many of us overeat because of the sensual enjoyment obtained. This may be particularly true of the old person who discovers that in eating he finds one of the few pleasures remaining to him. Danger here may greatly be reduced by an intelligent planning for later life which includes as many and as diverse activities as possible. If a person has several areas of enjoyment open to him there is little likelihood that any one of them will become *the* way of finding pleasure nor yet pall because of overindulgence. Finding pleasure with others in cards, games, spectator sports, conversation or hobbies will prevent the use of mealtimes as the sole way of meeting and responding to other people. Just as no person should place all of his life in any one way of behavior, so the oldster should not use food as an exclusive road to contentment.

We have already seen that constipation is a reasonable probability for the aging person. Many older individuals, unduly influenced by the emphasis placed upon colonic activity by imaginative advertising copywriters, believe that constipation is a severe threat to good health. Such is not the case. A slow-acting colon and hard stools does not mean poor health nor do easy and regular bowel movements necessarily guarantee that health is good. If you are concerned about the state of your colon, the only intelligent thing to do is to see your physician and to follow his advice, the least intelligent would be to follow the blandishments of radio advertising.[8] One of the banes of old age is the "cathartic habit" too many of us develop. Of course, after years of the regular use of nightly cathartics, we have trained our colon to "anticipate" external assistance and hence removed the necessity for it to function normally. Colonic leth-

[8] For the past few years we have heard much about a cathartic urged upon all over thirty-five largely because when its trade name is spelled backwards, "it spells Nature's." This is as logical as it would be for the American Kennel Club to insist that every person should have a *dog* in the house and thereby to bring holiness into it.

argy is not to be feared, infinitely more frightening is the cortical variety

The old person often feels just too tired to do anything Nor is this fatigue removed by rest, as normally is the case If you are tired continuously, whatever your age, despite ample rest, see your physician to be certain that no disease is involved If examination gives you a clean bill of health, then recall the extent to which it has been shown that emotionality may result in feelings of endless lassitude. Often, undue fatigue is the result of emotional conflicts and the consequent reduction in efficiency they bring The probability is great that your bodily tiredness is the result of your *feelings* of inability and not the cause for them. The greatest known anodyne for feelings of fatigue is *interesting work* When time bears heavily upon one, so does the ache in his back The cure for lassitude is purpose in living and a life of doing in which there is no place for ennui When we are engaged in enjoyable activities that lead to a feeling of accomplishment, we have no time for indulgence in the examination of bodily processes so productive of worry and concern By and large, your body functions automatically, and the less conscious interference you impose upon it, the better.

Another unnecessary source of concern for man as he ages is his decreased need for sleep As we get older and older, we tend to awaken earlier and earlier Many of us, not recognizing that this is completely normal behavior, find the dread word insomnia haunting us Since we are certain that everyone needs at least eight hours of good, sound sleep for the maintenance of health, we often resort to various sedatives, which, unfortunately, are all too readily available at the corner drug store Their use, except under the supervision of your physician, is to be decried. Many of them may not be habit forming in the physiological sense, but you may very easily form the habit of depending upon them to do the job your own concern about yourself prevents you from accomplishing

Discounting for the moment the fact that as we age we actually *need* less sleep, insomnia commonly results from unresolved emotional conflict A full and satisfying day which ends

in a real sense of accomplishment, is a sufficient prerequisite for a night of sound sleep. However, when the day drags and we putter about, beginning this, dropping that, worrying and fretting, in futile search for self-consolation, it is small wonder that night brings only the endlessly circling thoughts of self-pitying resentment Once more, something to *do* with time during the day will be more effective in producing restful sleep than the most diligent worship at the shrines of the false gods Bromide and Barbiturate each evening Life returns, measure for measure, what *we* put into it For accomplishment it returns earned rest, but it will not voluntarily replace energy wasted in selfness

The goad behind much of the use of sedatives is desire to escape from a humdrum existence To put an end to a day of futility and to postpone as long as possible the facing of another, many an older person drugs himself into a passive and unknowing conquest of time Sleep is *used* as an antidote to wasted living It is strange that man, fearing death as often he does, will deliberately search for sleep, the little brother of death itself In the Prologue to his poem *The Earthly Paradise,* William Morris wrote

> *Masters, I have to tell a tale of woe,*
> *A tale of folly and of wasted life,*
> *Hope against hope, and bitter dregs of life,*
> *Ending, where all things end, in death at last*

Death, *at last,* commonly cannot come too soon to him who seeks to escape the responsibilities of living, yet death often comes to him before it need

In old age, man tends to look backward too frequently and forward not often enough If we fail continuously to adjust to life as it flows past, ultimately the time arrives when we are a stranger to it and lost in its complexities Then we begin to wish for things as they were and to recall things past in idealized and wishfulfilled form Since we are a verbal people, recollections of bygone days and recriminations of the present, flow with an ease satisfying to us and boring to our listeners It is probably not true that old people talk too much but the likelihood is strong that they will say too little. Twice told tales should

stop right there As we have seen throughout our discussion of man and his problems, most of them are hand tailored to fit the individual and none of them are solved by absolute subservience to a *status quo* At any time of life, the only wholesome attitude is a *forward* looking one

A practice of looking ahead in life will lead a person to anticipate and to prepare for the facts of later maturity If he has done this, old age comes not as suddenly realized catastrophe, but as well-known, and often welcome, friend It cannot be too strongly emphasized that the only really effective solution to the problems of life is to be found in a realistic and thorough preparation for them As has been said, the great majority of these problems are known and predictable It is also true that techniques for coping with them are available to anyone active enough to search. Since we need only to stay alive long enough to reach old age, we should prepare for it as we plan in advance for any occurrence whose likelihood is strong

If we actively plan for our old age and accept its inevitability, we are in far less danger of attempting to wage the never-yet-won battle with time so many fearful personalities fight Old age is a prison with time its inexorable keeper only to the extent that fear makes it so Participation in a present alive with plans for the future is a maxim for happy living whether one is eighteen or eighty If one is alert to the present, he can find things to do rather than to re-search memory for things done and wished for He can also avoid the horror of increasingly empty years Possibly he may not prolong his life a single second but such life as he may have will be experienced as useful and worth while. The only fullness in the life of the escapee from time is regretfulness

All of us know the older person whom we once greet with a "How are you?" and to whom we forever after merely say, "Hello " The keeper of an illness diary has discovered the key to the losing of friends and the alienation of people We have said before that our body is better off forgotten and so too, in so far as ourselves are concerned, are we If you must be interested in ill health, be interested in the illnesses and frailties of your

friends but do not enter with them into a marathon of symptom recounting *Your* aches and pains may be the most important aspect of your existence but they make dull listening for your acquaintances After all, presumably they are as fascinated by their own miseries as you are with yours

The gravest danger of the search for symptoms in old age is that it is a roundabout way to yesterday You cannot describe the pain of arthritis or rheumatism without recalling the time when even the terms were unfamiliar to you and, as you say, "I hadn't a pain in my body" or "I didn't know what an ache was." The next obvious step is the insidious comparison of then and now which too commonly culminates in a welter of self-pity and vain regret You then are started on the road to the never-never land of "I wish I were " Obviously, it will be quite impossible to develop a healthy interest in the future so long as you moan about the present and wish for the past To those who seek reunion with a former self, Browning asks

> *But how carve way i' the life that lies before,*
> *If bent on groaning for the past?*

Many of the undesirable interests the old person shows, e g., the past, pain, the self, bodily functions, insistence upon respect for his age and other evidences of self-pity are, in a real sense, forced upon him by his feeling of uselessness While the individual should do all that is possible to prevent the development of this self-centeredness, much of the blame must fall upon a society that fosters the myth that at a particular age, utility ceases We already have seen that in terms of *fact* the older worker may well be an asset to industry. The success of handicrafts in the rejuvenation of the aged is further evidence that man's usefulnes is over largely to the extent that he *believes* it to be. There should be golden opportunity for the old in the varied fields of manual skills, weaving, metal and leather working, clay modeling, painting and all the ways man has devised to utilize his hands Physical disability has been found to be amazingly unimportant when the old person sets himself to a job he wishes to do Whatever actual success or skill may be

attained, the important thing is that the doing of something takes the person outside of himself This cannot fail but to be desirable *(151*, pp. 128 f)

Serious and searching study of the needs and abilities of the aged person has been lacking until very recently Even so, if the amount of time and energy expended on the questions of aging were to be compared to that spent upon problems of childhood, the former would prove insignificant indeed In answer to the question, "Why is this?" one probably would say that age has little potentiality, while childhood has much and that in the young lies the future of culture We have seen, however, that the lack of potentiality in the old is based more in myth than in fact. But, even if the statement were true in all of its aspects, there still would be pressing necessity for studies seeking to determine such contribution to society as age can make since we are becoming a progressively older people It also is conceivable that little work has been done in geriatrics (the study of old age) because such investigations would bring man face to face with a fact he tends to evade, namely, that within the subject matter lurks his own future (*151*, p 93)

Facing fact abruptly, it must be admitted that late maturity is *old age*, that the end of life is approaching rapidly and that, unfortunately, the realization of this commonly catches men unprepared As the vague realization of a course almost run becomes ultimate reality, and retrospection reveals failures to attain youthful aspirations, the compromises worked with them and the waste of time so superfluous to youth, strong feelings of pessimism may emerge Deep reason for pessimism in old age is loss of confidence in the self, and without faith in the self, it is difficult to have faith in the future Possibly this particularly is true when the future is known to be relatively brief However, whether in youth or senium, man must heed Carlyle's warning "The most fearful unbelief is unbelief in yourself "[9]

In contradistinction to the common pessimism of old age is the fact that increased maturity is a most recent acquisition of

[9] Informative and encouraging is W Pitkin, *The Best Years How to Enjoy Retirement*, New York, Grosset & Dunlap, 1946 See also, W Wolfe, *A Woman's Best Years*, New York, Emerson, 1935

mankind and possibly one of the greatest gifts science has yet bestowed Along with the prolongation of life goes a responsibility that these added years shall be utilized efficiently The old person owes a debt to society for the life span it has given him. It is also true, however, that he cannot discharge it until society itself recognizes his ability to pay

For him whose life has been adequate, old age brings opportunity golden in implication, to check things and events in life against the supreme criterion that which makes for increased personal effectiveness in living is good, that which makes for increased personal ineffectiveness is bad When knowledge has ripened into wisdom, much could be contributed toward social betterment by the intellectually vigorous old person. Society has a vast and untapped reservoir of potential in its aged, who, themselves, would give gladly of it and would find happiness and security in the giving G Stanley Hall called this period the "Indian Summer" of life and showed that in normal old age, a withdrawal from the direct competitions of life seemed to evoke an increased clarity and efficiency in mental work. It is as though, with the struggle for the materials of life now past, man is capable of directing all available energy into a synthesizing and organizing of the knowledge life experiences have given him and is, therefore, in a position to describe in broad scope what life has taught *(106)* It is indeed conceivable that within our old people, we have tremendous natural resources for the development of a more efficient future.

13. A REALISTIC OUTLOOK ON LIFE

> Self-reverence, self-knowledge, self-control
> These three alone lead life to sovereign power
> —Tennyson, *OEnome*

THROUGHOUT our discussion, we have tried to show that the health of an individual is determined by the reaction between inner necessity and external demands. So long as a reasonable balance between these is maintained, all is well. However, when either places excessive demands upon the person, behavioral plasticity is reduced and vulnerableness to threat is increased. Consequently, resistance to stress decreases and the organism becomes open to emotional invasion. When this occurs, adaptability is sacrificed for the pseudosecurity of rigidity and the vicious circle of neurosis is begun. From this, as we have seen, there is no escape until the individual has undergone a retraining program sufficient to strengthen him and thus to permit him to face his problems objectively.

It also has been indicated that many of our social beliefs tend to force the individual into rigid ways of behaving and are, therefore, antithetical to healthy development. Since effective living habits cannot develop in a vacuum, there is stern necessity for cooperation between home, church and school, cooperation guided and controlled by the *knowledge* of himself man has uncovered. We, as people and social institutions, must face squarely the facts of man's nature and attempt to live in terms of them, casting away as useless the wishful beliefs that have haunted man into the behavioral futility so often characteristic of him. We must recognize and accept the fact that effectiveness in life may be obtained only within a society that provides ample opportunity for feelings of usefulness, be-

longingness, satisfaction and freedom to express the self as an individual To the extent that these feelings are stultified, to the same extent will the people of a culture be ineffective and inefficient in their interpersonal relations And, it is these relations upon which social unity is built.

To date, because of our insistence that man become that which he cannot, we largely have failed to develop a unitary and homogeneous culture. Much of the fault must be found within the home that following social myth, trains its members in emotional immaturity and consequent insecurity feelings If, however, the training that our youth is given were based soundly upon a realistic understanding of man, generations to come would be better able to cope with the problems of life Out of this training in actuality, would arise such satisfactions and securities within personal relations that a functional philosophy of life would emerge which would permit for the free and easy interchange of feelings and ideas upon which wholesome social relationships are built It shall be our task in this final chapter to structure such a philosophy of life.

No individual can escape the implications for personal adjustment that inhere within the society under the customs of which he develops However, each person can do something better to equip himself for life if he is willing to utilize the potential ability latent in his new brain Since culture itself is a consequence of the behaviors and expectations of the individuals who comprise it, it is by no means impossible that a rational and realistic society may emerge out of attempts by *man* to make himself a more adequate person. It must be admitted that the individual alone can do little toward this social betterment but, at the same time, it must be emphasized that it is of the utmost importance that he *do* it Defeatism leads not only to itself, but is contagious beyond belief. Therefore, it is incumbent as duty upon each of us who profess interest in mankind that we cease to wish and strive to think, that we forego myth and become emotionally secure enough that we may accept fact without fear Voices crying in the wilderness we may be

indeed, but cry we *must* if man is to survive the catastrophe fearful wishfulness has brought upon him

Before we begin to describe in specific terms what the individual may do toward the development of a foundation for more effective living, let us block in, in broad outline, the general problem involved If it be true that the effective life includes a job to do, a plan for its accomplishment and sufficient freedom to work it through, then we find striking parallels between the tenets of democracy and the principles of mental health Thus it is that whatever in a society fosters the way of life we term "democratic" also advances the cause of good personal adjustment. Likewise, in opposed fashion, whatever within a culture makes for group intolerance whether racial, religious or whatnot, increases the emotional tensions under which man lives To the extent that such tension increases so too do the psychological hazards to good adjustment. Furthermore, to a like extent are the values of democratic living reduced As we conceive it, the function of a democracy is to maintain efficient adjustment within its members In similar fashion, effective interpersonal relations augment the possibility of, and the potentialities within, the democratic way of life *(228)*

We have already shown how the life attitudes the individual carries with him are functions of the kind of early training he received. We adults, seeking to understand why we *feel* as we do about aspects of social living, may need to engage in searching and laborious soul probing to ferret out the foundations of deeply embedded habit It is true that in the absence of psychologic assistance we may not be able to do a complete job, but the mere fact that we are sufficiently aware of the need for the search will sensitize us to the implications of the problems upon which the attitude bears Possibly an illustration may serve valuable purpose here. Suppose you discover that there are certain ideas, persons, concepts or beliefs "you cannot stand" You are then, "intolerant" of these The awareness of this intolerance should in itself so sensitize you to the problem involved that you do not, now, respond to its appearance with the *immediacy* that has characterized you heretofore. Rather, you

delay your response, subjecting your feeling to the braking action of reason. In this process a self-directed question centering about "why" you feel as you do is almost inevitable Search for answer may not bring final results, but some greater self understanding is inescapable.

Any reasonably intensive and honest search into intolerance feelings will reveal deep-seated and urgent hostility tendencies. People who are intolerant are people who hate, and the extensiveness of their hatred is revealed by the degree of their intolerance Generalized hatred, arising out of early training in fear, stultifies the personality with a resulting restriction of the range of thought and imagination The terms "narrow," "bigoted" and "intolerant" imply the rigidity of behavior that is a consequence of fearful insecurity It is nearly certain that an objective survey of intolerance feelings will indicate an underlying and pervading fear of threat to the person's security When, therefore, you cannot abide something, either person or concept, look for the fear-for-self that lurks behind your distaste

We have already shown that the biology of our bodies has not kept pace with our technological growth This alone would create problems enough However, it is equally true that the framework of socially engendered attitudes and beliefs that direct our behavior has lagged far behind accumulated knowledge Despite the fact that this accumulation of knowledge has evoked radical changes in our ways of living, we are still guided largely by beliefs and standards, which, although admirably devised for the maintenance of security feelings generations ago, are now of little, if any, effectiveness Many individuals insist upon a sovereignty, both personal and national, as a "right" without recognizing that effective relationships (interpersonal or international) can only be attained by a subordination of individual sovereignty to a larger and a greater welfare In similar fashion, many, striving to maintain belief in religious credos developed in an age of ignorance, discover that they now obtain little security and satisfaction out of their religion *(216)*. Attempts to turn back time can result only in futile fear and vindictive fulmination against the things that

are. It is imperative that we come to understand and to accept more and therefore to fear less. If man is unable to live by bread alone, how much more malnourished must he become on a diet of hate?

What man needs, more than lowered costs or increased production, is a working faith that embraces both man and his culture and that gives to each individual a purpose and meaning to life. Such a faith, rather than condemning those who differ, would seek to understand them and to support mutual confidence. This would be a "faith that casts out fear" indeed. Only through a supportable, verifiable and reasonable understanding of man and his nature may come the "living togetherness" that is essential to the effective home, culture or nation. Unless man knows and accepts himself for *what he is,* he cannot have any deep belief in himself and unless he does believe in himself and in his own intrinsic worth, he will continue to be haunted by a sense of fearful futility and a restless search for security. A faith built on knowledge, not wish, on security and not on fear could well serve as the keystone to maintain by its own pressure, the strength and uprightness of the structure it completes. We must recognize that everything, even concepts, wears with age and, that as things wear, they become progressively weaker. Since, furthermore, it is impossible to patch without, in some measure, changing the original structure, the blind wilfulness of those who would maintain tradition *per se* becomes wholly apparent.

Basic to the development of a faith in man founded upon the knowledge he has accumulated is the assumption that man possesses, at least in latent form, the kindness, humility and interest in others requisite for you-oriented living. Although it has been shown that man by his nature alone primarily is an ego-centered organism, it also has been pointed out that he becomes what he has been trained to be. Consequently, it is patent that man can learn to become the kind of being tradition has assumed him to be. The postulate to be made, then, is *Man can become, through a process of intelligent training, the kind of being we would like him to be.* For any such training program to be effec-

tive, however, we must recognize that man does not and will not become you-oriented merely through the process of staying alive nor yet through sheer "exposure" to desirable patterns of living. He must actively be trained in them just as the apprentice is actively trained in the skills of his craft. Further, this training must be preceded by planning equal in efficiency and thoroughness to that preceding any apprentice training program in industry.

This then, is our credo. Man's potentialities justify in ample form our faith in his ability to live effectively and to become the *human* kind of being he has fancied himself to be. To date, however, this ability has existed in potential form only because of our tradition-bound outlook and our smug satisfaction with ourselves. For man to live effectively and to develop a genuinely functional philosophy of life, he must escape the limits of his selfness and forego the ancient delusion that he is, by nature, "man the wise." Only so will he emerge triumphant over himself and be able to resist the tyranny of tradition.

A philosophy of life, to be effective today, must be as modern as the times, as up to date as current knowledge will permit and flexible enough that it may be reworked as additional information may demand. Further, abstractions and metaphysical concepts must be avoided since we know that only that which is practicable is functionally useful to man. Consequently, a workable outlook on life must be as real and as tangible to man as are the things and events of life he experiences about him. This framework for living effectively must be based upon the known *facts* of human existence and flights into fantasy, however appealing to wish or embedded in tradition or authority, must be relegated to the limbo of ineffectualness. We want to *know*, to know that with which we may *do* since life goals are attained, not by wishing for them, but by an active struggle toward reaching them. In this struggle the great factor in attainment is faith in yourself and in your fellow man; faith in the potentialities inherent within the new brain. Of all the fearsome aspects of life, the greatest is a fearful unbelief in yourself. We have already seen that this fear, in the main, springs from

man's refusal to accept himself as an emotional organism and his insistence that he is, by nature, a rational being In the achievement of the self-realization inherent in an effective personal credo of life, it is essential that a person think through an overall plan for the attainment of the goals he has set for himself In doing this, he must take into account the factors previously described in our discussion of the main problems of life If throughout this "thinking through," he is realistic, objective and factually minded and distinguishes carefully between fantasy and actuality, he should emerge with a *philosophy for living,* a foundation broad and staunch for the way he lives (behaves) Fantasy and daydream make for a so-called philosophy of life characterized by aimlessness, drifting and inconsistency, only objective understanding and acceptance of the self and its relationship to the world and others can make for a personally effective *philosophy of living*

It is our contention that such a philosophy of living, functional and effective, can be developed by man without necessity for going beyond the known facts of human behavior There is knowledge, ample and complete enough, to permit man to base his life behaviors upon a realistic and factually determined foundation, there is no necessity for recourse to myth or superstition In fact, we have already seen that an effective adjustment to the Ultimate is possible without the doing of violence to these postulates

Unfortunately, what commonly is called a "philosophy of life" much too often consists of a series of injunctions beginning with "One should," "One ought" or "One must" Equally commonly, these are but a verbalized set of precepts applicable in an "ideal" world but bearing little relationship to the individual's behavior All of us know what "ought" to be done and are glib in enunciating the rules However, relatively few persons have a functional philosophy of living that is part and parcel of their everyday behavior It should be apparent that only in so far as a person's code of values guides and directs his *behavior* does he possess a life philosophy in any realistic sense Let us be clear Unless you are willing to *live* in terms

of the ideology you have developed (assuming that you have one, of course) you have no genuine technique for living however effectively you may prate of rules, either golden or base

In a public address, the president of a small denominational college said that world unity and understanding would be attained only when no man was barred from participation because of his color or the religion of his choice Yet this same president, in private discussion, refused to consider an applicant for an instructorship in his institution because the applicant was of the Jewish faith. The president's comment was to this effect "Yes, I realize that the man is well-prepared and that he would, in all probability, do a good job But, we don't want to consider him because of his religion" The president's "philosophy of life" obviously was for propaganda purposes only Words, in the absence of verifying action, are the tools of hypocrisy, and the lazy person's way of rationalizing his lack of courage to make things the way he says they are.

One of the reasons for the failure of individuals to develop a functional philosophy of life is that we have assumed that the "learning" of codes of conduct somehow or other automatically makes them become actual guides for behavior If any philosophical superstition has been thoroughly exploded, it is the ancient one that concepts, ideas and rules "transfer" from one situation to another without any active effort on the part of the person concerned The belief that the memorization of "rules" in mathematics or Latin "trains the mind" so that it will operate efficiently in other areas of thought is known to be as fallacious as the belief that the earth is the center of the universe However, these same rules *may* assist in critical thinking in areas other than the original ones *if* their application is demonstrated at the time of their learning This latter implication is critical for the development of an adequate and functional philosophy of living, if ethical codes are to be at all effective in the life of an individual, they must not only be memorized, but the person *must be shown* how and where they *apply* Having a person, child or student, memorize material to the point of recitation, however perfect in rendition, is but a job something less than half done If the material is to be of any

use to him, he must be shown *how* he can use it In this showing, there is no better technique than illustrative example Pertinent here is the stern motto of those who were engaged in Job Instruction Training Programs during the war. "If the learner hasn't learned, the teacher hasn't taught!"

Concomitantly with the blithe assumption that verbalization and action are synonymous, such individual ideologies as develop commonly grow in haphazard fashion under the frequently inconsistent influences of home, school and church Most of us had relatively little to do with the acceptance of such codes as we hold, they are but a heterogeneous collection of prejudice, distorted information and blind ambitions all usually obtained second-hand in quite uncritical fashion To be effective, a code of ethics for personal use should be *our own,* the result of our own thinking and experience, rather than a set of beliefs simply handed to us In the attainment of such a personalized code, the individual can do a great deal And, there is need that he should A few hundred years ago (when many current ethical beliefs were developed) social institutions and concepts were rather firmly established, change was slow and it was relatively simple to live in terms of the ideologies into which a person was born This is no longer true Now, change is rapid. We seem continuously to be in transition. Now, more than ever before, man must decide things for himself lest the 20th-century whirlpool engulf him as he clings to a 17th-century craft.

No one should superimpose a way of life upon another, each of us has both the duty and the right to evolve his own However, certain elements may be considered as essential, if we desire to live effective and realistic lives We may shape these fundamentals, in general terms, as questions "What do you expect from life?" "What are the things or expectations in life you really are living for?" "What are you willing to strive for despite discouragement and failure?" "If life is worth the living, what about it makes it so?" "What in life is of real importance to you?" "What *are* your goals, your ideals, your values, in what do you really believe?" Your answer to these questions will be a

least common denominator of your philosophy of living If you cannot answer them, then you have no philosophy and you are living in terms of the present alone with no port in view and with the shoals of regret dead ahead If you cannot answer these questions, now is the time to begin work upon them, now is the time to insert *direction* into your life [1]

First of all, a personal code, to justify designation as a philosophy of living must assist you to.

1. Maintain good health
2. Realize happiness
3. Be efficient.
4. Be a real person (consistent, unified, integrated) (225, p 264)

A code that will enable you more closely to attain these four standards is a functional one indeed Keeping in mind that we shall build in terms of what is *known*, let us see what the basic materials may be.

Wide-eyed innocence befits the babe, but scarcely the adult It is well to keep in mind that no behavior occurs in purposeless fashion, all behavior is motivated It is intelligent therefore, to look for the motivations behind the surface behaviors of man Expect, of course, that these motives will not always readily be apparent This does not mean at all that you must go through life with eyebrows lifted in cynicism but only that you strive for a realistic knowledge of man and his ways Not to be aware of the devices man uses to obtain his ends is not innocence but ignorance and is to make you easily susceptible to the aims of the socialized sharpshooter. Remember, the more you know

[1] It must be recognized that purely in terms of its orienting function (aspirations and values) one philosophy of life is as "good" as another Thus, the person whose life revolves about his own ego in a continuous search for sheer pleasure, or the individual whose code is one of ruthless conquest for self-aggrandizement, has a personal ideology that, in a very real sense gives direction to his life However, we accept as a basic postulate that a desirable philosophy of living will serve an integrative function between the motives of the individual and the demands of his culture That is, a truly functional philosophy of living (as we shall use the term) must include not only your needs but also those of your fellow man

about a thing, the less likely are you to be prejudiced concerning it *(21)*.

Possibly the gravest danger to realistic living inheres in man's suggestibility. That man is suggestible has been demonstrated over and over again. Recall, if you will, the experiment comparing "intellectual" and "emotional" appeals in a political campaign *(108)*. Remember the demonstration of suggestibility described in Chapter 4. Add to this the fact that when one group of college students read favorable editorials and another group read unfavorable editorials concerning a visiting politician, 98 percent of the former group showed a favorable bias while 86 percent of the latter group were unfavorably disposed *(8)*. In another experiment, a group of college students were asked to rate, in order of preference, a list of twenty-five authors ranging from early Greek philosophers to current fiction writers. A week later, they were asked similarly to rate a group of twenty-five paragraphs of written material of approximately equal length. One week after this, they were given the same paragraphs to rate once more but this time, each paragraph was accredited to one of the authors previously rated. A high relationship was found between the preferences expressed for the names alone and the ratings given the selections *when* these were accompanied by author names. No relationship was found between the ratings of the selections alone and the names and selections. When one considers that all the written material was taken from the works of Voltaire and had been falsely assigned to other authors, one realizes the importance of prestige suggestion in the determination of opinion *(241)*.

Anyone who may doubt the effect that suggestion plays in the control of our lives need look only to the advertising copywriters for evidence. Any and all procedures, from straight reading of facts to singing commercials are utilized, and since their use is continued, one can but conclude that they are successful.

The writer once asked, more or less facetiously, a young advertising executive how the latter could justify his job since presumably he was well aware that much of his material was very shakily based in fact. Apparently, this was a frequently

encountered question because the executive smilingly replied. "Suppose you went into a store and asked for a white shirt and the clerk laid out three on the counter, all priced the same and all identical quality in so far as you could tell, but one was an *Admiration,* one a *Donegal* and one an *Arrow.* Which one would you buy?" The writer asks the same question. "Which one would *you* buy?"

It is important, therefore, to consider decisions in terms of the extent to which they may be influenced by pressure induced by suggestion. It is a rather unpleasant, almost frightening, experience to examine nearly any decision in retrospect. Commonly, we are concerned to discover how very little, in actuality, *we* had to do with it. Realistic living demands that we examine carefully the *factors* involved when deciding upon a course of action and that we then make decision in terms of available fact rather than second-hand fancy. Anytime we do something only to wonder later why we did it, we may be assured that we have been prey to the insidious effects of suggestion. Man's affinity for suggestion becomes readily understandable when we realize that the suggestion techniques devised by the human nature entrepreneur are calculated to reinforce and play upon man's tendency to follow the impulse of the moment and to live primarily in terms of present needs.

Realistic living also implies an acceptance of life as it exists. In this acceptance, there is recognition that both good and evil flourish in the world, but that their growth largely is dependent upon what man has done and is doing. To try to ignore the actuality of evil (ignorance, injustice, disease) in the world is to bury one's head in the sands of complacency and, in fact, to make certain that the evil continues. It is literally true that we all are living in life together. Therefore, so long as injustice exists, *you* are threatened, so long as disease prevails, *you* are in danger and so long as ignorance is present *you* are liable to the charge of "heresy." You may, in emulation of either Pangloss or Pollyanna, chatter about living in a "best of all possible worlds" or pronounce your conviction that "everything happens for the best" or any other empty phrase man has developed to excuse his complacency, but neither saying nor dreaming things will

make them so. Intelligence insists that we recognize the existence of wrong and injustice but at the same time delivers the mandate that we also recognize that we can *do* something to correct these evils if only we will. Any attempt at this correction, however, implies a willingness on our part to *live* in terms broader than those determined by motives and desires indigenous to ourselves. As we saw in the chapter on "Realistic Living," man becomes a genuinely adequate organism *only* when he escapes the restrictions of the "self," and lives his life in compromise between his drives for selfness and the demands of others.

A realistic outlook on life implies the understanding that there is both evil and good in life, that there are forces making for stultification as well as for growth. Realistic living means facing life squarely, avoiding no issues, taking cognizance of all. Thus neither blind optimism nor yet curdled pessimism is characteristic. Just as realistic behavior is flexible behavior, so too a philosophy of living implies the recognition of *change,* that life is in a process of *becoming.* Further, the realistic individual accepts the charge that whatever the end-result of this process of becoming may be, *he* is in measure responsible. He finds no place in his living for the defeatism inherent in the shoulder-shrugging statement "Things have always been this way" because he knows that "things" always have not been as they are. Further, he is well aware that if "things" have been a given way for a long period of time, it is only because man has so permitted them to be. He feels responsibility, personal and direct, for the way "things" are in life and is not content to leave them as they are if these "things" impede growth either social or individual. He knows indeed the reality in Donne's lines. "Therefore do not ask for whom the bell tolls, it tolls for thee."

Hand in hand with this willingness to accept his responsibilities for the life society protects for him, realistic living implies an acceptance of the human self that is. All too commonly man attempts to deny feelings of hostility, envy and selfishness and to convince himself that he really lives a life of such sweetness, generosity and kindness that there is no room for meanness and

hatred The price he pays for the repression of negative feelings is costly. Self-denial of them but strengthens their force and insures that they will pervade increasingly his daily actions and habitual attitudes.

A young man came to college convinced of his "calling" for the ministry He had been raised by a brutal father and a meek and subdued mother who, with the children, lived in continuous fear of the father's outbursts of anger Throughout the life of the youth, he could not recall a single instance in which he had been praised for work well done but the times of punishment for failures were vivid in his memory As a child he had struck back with all the power at his command He had played truant, deliberately failed in classes, stayed out late at night, lied and cheated in futile attempts to escape from the tyranny of his father. During his junior year in college, he obtained a small country church and, at the beginning, enjoyed preaching tremendously As time went by, however, he became increasingly dissatisfied without, he felt, any reason because, after all, was he not now doing just what he wanted to? Ultimately he came for help. A series of interviews revealed that his "call" was a direct attempt to strike at his father who, as a Catholic, was infuriated that his son would enter the Protestant ministry As the bases for his vocational choice became clear to the youth, he changed to a social studies major. Shortly after the clarification of his outlook on life and the redirection of his vocational aims, a serious spelling difficulty of long standing began to disappear Interviews also had uncovered that, in grade school, low marks for misspelled words were a certain means of evening scores with the father.

It is imperative that, in structuring a philosophy of living, the person be willing to admit and to accept the selfish and mean aspect of himself. These feelings must be recognized as *natural* to man and as artifacts of the kind of society into which he is born Denial but strengthens them Effectiveness in living insists that they be accepted and permitted some opportunity to function. That their function will involve but little of life activities is attested by the fact that commonly when such feelings are accepted by the individual, their force and strength are lost and they no longer operate importantly in his life economy. Realism in living, however, necessitates acceptance of the self,

desirable *and* undesirable. Someone once said, possibly Carlyle, that "The greatest of faults is to be conscious of none." It is more important to know that the recognition and acceptance of faults tends to obliterate them.

As example, when you are "mad enough to spit," go ahead. Then, having spat, sit down in consultation with yourself and search into the causes of your anger. The probabilities are that you will, if you are honest, discover that one of the various prideful "toes" we all possess has been stepped upon. Often this recognition itself is sufficient to show the experienced slight in its true proportions. Equally often, this insight suffices to reduce the intensity of the emotion.

If, however, self-consultation serves only to intensify your feelings of wrong, then *do* something. Talk it over with the person or persons involved or, if this is not feasible, talk it over with a "neutral" person. Attempt to see the situation from his point of view and permit a non-emotionalized intelligence to survey the problem. This practice will assist you to obtain a relatively unbiased and objective overview of yourself and your real relationship to the provoking situation. The opportunity to perceive *your* situation through the eyes of a more or less disinterested individual is always desirable, and, for the relegation of the self to its true role, highly important. It will also help you to see yourself as you appear to others. For realistic allocation of yourself within your interpersonal relationships, nothing can be of greater assistance.

Talking over your personal problems with others is perhaps the technique most efficient in training you to live effectively. First of all, you are close to your own problems and therefore are in a position to speak of them readily, if only you will permit yourself to do so. Secondly, the mere talking over of problems with someone in whose judgment you have confidence, will ease the pressure upon you. Thirdly, you are obtaining experience invaluable in orienting your life in terms of the needs of others. You will discover, as you discuss worries with another that most of the troubles in life happen to us all impartially and the fact that you discover that your problems are being *shared* assists

greatly in removing the "why must this happen to *me*" feeling. The discovery, common to shared difficulties, that mankind tends to suffer together both in kind and degree, can but bring you closer to your fellow man and therefore closer to yourself. You already know from past experience that most of life's hardships loom enormous in prospect but shrink in threat as one looks back through time upon them. Discussing them with others, even when they appear as insurmountable barrier to your progress through life, permits you to regard them in something like retrospect because, since man has kinship in suffering, you are enabled to see how the other person met similar difficulty and what he did to resolve it. You may, then bring the future into the present and through this telescoping of time perceive your problem in a way akin to the manner you will view it when it is past. Further, you will have gained real insight into what is called "human nature."

If, after all this, you still feel surges of anger or fear, then work them off. Go for a walk, batter a golf ball, swim, dance, play badminton—in fact, engage in any form of activity that will get your blood to circulating and will permit you to discharge the excess energy pervading your body as the result of emotion. Remember, emotional living tends to feed upon itself and whenever you sit and sulk, however dignified you may appear, you are initiating the rotation of an emotional carrousel whose speed increases constantly as it endures. The time comes all too soon then, when reality appears as a blur and your vertigo will permit only that you attempt to maintain your present position by whatever means are available.

We have said repeatedly that the person finds effectiveness in living only through his willingness to "go along" with others. Basically, this willingness involves the accepting of others as you wish to be accepted. Recognizably, this is a paraphrasing of the "Golden Rule." To say, however, that if man were to apply this rule to his living, most human problems would be solved, is empty mouthing of phrase unless man also be told what he may do to effect application.

You may recall that we have upon occasion referred to the

term "ego-ideal" by which is implied the self as the individual tends to regard it. Thus, each of us envisages his "self" largely in terms of what his culture has erected as desirable. In Christian societies the ego-ideal commonly may be described by such words as "kind," "honest," "generous," "considerate," "humble," etc. Too often *we* see ourselves in such guise but also see others much more "realistically." That is, we see ourselves as we feel ourselves to be but see others as their behavior indicates they are. Therefore, in applying the Golden Rule to life behavior, it is imperative to keep in mind the fact that the other person also has an ego-ideal of himself and, possibly, one yet more grandiose than your own. It is helpful to suspect too, that he is likely to feel that you *are* what your *behavior* indicates you to be. Remember, he is no more aware of your ego-ideal than you are of his *unless* the self you fancy and the behavior you show are closely aligned. Since this latter possibility is rather rare, you may be reasonably safe in assuming that your ego-ideal and your ego-in-action are disparate.

So then, if you are interested in any realistic way in living in terms of the Golden Rule, *treat the other fellow as though he were in all actuality the kind of person you fancy yourself to be.* Treat him as though his ego-in-action and his ego-ideal were one and the same and you will have taken an enormous step toward assisting him to identify them as well as more closely approximating *in behavioral terms* your own private self. Make the assumption: "Man is good, man is kind, man is honest" and *live* accordingly. Deviants you may expect, thieves, cheats and chiselers you will encounter *but* by and large the attitude and the consequent behavior will pay off in the gold of effective interpersonal relations.

A contractor who constructs buildings from million-dollar hospitals to small homes, goes on the assumption that mankind is honest and that the human word is a human bond. Despite the cynic's immediate expectation that this contractor rapidly became bankrupt, people wait for him to build for them rather than contracting with someone else who could erect their home much sooner. It is custom with this builder whenever, through oversight, an item has been omitted from the specifi-

cations, to include it in the actual construction without the "usual" extra charge Furthermore, inspectors report that his buildings are the only ones now being constructed in which no "shortcuts" have been taken and in which all specifications have been met to the letter The contractor states his credo as follows "I believe that people are honest and that they will keep their word. When I say I'll do a thing, I do it and no contract is necessary—I just assume that the other fellow will do the same. Although sometimes I've had to wait for my money, I've never lost a cent. Until I do, I'll just have faith in man"

It takes strength to trust, but inherent in this trust is the recognition that others cherish themselves even as you Possibly, appeal, simple and direct, to the ego-ideal of man is a highly effective way of permitting him to live in terms of it

A large part of the strength necessary to trust mankind is found in the ability to give and to receive Many accomplish the latter with superficial ease, but to receive graciously, without envy or hate, is a skill possessed by relatively few Others, contrariwise, are unable to give Everything they acquire, whether it is affection or property immediately becomes so intimate a part of themselves that they cannot part with it without experiencing a sense of loss too great to be borne. Misers do not hoard gold alone

The individual capable both of giving and receiving without fear is one who feels adequate and secure The formula would be adequacy plus security equals *freedom* to give and to receive. Thus it is that out of the strength feelings of adequacy and security bring, comes the capacity to trust without which there can be little interpersonal effectiveness Efficiency in living, like efficiency anywhere is expressed by the ratio of input to output, effectiveness in life is a direct function of what one puts into it

Feelings of adequacy and security in life can be developed only by the person himself In their development, two attitudes are necessary:

1. Recognize yourself as modifiable.
2. Recognize yourself as a *part* of your culture.

The individual who behaves as a modifiable organism, admitting and effecting the need for change, and who also feels himself to be a bit of all mankind will function adequately in his interpersonal relations Further, through selfless effort toward making this a somewhat better world, he will obtain personal security. Paradoxically, we find personal security only through non-personal behavior More than this, no man may demand

To effect non-personal behavior, man must treat the events of life as the external processes they are rather than regarding them as *reflections* of his own wishes. To "see life clearly and see it whole," the person must remove the shackles of selfness and become free enough to live *permissively*, i e., to live with, and in part, for others. He must be able to accept fact unvarnished by his own fancies Living in terms of others implies three ways of behaving *(144*, pp. 212 f)

1 Recognizing that "truth" is relative.

This implies plasticity, the willingness to alter plans in terms of new facts We know that historically, at least, "truth" has changed often and constantly This may be illustrated by the shift in what was considered true in the causation of disease from an imbalance between bodily "humors" to the role played by germs. Not so long ago, wounds had to suppurate. "laudable pus" was held to be a sign of the healing process. Now, however, it is true that conditions must be as sterile as possible, with pus formation kept at a minimum. There are many still who hold it to be true that man is born to his station in life while evidence indicates that, in truth, man becomes what he has been trained to be Thus, what we call truth is variable, a relative thing and, what is true under some conditions may not be so under others Whatever the ultimate reality may be (and no man knows), what we have lived by and known as truth has changed constantly We may expect this to continue

2. Being sufficiently strong to live by the truths we find

This implies the willingness to behave in terms of the knowledge and fact we possess without warping them to fit our preconceived ideas. This means a willingness to give all evidence a fair hearing and continuously to ask. "How much am *I* con-

tributing to this decision, belief, attitude, etc.?" That is, how much of your attitude is an expression of what you *want* to believe and how much of it is based upon knowledge of the facts involved?

Suppose, as illustration, that you are "anti-management." How much do you *know* about the issues at stake? What do you know of the role management plays in the industrial picture? With how many representatives of management are you acquainted and how well do you know them? What actual percentage of gross profits is paid to men of management? Is work, or labor, limited only to those who "work with their hands"? Do you know anything about the National Association of Manufacturers or do you just "hate" it? Actually, whether you approve or disapprove of management or of the N A M is unimportant, but it is all important that you determine the bases of your judgment To do this, you must examine both sides of the issue in question (whatever it may be), you must search for *evidence* and must not be taken in by smooth but empty words Remember the extent to which man, and you, are susceptible to suggestion and insist upon your right to such facts as exist Remember, concepts of fundamental strength are never destroyed by scrutiny, however searching it may be. Ask yourself therefore, "What is truth?" and keep in mind that in so far as people are concerned, "truth" is more likely to be found in what they *do* and is less likely to occur in what they *say*

3. Maintaining new brain control

Skill in behaving in terms of the dictates of your cortex (new brain), is obtained as is skill in anything—through *practice* Basic to this acquisition however, is the application of the two principles previously described. If you recognize that truth is relative and are willing to live in terms of the truths you find, you have taken the most important step toward putting the potentialities of your new brain into action And, the application of these potentialities to the problems of life is essential if you wish to live rationally. This is true because only in so far as you are able to put your new brain to work are you able to attain the understanding of mankind that permits for the tolerance

requisite to efficient interpersonal relations. This process works something like this. If you try to *understand* aspects of living, you will be forced to wait a bit before you reach a decision. This delay prior to action is precisely what is implied by new brain control, it means that the neural activity underlying the behavior is "long circuited" and therefore you "think before you act."

In this chapter, by definition, we have been attempting to describe a philosophy of life adequate for effective living. In point of fact, the entire book has been aimed at a description of psychological man sufficiently comprehensive that a realistic understanding of his nature and problems might be attained. Toward this end, we have tried to tell man's story in the light of accumulated knowledge sincere in the belief that only through the application of this knowledge to daily living may we be able to remove ourselves from the shackles of social myth, superstition and traditional belief. May we repeat, man has available sufficient information to permit him to live an adequate and affective existence if only he is willing to accept and utilize this knowledge. In large part, the problems that haunt him are a direct result of his refusal to accept realistic interpretations of life and his insistence upon the maintenance of antiquated belief. It may be said in much truth, that we know the way to functional interpersonal relations but the way is commonly missed because it is clouded by tradition-bound misinterpretations of man.

For the attainment of equanimity in the face of life, nine principles, tested and proved under war-induced stress, have been developed.[2] These and their implication for effective living follow.

1. The recognition and acceptance of struggle between the self and society.

We have seen that man, by nature, is primarily an egocentered organism. Yet, if he is to live effectively he must come to learn respect for the needs of others and consider these needs in the

[2] W. Menninger, *Psychiatry in a Troubled World,* New York, Macmillan, 1948, pp. 351 ff.

determination of his own behavior Succinctly, man, a human animal at birth, must become, through a process of training, man, a socialized human being It has been indicated previously that this process of training, or domestication, differs only in degree from the domesticating procedures utilized in any other form of animal life. In this process, dog or man has to learn to relinquish the autonomy of selfness for the more restricting but socially more approved, you-orientation of group living. There is no virtue in delusion nor bliss in ignorance, the facts are that man is born neither a rational nor yet a social organism By "nature," he is a wishful, willful creature that takes on so-called "human" characteristics only as a result of long and arduous process of training Thus, what the man as an adult *is*, is what he has been *trained* to be

2 The recognition and acceptance of the facts of emotional conflicts and of their effects upon the body economy.

If we recall our discussion of the "mind-body problem" in which the *unitary* nature of man's reactions to the events of life was stressed, we will remember that the way man *feels* about things has much to do with his behavior So it is that whenever opposing tendencies clash, the energy induced by this conflict often expresses itself in the guise of disease symptoms. If then, man is to live effectively, he must admit to himself something of the reality of the strains evoked by emotions-in-conflict as well as recognizing the role played in his life behavior by feeling itself Man is an emotional organism whose tendency to *feel* his way through life makes him easy prey to neurosis. Denial and repression of this reality serves only to augment its unfortunate consequences and to prevent man from doing anything constructive toward intelligent living.

3 The willingness to grow with new ideas, new facts, new truths.

We have held throughout that only in so far as an individual can incorporate accumulated information into his own behavior patterns and hence live in terms of the knowledge science has gathered, may he behave in ways we have termed adequate and effective Life itself is a process of continuous change and

he who would countermand time is stultified. Throughout the life span, man must continue to be receptive to new concepts, to keep his new brain actively functioning in his life space. By so doing, he continues to grow with the times and is not forced into a futile railing against them. Further, although he must inevitably age as the years roll by, if he maintains an intellectual interest in and alertness to the demands of the day, he will never become *old.*

4. The promotion of more effective individual, family, community, state and national relations.

In extension of the relegation of "selfness" to "otherness" implied in the first principle, this factor in efficient living insists upon the kind of cultural orientation implicit in the term "brotherhood of mankind." It is the living *with* others that has been intimate in the ethical credos devised by man from time unknown but is also what he has yet to put into actual practice. Man, individual or group, has been so engrossed in promoting himself, to the exclusion of other individuals or in asserting the superiority of his way of living (religious, social or political) that he has had neither time nor energy to attempt to view problems from external frames of reference. We have emphasized continuously, however, that only in so far as man may come to understand and to accept ways of living deviant from his own may he lay genuine claim to rationality. May we repeat, personal security is a direct function of the individual's skill in interpersonal relations, only as man accepts others and is accepted by them may he experience real feelings of belongingness. The political shibboleth of "rugged individualism" is a fearful cowering in a foxhole of anachronism.

5. The willingness to work together, as a team.

Since we live in groups, we are fools indeed if we do not exploit to the utmost the benefits of group living. Pertinent here is the success of group therapy in which the individual grows as he discovers commonality of problems and as he finds ways other than his own to attack "personal" problems. Beyond this are the values inherent in group discussion. It has been shown clearly that more accurate decisions are obtained through the

joint efforts of several individuals than can be obtained by the activities of any one person However, a word of warning. While group discussion is of great value in revealing errors of individual thinking, it does not follow that the majority is always right. In fact, it can be shown historically that the majority usually has been wrong Group discussion as an idea-clarifying, error-reducing process operates effectively *only* when reliable and factual information is available upon which the discussion may be based. There is nothing whatsoever to prevent groups from working in ignorance abysmal and complete Therefore, teamwork to be at all effective, must be preceded by a search for pertinent fact and the discussion must be guided by such evidence as may bear upon the problem There is no virtue in "many minds" unless the minds be informed as well as numerous.

6. The willingness not only to be led, but to lead when necessary.

The first leaders we learn to follow are our parents. From them, as we have seen, we take such follower-leader relationships as may characterize our lives. Our reaction to, and feeling about, authority commonly springs from the parent-child relations that existed in our home We have reviewed abundant evidence to indicate that kind of leader we can follow readily as well as our attitude toward leaders in general is conditioned by the kind of training we have been given within the home

Whatever our feelings about leadership-followership relations may be, we must recognize that efficiency and happiness in life reside in large measure within our ability to accept and to delegate responsibilities We must be able to follow readily and without rancor whenever due process or necessity of emergency places leadership in the hands of another Similarly, we must be willing to accept the responsibilities of leadership itself whenever we are chosen to do so or whenever the demands of the moment insist that we act

All of this implies an active interest in leadership as such within our society. Despite the operation of "pressure groups," "lobbyists" and other activities designed to influence leadership

along paths of individual interest, we must develop and maintain an active part in leadership selection Confidence in the leader is essential to efficient functioning whatever the situation To possess this confidence, we must take an active role in the assignment of leadership to man If no other motivation is available, remember that non-democratic societies develop out of an apathetic electorate. So long as the individual *does* something actively about his prospective leaders, just so long does he have a measure of control over them Effective leadership is always a reciprocal relationship in which the "leader" expresses as best he may the desires of those who have given him his position of trust.

7 The recognition of the need for purposiveness and goal-orientation in our vocational life

In our discussion of the vocational life, we saw the need for planning in the career of work Intimate to this is the necessity for a clear recognition of the "why" of the job It is highly pertinent to general health and to efficient living to foresee as clearly as possible where one is heading in his work and therefore to understand why he is doing whatever he may be. Clairvoyance, in its literal sense (clear seeing), is of the essence in assisting us to make our way through life as smooth and as predictable as possible

We have stressed the fact that life largely is *struggle* In meeting the countless disappointments and frustrations that are inevitable to living, we can be greatly helped *if* we actively *want* to do the life task in which we are engaged Therefore, we make effective use of the potentialities of our new brain only when we utilize all available techniques better to aid us in entering a vocation in which we can foresee our progress toward an end we admire The strength and adequacy of our personality is measured by the determination we show in our willingness to work toward goals we know we can attain. Working toward goals we *want* but for the attainment of which we have no reasonable guarantee of success, is an expression of emotional wishfulness that can bring only frustration and regret Working toward no goal at all, in the vague expectation that some-

thing will turn up, is fruitless, indeed *foolish*, living The man is measured by the goals he strives for in life and by the *extent of his awareness of the probabilities for success.*

8 The willingness and ability to *play*

If many of the problems that torment mankind occur because man fails to *do* something about them, then he who refuses to play sets psychological snares for himself Playing implies *doing something* and we have seen that man's hope for happiness largely resides in his ability to *do* in life Work without play is not only dulling, it is also irritating, frustrating and stultifying to the worker.

One of the best outlets we know for the unexpended energy emotion accumulates within us is an adequate and enjoyable recreation Play does indeed recreate, it helps us to utilize the pent-up energy life frustrations bring and renews our zest for living. This play need not be actively overt (as in handball, tennis or golf) but is equally effective in such guises as bridge, poker or checkers The important thing is that we should *enjoy* the doing of it and that we play merely for the game itself without any compulsions about "winning" He who plods through a game with the end in view *only* of defeating an opponent or of establishing a record might just as well stay at his office and scheme "deals" Anyone can make a job of work out of any game However, if recreation is to meet the implication within the word, the man must *play*

Recreation, game, hobby or whatnot, may be freely selected It is good as well as desirable to come home from work with its endless compromises, minor defeats, pressures, etc , and turn to the doing of what one wishes The complete autonomy and freedom of action in *playing* is an essential aspect of adequate living. Play, after all, is just this doing whatever we wish at the moment Therefore, it gives opportunity for some release of throttled wish and restores to man some of his primitive autonomy. The value of outlet for feeling to man living within a rational technology should be apparent No better outlet exists than frank, youthful play.

9. The development of the faith in mankind inherent in a functional religion

Beyond the need for an active participation in life itself, man needs an active faith, faith in himself and his fellow man He needs to believe that behind all the sham and hypocrisy man's words and actions commonly present, there resides a basic goodness and fundamental humanity Only out of faith of this kind may arise the mutual living togetherness that a functional religion postulates. We have seen that the qualities the potential man possesses are sufficient for this change if only he will remove the blindfold tradition and emotional thinking have placed over his eyes

A religious credo, realistic and in line with the times, can become an important support in man's adjustment to life Within the matrix of an abiding faith in human fellowship may be found comfort, assurance and reason for living Comfort in the fact that he is sharing common problems with all mankind, assurance that he belongs and is acceptable to his fellow man and reason for striving toward the goal of human betterment To believe that the rationale, even permission, for membership in the human race is to leave the world of man a little better place than it was when the individual came into it, is to orient the self toward living in terms of others. Such community of action finds its natural and rightful place in a realistic religion in which the dignity and integrity of man finds its most complete expression. Life becomes meaningful only as we share it with others The depths of meaningfulness in life are plumbed by the acceptance, each of the other, brought by a working religion. This acceptance is the ultimate in man's relation to man.

Success in life, as well as success with the problems of life, is reached by *working* at the job If man wishes to become less of a creature and more of a creator, he must apply himself to the task Wishing and talking about it alone will arouse unresolvable tension, man must get out and *do* if he is interested in a life as complete and as happy as his potential can make it

BIBLIOGRAPHY

1. Adams, C , and Packaıd, V , *How to Pıck a Mate*, New Yoık, Dutton, 1946
2 Aılıng mıddle class, The, *Tıme*, Apıil 12, 1948, p 80.
3. Allpoıt, G , *Personalıty A Psychologıcal Interpıetation*, New Yoık, Holt, 1937
4 Allpoıt, G., Gıllıspıe, J , and Young, J., The ıelıgıon of the postwaı college student, *J Psychol* , 1948, *25*, 3-35
5 Alschuleı, R , and Hottwıck, L., *Paıntıng and Peısonalıty A Study of Young Chıldıen*, Chıcago, Unıv Chı Pıess, 1947, 2 vols
6 Andeıson, O , and Lıddel, H , Obseıvatıons of experımental neuıosıs ın sheep, *Aıch Neuıol Psychıat* , 1935, *34*, 220-354
7. Andeıson, W , Some socıal factoıs assocıated wıth the vocatıonal choıces of college man, *J Educ Socıol.*, 1932, *6*, 110-113
8 Annıs, A , and Meıeı, N., The ınductıon of opınıon thıough suggestıon by means of planted content, *J Soc Psychol* , 1934, *5*, 65-81.
9 Anon , Too many now seek pıofessıonal tıaınıng, ıepoıted ın *What the Colleges Are Doıng*, 1948, No 81, Boston, Gınn
10. Aıey, L , *Developmental Anatomy*, Phıladelphıa, Saunders, 1943
11. Aınold, M , On the mechanısm of suggestıon and hypnosıs, *J Abn. & Soc Psychol* , 1946, *41*, 107-128.
12 Axlıne, V , *Play Therapy*, Boston, Houghton-Mıfflın, 1947
13 Baın, R., Man, the myth-maker, *Scı Mon* , July, 1947, 61-69.
14. Baıd, P , On emotıonal expressıon afteı decoıtıcatıon wıth some ıemaıks on ceıtaın theoıetıc vıews, *Psychol Rev* , 1934, *41*, 309-329
15. Bateson, G , Sex and culture, *Ann N Y Acad Scı* , 1947, *47*, 647-660.
16 Bell, H , *Youth Tell Their Story*, Washıngton, Amer. Counc Educ , 1938.
17 Bell, H , *Matchıng Youth and Jobs*, Washıngton, Ameı Youth Comm , 1940
18 Bentley, M., Sanıty and hazaıd ın chıldhood, *Amer. J Psychol* , 1945, *58*, 212-246

19 Berne, E., *The Mind in Action,* New York, Simon & Schuster, 1947

20. Beverly, B , *A Psychology of Growth,* New York, McGraw-Hill, 1947

21 Biddle, W , The relationship between knowledge and a measure of autistic thinking on certain international problems, *J. Soc Psychol.*, 1931, *2*, 493-496

22 Biel, W., The effects of early inanition on a developmental schedule in the rat, *J Comp Psychol ,* 1939, *28,* 1-15

23 Bills, M , Relation of scores on Strong's Interest Analysis Blanks to success in selling Casualty Insurance, *J Appl Psychol ,* 1938, *22,* 97-104

24 Bingham, W , *Aptitudes and Aptitude Testing,* New York, Harper, 1937.

25 Bolanovich, D., Interest tests reduce factory turnover, *Personn Psychol.,* 1948, *1,* 81-93

26 Bowman, H , *Marriage for Moderns,* New York, McGraw-Hill, 1942

27. Bowman, H , "How can you Tell if it's Love?" in Fishbein, M , and Burgess, E (eds), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Part 1, chap 1

28. Boynton, P., Dugger, H , and Turner, M , The emotional stability of teacher and pupils, *J. Juv. Res ,* 1934, *18,* 223-232

29 Bray, S , Note on honeymoons, *Marr & Farm. Liv.,* 1947, 9, 60.

30 Bridges, K , A genetic theory of emotion, *J Genet Psychol ,* 1930, *37,* 514-527

31 Britten, R., Sex differences in physical impairment in adult life, *Amer J Hyg ,* 1931, *13,* 741-770

32 Brown, M., "Education and Family Life," in Fishbein, M., and Burgess, E , (eds), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Part 5, chap 7

33 Bruder, E , A clinically trained religious ministry in the mental hospital, *Quart Rev Psychiat & Neurol ,* 1947, 2, 543-552.

34 Bruner, J , and Goodman, C , Value and need as organizing factors in perception, *J. Abn & Soc Psychol ,* 1947, *17,* 33-44.

35 Bryson, L., *Science and Freedom,* New York, Col Univ Press, 1947

36. Burgess, E , "The Wise Choice of a Mate," in Fishbein, M , and Burgess, E (eds.), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Part 1, chap 2

37 Burgess, E., and Cottrell, L., *Predicting Success or Failure in Marriage,* New York, Prentice-Hall, 1939

38. Burgess, E , and Wallin, P , Homogamy in social characteristics, *Amer J Sociol*, 1943, *49*, 109-124.

39. Burgess, E , and Wallin, P., Predicting adjustment in marriage from adjustment in engagement, *Amer J. Sociol*, 1944, *49*, 324-330

40. Burlingame, C., If child guidance clinics—why not parentoriums? *Conn State Med J*, 1947, *11*, 829-832

41. Burtt, H , An experimental study of early childhood memory final report, *J Genet Psychol*, 1941, *58*, 435-439

42. Byrns, R , Relation of vocational choice to mental ability and occupational opportunity, *Sch Rev*, 1939, *47*, 101-109.

43 Cameron, N , The development of paranoic thinking, *Psychol Rev*, 1943, *50*, 219-233

44 Cannon, W , *The Wisdom of the Body,* New York, Norton, 1932

45. Carrel, A , *Man the Unknown,* New York, Harper, 1935

46 Carter, H , and Foley, L., What are young people asking about marriage? *J Appl Psychol*, 1943, *27*, 275-282.

47. Child, I., Potter, E , and Levine E., Children's textbooks and personality development An exploration in the social psychology of education, *Psychol Monog*, 1946, *60*, 54 p.

48. Cleckley, H , *The Mask of Sanity,* St Louis, Mosby, 1941

49 Cobb, S , *Borderlands of Psychiatry,* Cambridge, Harv Univ Press, 1943

50. Cole, L , *Psychology of Adolescence,* New York, Rinehart, 1936

51 Cole, L , *The Background for College Teaching,* New York, Rinehart, 1940.

52 Cole, L , *Psychology of Adolescence,* rev ed , New York, Rinehart, 1942

53 Collins, S , A general survey of the causes of illness and death at specific ages, *U S Pub Heal Rep*, 1935, *50*, 237-255.

54 Conn, J , Sexual curiosity of children, *J Dis Child*, 1940, *60*, 1110-1119

55 Cooper, E , and Jahoda, M., The evasion of propaganda How prejudiced people respond to anti-prejudice propoganda, *J Psychol*, 1947, 23, 15-25

56. Cowan, R., The wish never to have been born, *Amer J Sociol*, 1932, *37*, 547-559

57 Cowdiy, E , We giow old, *Sci. Month* , 1940, *50,* 51-58
58 Cnder, B , The hostility pattern, *J Clin Psychol ,* 1946, 2, 267-273
59 Cromwell, R , and Paimentei, M , Occupation Course, Unit 3, *Success in the World of Woik,* Canada, Guidance Pub., 1945
60. Davis, J , Testing the social attitudes of childien in the goveinment schools in Russia, *Amer J Sociol* , 1927, 32, 947-952
61. Davis, K , Extieme social isolation of a child, *Amei J Sociol* , 1940, *45,* 554-565.
62. Davis, R , The relation of muscle action potential to difficulty and fiustration, *J Expei Psychol* , 1938, 23, 141-158
63. Deaiboin, L , "Masturbation," in Fishbein, M , and Buigess, E (eds), *Successful Marriage,* New Yoik, Doubleday, 1947, Pait 4, chap. 5
64 Dennis, W , Does cultuie appieciably affect patteins of infant behavioi? *J Soc Psychol* , 1940, *12,* 305-317
65 Dewees, L , "Piemaiital Physical Examination," in Fishbein, M , and Burgess, E (eds), *Successful Marriage,* New York, Doubleday, 1947, Pait 1, chap 5
66 Dewey, J , *How We Think,* Boston, Heath, 1933
67 Dockeiay, F., *Psychology,* New Yoik, Pientice-Hall, 1942.
68 Dreikuis, R , *The Challenge of Paienthood,* New Yoik, Duell, Sloan & Peaice, 1947.
69 Dunbai, F , *Psychosomatic Diagnosis,* New Yoik, Hoebei, 1943
70. Dunbar, F., *Emotions and Bodily Change,* 3id ed , New Yoik, Col Univ. Press, 1946.
71. Dunbai, F , *Mind and Body Psychosomatic Medicine,* New Yoik, Random House, 1947
72 Dunlap, K , *Peisonal Adjustment,* New Yoik, McGiaw-Hill, 1946
73 du Nouy, L , *Human Destiny,* New Yoik, Longmans, 1947
74 Duvall, E , and Hill, R , *When You Maiiy,* New Yoik, Assoc Press, 1945
75 English, O , "Sexual Adjustment in Mariiage," in Fishbein, M , and Burgess, E (eds.), *Successful Maiiiage,* New York, Doubleday, 1947, Part 2, chap 3
76 English, O , and Peaison, G , *Emotional Pioblems of Living,* New York, Noiton, 1945
77 Etsten, B , and Himwich, H , Stages and signs of pentathol anesthesia physiologic basis, *Anesthesiol* , 1946, 7, 536-548.

78 Evans, H , and Bishop, K , On the relation between fertility and nutrition IV The production of sterility with nutritional regimes adequate for growth and its cure with other foodstuffs, *J Metab Res* , 1923, *3*, 233-316

79. Fairbanks, R , Cooperation between clergy and psychiatrists, *J Pastoral Care*, 1947, *1*, 1-5

80 Farris, E , *The Nature of Nature,* New York, McGraw-Hill, 1937.

81 Fenton, N , *Mental Health in School Practice,* Stanford, Stanford Univ Press, 1943

82 Fine, B , *Our Children Are Cheated,* New York, Holt, 1947

83 Finger, F , Sex beliefs among male college students, *J Abn & Soc Psychol* , 1947, *42,* 57-61

84. Folsom, J , *The Family and Democratic Society,* New York, 1943

85 *Fortune,* January, 1938, p 86.

86 Franklin, J., Schiele, B., Brozek, J , and Keys, A , Observations on human behavior in experimental semistarvation and rehabilitation, *J Clin Psychol* , 1948, *4*, 28-45

87. Freeman, G , Our muscles and our minds, *Sci Month* , August, 1938, 161-167

88 French, T , Psychogenic factors in asthma, *Amer J Psychiat* , 1939, *96,* 87-98

89 Freud, A., and Burlingham, D , *War and Children,* New York, Intern Univ Press, 1943.

90. Fulton, J , *Muscular Contraction and the Reflex Control of Movement,* Baltimore, Williams & Wilkins, 1926

91. Gallagher, B , "Christianity and Color," in Bryson, L., Finkelstein, L , and Maciver, R (eds), *Approaches to Group Understanding,* New York, Harper, 1947

92 Gardner, G , A factor in the sex eduation of children, *Ment Hyg* , 1944, *28,* 55-63

93 Gates, R , *Human Ancestry, Cambridge,* Harv Univ Press, 1948

94. Gesell, A , in *Encyclopedia Britannica,* 14th ed , vol v, p 468.

95 Gilbert, J , Mental efficiency in senescence, *Arch. Psychol* , 1935, No 188

96 Gilbert, J , Senescent efficiency and employability, *J. Appl. Psychol* , 1936, *20,* 266-272

97. Gilbert, J , Memory loss in senescence, *J Abn. & Soc. Psychol* , 1941, *36,* 73-86

98. Gılman, C , *A Vocabulary foı Famıly Use ın the Early Seҳ Educatıon of Chıldıen,* Mınneapolıs, Women's Coop Allıance, Inc , 1931
99 Gıraıd, R., Man's ceıebıum offers lastıng peace, *Scı News Lett.,* 1948, *53,* 184
100. Gıden, E , Role of ıesponse mechanısms ın leaınıng and in "excıted emotıon," *Amer J Psychol ,* 1943, *56,* 1-20
101 Goldsteın, K , Oıganısmıc appıoach to the pıoblem of motıvatıon, *Tıans N Y Acad Scı ,* 1947, 9, 218-230.
102. Gıay, J., and otheıs, *Psychology ın Human Affaıı s,* New Yoık, McGraw-Hıll, 1946
103 Gıınkeı, R , Hypothalmıc functıons ın psychosomatıc ıntoıcoııelatıons, *Psychosom Med ,* 1939, *1,* 19-47.
104. Gıınker, R , and Spıegel, J , *War Neuroses,* Phıladelphıa, Blakıston, 1945
105 Hagman, E , A study of fears of chıldıen of pıe-school age, *J. Exper Educ ,* 1932, *1,* 110-130
106 Hall, G , *Senescence The Last Half of Lıfe,* New Yoık, Appleton-Centuıy, 1922
107 Hallıday, J , *Psychosocıal Medıcıne A Study of a Sıck Socıety,* New Yoık, Noıton, 1948.
108 Hartmann, G , A field expeıııment on the compaıatıve effectıveness of "emotıonal" and "ıatıonal" polıtıcal leaflets ın determınıng electıon results, *J Abn. & Soc Psychol ,* 1936, *31,* 99-114
109. Hartmann, G , and Newcomb, T. (eds), *Industıal Conflıct,* New Yoık, Cordon, 1940
110. Hartshoıne, H , May, A , and Shuttlewoıth, F , *Studıes ın the Organızatıon of Chaıacteı,* New Yoık, Macmıllan, 1930
111. Hattendoıf, K , *Paıent's Answers to Chıldıen's Seҳ Questıons,* Pamphlet No 30, Iowa Cıty, Chıld Welfaıe Reseaıch Statıon
112 Hepneı, H., *Psychology Applıed to Life and Woık,* New Yoık, Prentıce-Hall, 1941
113 Hewıtt, L , and Jenkıns, R , *Fundamental Patteıns of Maladjustment The Dynamıcs of Theıı Oıigın,* Spııngfield, State of Illınoıs, 1946
114 Hılgard, E , and Allen, M , An attempt to condıtıon fingeı ıeactıons based on motoı poınt stımulatıon, *J Gen Psychol ,* 1938, *18,* 203-207
115 Hımwıch, H , "The Physıologıcal Actıon of Alcohol," ın Emeıson, H (ed), *Alcohol and Man,* New Yoık, Macmıllan, 1932.

116. Himwıch, H , The physıology of "shock" therapıes, *Psychıat Quart*, 1944, *18*, 1-17
117 Holler, B , Personalıty Dıfferences Between Instıtutıonalızed and Non-Instıtutıonalızed Adolescents, Honors Project, Denıson Unıversıty, 1946
118. Hoppock, R., N Y. U students grade their professors, *Sch & Soc.*, 1947, *57*, 70-72.
119 Horney, K , *New Ways ın Psychoanalysıs*, New York, Norton, 1939
120 Horney, K , *Our Inner Conflıcts*, New York, Norton, 1945.
121. Hunt, E , and Smıth, P., Vocatıonal guıdance research 10 years' work by the Bırmıngham Educatıonal Commıttee, *Occup Psychol*, London, 1938, *12*, 302-307
122 Hunt, H , Busıness demands more character educatıon, *Pitmanite*, Aprıl, 1937, reported ın Hepner, H , *Psychology Applıed to Life and Work*, New York, Prentıce-Hall, 1941, p. 10.
123 Hunt, J , The effects of ınfant feedıng-frustratıon upon adult hoardıng in the albıno rat, *J Abn & Soc Psychol*, 1941, *36*, 338-360
124. Hunt, J , Scholosberg, H , Solomon, R , and Stellar, E , Studıes of the effects of ınfantıle experıence on adult behavıor ın rats I Effects of ınfantıle feedıng frustratıon on adult hoardıng, *J. Comp Physıol Psychol.*, 1947, *40*, 291-304
125 Huschka, M , Masturbatıon threats, *Psychoan Quart.*, 1938, *7*, 338-356
126. Jacobsen, C , Functıons of frontal assocıatıon areas ın prımates, *Arch Neurol. Psychıat*, 1935, *33*, 558-569.
127 Jacobsen, C , Studıes of cerebral functıons ın prımates, *Comp. Psychol Monog*, 1936, *13*, No 63.
128. Jacobsen, C , Wolfe, J , and Jackson, T , An experımental analysıs of the functıons of the frontal assocıatıon areas ın prımates, *J Nerv & Ment Dıs*, 1935, *82*, 1-14
129 Jacobson, E , *Progressive Relaxatıon*, Chıcago, Unıv Chı Press, 1929
130 James, W , *Talks to Teachers*, New York, Holt, 1900.
131 Jersıld, A , *Chıld Psychology*, New York, Prentıce-Hall, 1933
132 Jersıld, A , "Emotıonal Development," ın Carmıchael, L (ed), *Manual of Chıld Psychology*, New York, Wıley, 1946.
133. Johnson, P , Relıgious psychology and health, *Men Hyg*, 1947, *31*, 556-566

134 Jones, H., "Environmental Influences on Mental Development," in Carmichael, L. (ed), *Manual of Child Psychology,* New York, Wiley, 1946.

135 Jones, H., and Conrad, H., The growth and decline of intelligence A study of a homogeneous group between ages of 10 and 60, *Genet Psychol Monog*, 1933, *13*, 223-298

136 Kapp, F , Rosenbaum, M , and Romano, J , Psychological factors in men with peptic ulcers, *Amer. J Psychiat*, 1947, *103*, 700-704.

137 Kardiner, A , *The Individual and His Society,* New York, Col. Univ Press, 1939, (Linton, R "The Marquesans")

138 Katz, D , *Animals and Men Studies in Comparative Psychology,* New York, Longmans, 1937

139 Katz, W , Psychology and apologetics, *J Pastoral Care,* 1947, *1*, 5-12

140 Kimber, J , Interests and personality traits of Bible Institute students, J *Soc Psychol*, 1947, *26*, 225-233

141 Klein, D , *Mental Hygiene,* New York, Holt, 1944

142 Kleinberg, O , *Negro Intelligence and Selective Migration,* New York, Col Univ Press, 1930

143 Kraines, S , *The Therapy of the Neuroses and Psychoses,* Philadelphia, Lea & Febiger, 1943

144. Kraines, S , and Thetford, E , *Managing Your Mind,* New York, Macmillan, 1944

145 Krasnogorski, N , The conditioned reflexes and children's neuroses, *Amer J Dis Child*, 1925, *30*, 753-768

146 Kroger, R , and Louttit, C , The influence of father's occupation on the vocational choices of high school boys, *J Appl Psychol*, 1935, *19*, 203-212

147 Kuyzser, H , Psychic concomitants in wartime injuries, *Psychosom Med*, 1945, *7*, 15-27

148 Landis, C , Psychotherapy and religion, *J Pastoral Care,* 1947, *1*, 17-27

149 Landis, C , and others, *Sex and Development,* New York, Hoeber, 1940

150 Lathrop, J , "Cultural Bridges in Religion," in Bryson, L , Finkelstein, L , and Maciver, R. (eds), *Approaches to Group Understanding,* New York, Harper, 1947

151 Lawton, G. (ed), *New Goals for Old Age,* New York, Col Univ Press, 1943

152 Lawton, G , *Aging Successfully,* New York, Col. Univ. Press, 1946

153. Laycock, S., *Cheating Your Children,* Toronto, Ryerson, 1947

154 Lehman, H , The creative years in science and literature, *Sci Mon* , 1936, *43,* 151-162.

155. Lehman, H , The creative years Best books, *Sci Mon* , 1937, *45,* 65-75

156 Lehman, H , and Witty, P , Vocational guidance Some basic considerations, *J Educ Sociol* , 1934, *8,* 174-184.

157 Leibman, J , *Peace of Mind,* New York, Simon and Schuster, 1946

158 Leonard, E , Miles, L , and Van der Kar, C , *The Child at Home and at School,* New York, American Book, 1942

159 Lewin, K , *A Dynamic Theory of Personality,* New York, McGraw-Hill, 1935

160 Levy, D , Primary affect hunger, *Amer J Psychiat* , 1937, *94,* 643-652

161 Levy, D , *Maternal Over-protection,* New York, Col Univ Press, 1943

162 Lichtenstein, P , and Small, S , *A Handbook of Psychiatry,* New York, Norton, 1943

163. Lindsey, A., *Problems in Living Together* (Unpublished manuscript)

164. Lindsley, D , "Electroencephalography," in Hunt, J, (ed), *Personality and the Behavior Disorders,* New York, Ronald, 1944, vol ii.

165 Link, H., Wheat and chaff in vocational guidance, *Occup* , October, 1934

166 Linton, R , *The Cultural Background of Personality,* New York, Appleton-Century, 1945

167 *Living Philosophies,* Cleveland, World Publ , 1942.

168 Loomis, A , Harvey, E , and Hobart, G , Electrical potentials of the human brain, *J Exper Psychol* , 1936, *19,* 249-279

169 Loucks, R , The experimental delimitation of neural structures essential for learning The attempt to condition striped muscle responses with faradization of the sigmoid gyri, *J. Psychol* , 1935, *1,* 5-44

170 Louttit, C , *Clinical Psychology,* rev ed., New York, Harper, 1947

171 Lundbeig, F , and Franham, M , *Modern Woman The Lost Sex,* New York, Harper, 1947
172 Lungei, R., and Page, J , Woiries of college fieshmen, *J Genet Psychol*, 1939, *54,* 457-460.
173. Luiia, A , *The Natuie of Human Conflicts,* New Yoik, Liveiight, 1932.
174 Lynd, R , and Lynd, H , *Middletown in Tiansilion. A Study in Cultuial Conflicts,* New Yoik, Harcouit, Biace, 1937
175 Magoun, F , Scholaiship and distinction, *Technol Rev*, 1935, *37,* No. 8, reported in Hepnei, H , *Psychology Applied to Life and Woik,* New Yoik, Pientice-Hall, 1941, p 360
176 Maiei, N , *Studies of Abnormal Behavior in the Rat,* New Yoik, Haipei, 1939.
177 Maiei, N., and Klee, J , Studies of abnoimal behavioi in the iat XVII, Guidance vs tiial and eiroi in the alteination of habits and fixations, *J Psychol.,* 1944, *19,* 113-163
178 Maishall, J , "Rationalization and Abattoiis," in Biyson, L , Finkelstein, L , and Macivei, R (eds), *Appioaches to Gioup Undeistanding,* New Yoik, Haipei, 1947
179 Maitin, J., The blast at Centialia No 5 A mine disastei no one stopped, *Haipei's Magazine,* Maich, 1948, pp 193-220
180 Maslow, A , Self-esteem (dominance-feeling) and sexuality in women, *J Soc Psychol*, 1942, *16,* 259-294
181 Maslow, A., and Mittelmann, B , *Piinciples of Abnoimal Psychology,* New Yoik, Haipei, 1941
182 Masseiman, J , The hypothalamus and psychiatiy, *Amer J Psychiat*, 1942, *98,* 633-637
183 Masseiman, J., *Behavioi and Neuiosis,* Chicago, Univ Chi Piess, 1943
184 McFailand, R , The oldei woikei in industiy, *Haiv Bus Rev*, Summei, 1943, 505-520
185 McKinney, F , Peisonality adjustments of college students as ielated to factois in peisonal histoiy, *J Appl Psychol*, 1939, 23, 660-668
186 Mead, M , *Growing Up in New Guinea,* New York, Moriow, 1930
187. Mead, M , *Sex and Temperament in Three Piimitive Societies,* New Yoik, Moiiow, 1935
188 Menningei, K., *Love and Hate,* New York, Haicouit, Biace, 1944

189. Metfessel, M , Relationships of heredity and environment in behavioi, *J. Psychol*, 1940, *10*, 177-198.

190 Miles, C , and Miles, W., The correlation of intelligence scores and chronological age from early to late maturity, *Amer J Psychol*, 1932, *44*, 44-78

191 Miles, W , "Psychological Aspects of Ageing," in Cowdry, E (ed.), *Problems of Aging*, Baltimore, Williams & Wilkins, 1942

192 Moehlman, C , *The Church as Educator*, New York, Hinds, Hayden & Eldredge, 1947

193. Moffie, D , The validity of self-estimated interests, *J Appl Psychol*, 1942, *26*, 606-613

194 Mowrer, O , Anxiety reduction and learning, *J Exper Psychol*, 1940, *27*, 497-516

195. Muncie, W , *Psychobiology and Psychiatry*, St Louis, Mosby, 1939

196 Munthe, A , *The Story of San Michele*, New York, Dutton, 1930

197 Murphy, G , *Personality A biosocial approach to origins and structures*, New York, Harper, 1947

198 Murphy, G , Murphy, L , and Newcomb, T , *Experimental Social Psychology*, rev ed , New York, Harper, 1937.

199 National Association of Manufacturers, *Your Future Is What You Make It*, 1947.

200. Niebuhr, R , *The Nature and Destiny of Man*, vol. i, New York, Scribner, 1941

201 Neibuhr, R , *The Nature and Destiny of Man*, vol ii, New York, Scribner, 1943

202 Owings, C , A social hygiene research program, *Studies in Parental Sex Education*, Paper I, Minneapolis, Univ. Minn Press, 1931

203 Pace, C , *They Went to College*, Minneapolis, Univ Minn Press, 1941

204 Paterson, D , "The Genesis of Modern Guidance," in *Frontier Thinking in Guidance*, Chicago, Sci Res Assoc., 1945

205. Pavlov, I , *Lectures on Conditioned Reflexes*, New York, Internat Pub , 1928

206 Paynter, R , and Blanchard, P , *Educational Achievement of Children with Personality and Behavior Difficulties*, New York, Commonwealth Fund, 1928

207. Pearl, R , *Man the Animal*, Bloomington, Principia, 1946.

208 Phillips, A, Helpful sex education success in schools here, *Pitts Sun-Telegraph,* January 13, 1947

209 Porteus, A, *Primitive Intelligence and Environment,* New York, Macmillan, 1937

210 Porteus, A, and Peters, N., Maze test validation and psychosurgery, *Genet Psychol Monog*, 1947, *36,* 3-86

211 Proctor, W, A 13-year follow-up of high school students, *Occup*, 1937, *15,* 306-310.

212 Pullias, E, Masturbation as a mental hygiene problem, a study of the beliefs of 75 young men, *J Abn & Soc Psychol*, 1937, *32,* 216-222

213 Radke, M, *The Relation of Parental Authority to Children's Behavior and Attitudes,* Minneapolis, Univ of Minn. Press, 1946.

214. Rank, O, *Will Therapy,* New York, Knopf, 1936

215 Reik, T, *The Psychology of Sex Relations,* New York, Rinehart, 1945

216 Rennie, T., and Woodward, L, *Mental Health in Modern Society,* New York, Commonwealth Fund, 1948

217 Ribble, M, *The Rights of Infants,* New York, Col Univ Press, 1943

218 Rice, S, Contagious bias in the interview, *Amer. J Sociol*, 1929, *35,* 420-423

219. Robinson, G, "The Patient as a Person," in N Y Acad Med Lectures to the Laity, No X, *Modern Attitudes in Psychiatry,* New York, Col Univ Press, 1945

220 Robinson, J, *Mind in the Making,* New York, Harper, 1921

221 Robinson, M, What price lobotomy? *J Abn & Soc Psychol*, 1946, *41,* 421-436.

222 Rogers, C, A study of mental health in three representative elementary schools, *Ohio State Univ Educ Res. Monog.,* 1941, *25,* 130-161.

223. Rogers, C, *Counseling and Psychotherapy,* Boston, Houghton Mifflin, 1942

224 Rogers, C, Some implications of client-centered counseling for college personnel work, Paper read before Amer Coll Personn Assn., Chicago, 1948

225 Sadler, W, *Mental Mischief and Emotional Conflicts,* St. Louis, Mosby, 1947.

226. Sapir, E, What is the family still good for? *Amer. Mercury,* 1930, *19,* 145-151
227 Scheinfeld, A, *Women and Men,* New York, Harcourt, Brace, 1944
228 Schreiber, J, Interdependence of democracy and mental health, *Ment Hyg*, 1945, 29, 606-621
229 Sears, R, Experimental studies of projection, I Attribution of traits, *J Soc. Psychol*, 1936, *6,* 151-163
230. Sears, R, Experimental studies of projection II Ideas of reference, *J Soc Psychol*, 1937, *8,* 289-400
231 Sears, R, Levels of aspiration in academically successful and unsuccessful children, *J Abn & Soc Psychol*, 1940, 35, 498-536
232 Seward, G, *Sex and the Social Order,* New York, McGraw-Hill, 1946
233 Shaffer, L, Fear and courage in aerial combat, *J Consult. Psychol*, 1947, *11,* 137-143
234 Sheldon, W, and Stevens, S, *The Varieties of Human Physique,* New York, Harper, 1940
235 Sheldon, W, and Stevens, S, *The Varieties of Temperament,* New York, Harper, 1942
236 Sherman, M, and Henry, T, *Hollow Folk,* New York, Crowell, 1933
237 Sisson, E, Vocational guidance of college students, *Sch & Soc*, 1937, *46,* 765-768.
238 Slaughter, F, *Medicine for Moderns,* New York, Messner, 1947
239 Sparling, E, Do college students choose vocations wisely? *Teach Coll. Contr Educ*, Columbia Univ, 1933, No 561
240 Steckle, L, The utility of the instructor's rating scale, *J Educ. Psychol*, 1941, *32,* 631-635
241 Steckle, L, Unpublished study
242 Steckle, L, Unpublished study
243 Steckle, L., and O'Kelly, L, Persistence of response as a function of thirst in terms of early experience with electric shock, *J Comp Psychol*, 1941, *32,* 1-9.
244. Stellar, E, Morgan, C, and Yarosh, M, Cortical localization of symbolic processes in the rat, *J Comp Psychol*, 1942, *34,* 107-126.

245 Stone, C, Delay in the awakening of copulatory ability in the male albino rat incurred by defective diets I Quantitative deficiency, *J. Comp Psychol*, 1924, *4*, 195-224

246 Stone, C, Delay in the awakening of copulatory ability in the male albino rat incurred by defective diets II Qualitative deficiency, *J Comp Psychol*, 1925, *5*, 177-201.

247 Strecker, E., *Their Mother's Sons*, Philadelphia, Lippincott, 1946

248. Strong, E, Interests and sales ability, *Personn J*, 1934, *13*, 204-216

249 Strong, E., *Vocational Interests of Men and Women*, Stanford, Stanford Univ Press, 1943.

250 Super, D, Occupational level and job satisfaction, *J Appl Psychol*, 1939, *23*, 549-564.

251 Symonds, P, *The Psychology of Parent Child Relations*, New York, Appleton-Century, 1939

252 Symonds, P, *The Dynamics of Human Adjustment*, New York, Appleton-Century, 1946.

253 Teagarden, F., *Child Psychology for Professional Workers*, rev. ed, New York, Prentice-Hall, 1946

254. Terman, L., *Psychological Factors in Marital Happiness*, New York, McGraw-Hill, 1938.

255 Terman, L, Miles, C, and others, *Sex and Personality Studies in Masculinity and Femininity*, New York, McGraw-Hill, 1936

256 Thorndike, R, A note on the relationship of allergy to neurasthenic traits, *J Gen Psychol.*, 1937, *17*, 153-155

257 Thorpe, L, *Child Psychology and Development*, New York, Ronald, 1946

258 Toynbee, A., *A Study of History* (abridged by D Somervville), New York, Oxford Univ. Press, 1946

259 Toynbee, A, *Christianity and Civilization*, Wallingford, Pendle Hill, 1947

260 Travis, L., and Baruch, F, *Personal Problems of Everyday Life*, New York, Appleton-Century, 1941.

261. U S Dept of Labor, *Dictionary of Occupational Titles*, Parts I-IV, 1939

262 Vaughan, W, Are academic subjects in high school the most desirable preparation for college entrance? *Peabody J Educ*, 1947, *25*, 94-99.

263 Webster, E, A follow-up of vocational guidance, *J Appl Psychol*, 1942, *26*, 285-295

264 Weidenreich, F, *Apes, Giants and Men*, Chicago, Univ Chi Press, 1946

265 Weiss, E, and English, S., *Psychosomatic Medicine*, Philadelphia, Saunders, 1943

266 Wheeler, L., A comparative study of the intelligence of East Tennessee mountain children, *J. Educ Psychol*, 1942, *33*, 321-334

267 White, B, Cobb, S, and Jones, C, Mucous colitis, *Psychosom Med Monog*, 1939, *1*

268 Whitman, H, The biggest taboo, *Collier's*, February 15, 1947, p 24

269 Wieman, H and Wieman, R, *A Normative Psychology of Religion*, New York, Crowell, 1935

270 Wieman, H, and others, *Religious Liberals Reply*, Boston, Beacon, 1947

271 Wolf, H, Emotions and gastric functions, *Science*, 1943, *98*, 481-484

272 Wylie, P, *Generation of Vipers*, New York, Rinehart, 1942

273 Yacorzynski, G, and Davis, L, An experimental study of the functions of the frontal lobes in man, *Psychosom Med*, 1945, *7*, 97-107

274 Young, K, *Personality and Problems of Adjustment*, New York, Crofts, 1940

INDEX